प्रकाशक
श्री देवराज सुराना
प्रेसिडेन्ट
श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक
समिति रतलाम

मूल्य ४)

मुद्रक
श्री पं. मोहनलाल उपाध्याय 'निर्मोही'
साहित्यरत्न संपादनकला विशारद
श्री जैनोदय प्रिंटिंग प्रेस रतलाम

समर्पण

जिनकी मधुर वाणी सदैव श्रवणों में गूंजती रहती है,
संसार के समस्त प्राणियों की मङ्गलकामना
जिनका शुभ ध्येय है,
अहिंसा जिनका मूल मन्त्र है, उन्हीं
विश्वबन्धुत्व के उपासक जगद्वल्लभ
१००८
जैन दिवाकर मुनि श्रीचौथमलजी
महाराज की भगवती दीक्षा
के ५१ वें वर्षारम्भ के अवसर
पर उनके पावन करकमलों
में सादर समर्पित

अनुक्रमणिका

(i) प्रकाशकीय (ii) भूमिका, (iii) अनुक्रमणिका

तत्त्व–विभाग

(२) समाज विभाग

(३) जीवन-चरित्र विभाग

(४) पद्य-मद्य एवं शुभ मंदेश

— प्रकाशक की ओर से —

जैनोदय पुस्तक प्रकाशन समिति की स्थापना हुए आज २१ वर्ष हो गये। अपने जन्मकाल से लेकर अबतक समिति ने अनेक ग्रंथ प्रकाशित किये हैं जिनमें छोटे-छोटे ट्रैक्टों से लेकर मोटे-मोटे ग्रन्थ तक शामिल हैं। विभिन्न योग्यता श्रेणी और वर्ग के पाठकों ने उनसे कितना लाभ उठाया है और जैन-जैनेतर जनता ने तथा विद्वानों और समालोचकों ने उनकी किस प्रकार मुक्त कंठ से प्रशंसा की है यह सब बतलाने का यह स्थान नहीं है। यहाँ हम सिर्फ इतना ही कह देना पर्याप्त समझते हैं कि समिति एकमात्र निर्ग्रन्थ-प्रवचन जैसे अद्वितीय संग्रह के प्रकाशन से ही अपने उद्देश्य में सफल हो सकी है। लेकिन आज जो ग्रंथरत्न हम पाठकों के हाथों में समर्पित कर रहे हैं उसका स्थान स्थानकवासी समाज के साहित्य में क्या होगा यह स्वयं पाठक ही निर्णय करेंगे। वास्तव में समिति का यह प्रयास एकदम नवीन है। अभी तक इस शैली का कोई ग्रंथ प्रकाशित हुआ हो यह हमारे देखने में नहीं आया। इस ग्रंथ का बाह्य और आन्तरिक रूप सुन्दर बनाने में हमें कितनी सफलता मिल सकी है यह पाठकों के सामने ही है।

जिन देवता को निमित्त करके विशुद्ध भक्ति का यह 'अर्घ्य' प्रस्तुत किया गया है उनके विषय में यहाँ कुछ न कहना ही उचित होगा। उनका व्यक्तित्व विराट है समाज पर उनका उपकार व्यापक और विशाल है उनकी संयम तपोमयी चिर-जीवन साधना गूढ़ है। इन्हें कुछ पंक्तियों में बद्ध कर देना सम्भव नहीं है। इन सब चीजों पर प्रकाश डालने वाला साहित्य कुछ तो इसी ग्रन्थ में अलग प्रस्तुत किया गया है और विशेष जिज्ञासा रखने वालों के लिए 'आदर्श मुनि' और 'आदर्श उपकार' आदि ग्रंथ इसी समिति की ओर से प्रकाशित हो चुके हैं। यहां सिर्फ इतना ही कहना है कि जैन दिवाकर प्रसिद्धवक्ता जगद्वल्लभ प० मुनि श्री चौथमलजी महाराज के असीम उपकारों को जो उन्होंने अपने प्रभावशाली उपदेशों द्वारा और मुमुक्षु संतों के अनुरूप अनुकरणीय संयमाराधना का आदर्श उपस्थित करके समाज के प्रति किये हैं हम अत्यन्त विनम्रभाव से स्वीकार करते हैं। उन उपकारों के आगे श्रद्धा भक्ति के द्योतक इस ग्रंथ का मूल्य नगण्य है। यह तो सिर्फ विनम्र कृतज्ञता प्रकाशित करने का एक क्षुद्र प्रयास मात्र है।

हमारी बड़ी आकांक्षा थी कि ग्रंथ को ऐसा रूप दिया जाय जो जैन सिद्धान्त के सभी प्रमुख मन्तव्यों पर प्रकाश डाले। इसके लिए हमने भरसक प्रयास किया। फिर भी विद्वत्समाज का ध्यान हम पूर्ण रूप से अपनी ओर आकर्षित न कर सके। फिर भी जिन विद्वानों ने अपना कीमती समय और शक्ति लगाकर ग्रंथ को उपयोगी बनाने में योग दिया है हम उनके अतीव आभारी हैं। इस ग्रंथ में विभिन्न जैन सम्प्रदायों के विद्वानों और कतिपय जैनेतर विद्वानों की रचनाएं सब

लित हैं। अपनी-अपनी रचनाओं में लेखकों ने अपने स्वतन्त्र विचार प्रकट किए हैं। अतएव यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि प्रत्येक लेखक अपने विचारों के लिए स्वयं उत्तरदायी है। सम्पादक या प्रकाशक सभी विचारों से सहमत ही हैं ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है।

ग्रंथ की छपाई को यथा संभव सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है। फिर भी कहीं-कहीं प्रूफ-संशोधन संबंधी खटकने वाली भूलें रह गई हैं। लेकिन वह भूलें न अर्थ विपर्यय पैदा करती हैं और न अर्थभ्रम ही। अतएव अशुद्धि पत्र देने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

कल्पना से बाहर की इस मँहगाई के युग में भी इतने बड़े ग्रंथ का जो मूल्य रखा गया है वह अधिक प्रतीत न होगा।

अन्त में हम इस ग्रंथ के लेखकों तथा अन्य सहायक महानुभावों के प्रति फिर आभार प्रदर्शित करते हैं। साथ ही आशा रखते हैं कि हमारे सहयोगी बन्धु भविष्य में भी इसी प्रकार सहयोग देते रहेंगे जिससे समिति अधिक कायक्षम बने और उपयोगी साहित्य प्रकाशित करके समाज के श्रेय में उचित भाग ले सके।

निवेदक

देवराज सुराणा
प्रेसिडेन्ट

छगनलाल दुगड़
मन्त्री

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति, रतलाम (मालवा)

— भूमिका —

आर्यावर्त की युगयुगान्तरों से चली आने वाली गरिमा की सबसे बड़ी विशेषता ज्ञान के क्षेत्र में रही है। समय समय पर पैदा होकर अनेक मनस्वियों ने इस परम्परा का पूरी तरह से निर्वाह किया है। यह धारा केवल साधारण मानव के गृह से ही नहीं बही है वरन् कई राजप्रासादों से भी टकराई है। जिनके मस्तक पर राजमुकुट सुशोभित थे जो महलों की सुन्दरियों के दृगकोरों के परकोटे में आबद्ध थे वे भी इस संसार की नश्वरता से मुंह मोड़ जीवन के महान् सत्य की खोज में अग्रसर होते दिखाई दिये हैं। यह धारा अबाध थी तथा आर्यदेश की परम्परा के अनुरूप थी।

भगवान ऋषभदेव द्वारा संस्थापित जैनधर्म की गरिमा को भगवान् महावीर ने संवर्द्धना प्रदान की। जैनधर्म के अहिंसा सिद्धान्त के लिए भगवान् महावीर की शिष्य परंपरा ने पाद परिभ्रमण द्वारा देश में इस धर्म के प्रचार तथा प्रसार की विशाल चेष्टा की थी। एक समय वह था जब समस्त भारतवर्ष के मस्तक पर चढ़कर जैन धर्म बोलता था प्रत्येक भारतवासी के हृदय में श्रवणों में दर्शन ज्ञान और चारित्र्य के शांतिमय उपदेश विहार करते थे।

जैन दर्शन का मुख्य आधार अनेकान्तवाद तथा अहिंसा पर अवलम्बित है। अनेकान्तवाद के द्वारा जैनधर्म ने समस्त जगत् के धर्मों के ऐक्य का विराट् प्रयत्न किया है तथा अहिंसा के द्वारा समस्त भूमि के कल्याण की मंगल कामना की है। अनुयायी अल्पसंख्यक होने पर भी जैनधर्म का प्रभाव आज भी प्रत्येक भारतीय धर्म के भीतर स्पष्ट दिखाई देता है। प्राचीन भारत का इतिहास मानव संस्कृति के विकास का इतिहास है। जिनेश्वर देव के विविध कल्याणसूचक सर्वज्ञ जगत्प्रभु त्रिकालवित् क्षीणकर्मा तीर्थंकर केवली अर्हत् एवं जिन नामों से ही इस धर्म की गरिमा पर विस्तृत प्रकाश पड़ता है। कई पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस धर्म की महानता को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। जैन धर्म का स्याद्वाद् सिद्धान्त अपने ढंग का बेजोड़ सिद्धान्त है।

आज के युग में जब कि भारत ने गुलामी के पाशों को छिन्न भिन्न कर मुक्ति की सांस ली है इसी धर्म के विश्व-विश्रुत सिद्धान्त अहिंसा के बल पर ही राष्ट्र निर्माण और विश्व व्यवस्था की स्थापना में सफलता की प्राप्ति सम्भव है युग पुरुष गांधी ने पराधीन भारत को अहिंसा मय के द्वारा ही स्वाधीनता का द्वार दिखाया है।

भगवान महावीर के आदर्श सिद्धान्तों का प्रचार करने अपने उपदेश से भव जीवों को मुक्ति का मार्ग दिखाने का उत्तम विभूति ने अथक प्रयत्न किया है जिसने अपने ऐहिक सुखों का सद्भाव में छोड़कर लोक कल्याण का मार्ग अपनाया ऐसी महात्मा के विषय में जितना भी लिखा जाय थोड़ा है। आज संसार

ऐसे विरले ही नररत्न हैं जिनके समक्ष लोक कल्याण का मंगलमय उद्देश्य हो तथा जिनका लक्ष्य सृष्टि के छोटे से छोटे जीवों की रक्षा के साथ ही बड़े से बड़े प्राणी की मंगलकामना हो। संसार की चिन्ता भी वही कर सकता है जिसे निज की कोई चिन्ता न हो जिसने अपने व्यक्तित्व को समष्टि की सेवा में लीन कर लिया हो। जिसके समक्ष सोते जागते उठते बैठते यही समस्या घूमती रहती हो कि समस्त संसार का कल्याण हो किसी को भी दुख क्षुधा आदि सांसारिक संकट आकर अपने चंगुलों में न बांधलें।

आज भारतीय स्वाधीनता के प्रथम प्रभात में जिस भयंकर रक्त-पात नृशंसता लूटमार चोरी बर्बरता आदि का प्राचुर्य हमें दिखाई दे रहा है यह भारतीयता के लिए वास्तव में कलंक की बात है। भारत तो सदैव दूसरे राष्ट्रों के लिए आशा श्रद्धा और विश्वास का प्रतीक रहा है। आज के निराशात्मक घनान्धकार में केवल एक प्रकाश की किरण दिखाई देती है वह है राष्ट्रपिता गांधी और श्री जैन दिवाकरजी जैसे महात्माओं के उपदेशों की शान्तिमयी विचार धारा। आज का भयाकुल मानव समस्त मानव पर्यटमानव यदि इन महात्माओं द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अवलम्बन करे तो सचमुच भारत का ही नहीं वरन भारत के द्वारा समस्त विश्व का कल्याण कर सकता है।

द्वितीय महायुद्ध का विकट दैत्य अभी भी कराह रहा है। आज की कूटनीति फिर उसे उभाड़कर तीसरे महायुद्ध के लिए प्रेरित कर रही है। ऐसी परिस्थिति में भगवान महावीर द्वारा प्रसारित भगवती अहिंसा ही एक ऐसा अमोघ मंत्र है जो जीवन के समग्र व्यापारों में विश्व-शरीर के समस्त रोगों का उपचार कर सकता है।

यह ग्रंथ विश्व कल्याण के उपासक उन महात्मा के प्रति एक श्रद्धाञ्जलि है जिन्होंने सत्य अहिंसा अस्तेय तथा ब्रह्मचर्य के द्वारा अपना जीवन 'वसुधैव कुटुम्बकं' की साधना में निहित कर दिया है।

महात्मा जन्म जात होते हैं बनाए नहीं जाते यह उक्ति श्री जैन दिवाकरजी के चरित्र के साथ कई अर्थों में चरितार्थ होती है। एक साधारण परिवार में जन्म लेकर बुद्धिमत्ता तथा मेधा से अल्पायु ही में बहुज्ञान प्राप्त कर सांसारिक बाधाओं की परवाह न कर अपनी आदर्श माता के उपदेशों के अनुरूप ही मुनिवृत्ति धारण की। अपनी ५० वर्ष की दृढ़ साधना एवं बहुमुखी प्रतिभा के द्वारा श्री जैन दिवाकरजी महाराज ने अस्वाद अपरिग्रह शरीरश्रम निर्भयता अस्पृश्यता निवारण द्वारा साधारण मानव ही नहीं वरन अनेकों नरेशों को उपदेश देकर भगवती अहिंसा तथा जैन धर्म के आदर्श सिद्धांतों के द्वारा भारतीय भक्तिमार्ग की युगानुकूल बहती जाने वाली मन्दाकिनी के स्रोत से देश के लाखों उद्बुद्ध नर नारियों का प्रती संयम विराम की प्रबल प्रेरणा प्रदान की है। आपके शिष्य समुदाय में कई विचारक दार्शनिक राजनीतिज्ञ महन्त सन्त समाज सुधारक लोक सेवक आदि सम्मिलित हैं।

जनता के हृदय प्रदेश में जैन दिवाकरजी के प्रति श्रद्धा का भी एक बहुत बड़ा कारण है और वह है उनकी समष्टि के कल्याण चिन्तन के प्रति तादात्म्य भावना। आज दिवाकरजी की उपासना सचमुच उनके महान् व्यक्तित्व को विश्व पुरुष की कोटि तक ले आकर प्रतिष्ठित कर चुकी है। अपने जीवन के पिछले पचास वर्ष जिस साधना में उन्होंने व्यतीत किये हैं उसमें जड़ता कटुता स्वार्थपरता अहमन्यता आदि को किंचित मात्र भी स्थान नहीं पाने दिया। जिन्होंने एक बार भी उनका उपदेश श्रवण किया वह उनका भक्त बन गया।

दिवाकरजी की वाणी का जादू सचमुच आज के समाज के मस्तक पर चढ़ कर बोलता है। जब वे अपने उपदेशों द्वारा मानवात्मा के हृदय प्रदेश की ग्रंथि टटोलते हैं तब सचमुच श्रोता मंत्र मुग्ध हो आत्मविभोर हो जाता है। निषाद के तीर ने क्रौंच का वध करके विश्व कवि वाल्मीकि के हृदय में जो करुणा की धारा बहाई उसे पाकर रामचरित गाथा सचमुच विश्व काव्य की अमर देन बन बैठी है। यह करुणा की धारा आज भी कवि कण्ठों में विहार कर लोक कल्याण के मार्ग को सतत् आलोकित करता आयी है। युग के अनुरूप परिस्थिति के अनुसार पैदा होने वाले संतों ने इस काव्य धारा का आश्रय लेकर जनता का विविध प्रकार से कल्याण ही किया है। भक्ति मार्ग की धारा के निर्गुण उपासक कई कवियों के बोल भटपटे हैं कविता भटपटी है परन्तु वह जादू की तरह श्रोताओं के हृदय में असर पैदाकर देती है। श्री दिवाकरजी की कविता समझने में सुबोध एवं ज्ञान के विपुल प्रकाश की उद्भावना करने वाली है। आज जैनधर्म की चिर्रप्रचलित परंपराओं को जैन दिवाकरजी जैसे मनीषी ही अपने गुरुज्ञान के आलोक से स्थिर किये हुए हैं समस्त स्थानकवासी समाज में भी जैन दिवाकरजी आदर्श मुनि के रूप में माने जाते हैं।

स्वर्ण जयन्ती महोत्सव चित्तौड़ के अवसर पर जिसने उस एकत्रित विशाल जन समुदाय का देखा होगा वह सचमुच आत्म-विभोर हो गया होगा। स्थानकवासी समाज के इतिहास में चित्तौड़ का आदर्श उत्सव एक अभूतपूर्व घटना है। उस समय एकत्रित हुए हजारों नरनारियों के मुख मंडल पर खेलने वाले दीप्ति मय भावों ने ही यह प्रकट हो जाता था कि जिस महात्मा के अभिनन्दन में इस उत्सव का आयोजन किया गया था उसके प्रति उनके हृदय में कितनी भक्ति है। इस अवसर पर किये गए प्रत्येक आयोजन में अभूतपूर्व सफलता मिली। इस प्रकार जन समुदाय ने जिस उमंग एवं श्रद्धा का प्रदर्शन किया वह भी श्री जैनदिवाकरजी की गरिमा का ही प्रमाण था।

इसी अपूर्व अवसर पर इस ग्रंथ को श्री जैनदिवाकरजी के कर कमलों में अर्पण करने का भी आयोजन किया गया था। कई कठिनाइयों से यह ग्रंथ उक्त अवधि तक संपूर्ण न हो सका था अतः मूल पांडुलिपि ही उनकी सेवामें अर्पित की गई थी। कई कठिनाइयों की सीढ़ियों को पार करता हुआ आज यह ग्रंथ रत्न

आप लोगों के हाथों में पहुँच रहा है। ग्रंथ में जहाँ तक हो सका विषयान्तर नहीं आने दिया गया है तथा तारतम्य की रक्षा की गई है। साहित्य समाज दर्शन जीवन पथप्रदर्शक एवं संदेशादि विभागों में इस ग्रंथ के लेखों को विभक्त किया गया है।

इस ग्रंथ के लेखों के सम्बन्ध में मैं लेखक महानुभावों का हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने अपने बहुमूल्य लेख अल्प समय में ही हमें भेज देने की कृपा की है। यह सब उन कृपालु लेखक महानुभावों की सद्भावना का ही फल है कि ग्रंथ आज इस रूप में श्री जैन दिवाकरजी के भक्तों एवं जैन संस्कृति तथा इतिहास के प्रेमियों के समक्ष पहुँच रहा है।

इस अवसर पर मैं श्री जैन दिवाकरजी के सुशिष्य परम आदरणीय उपाध्याय साहित्यरत्न पं० मुनि श्री प्यारचंदजी महाराज को नहीं भूल सकता जिन्होंने ग्रंथ तैयार करने सम्बन्धी मेरे प्रस्ताव को क्रियात्मक रूप देने में अपनी योग्यता बुद्धिमत्ता एवं अगाध पांडित्य का पूरा पूरा परिचय दिया। उपाध्यायजी श्री प्यारचंदजी महाराज स्वयं अनेक गूढ़ ग्रंथों के प्रणेता हैं एवं दिवाकरजी के अन्यतम शिष्यों में से हैं। अपने गुरु के यशः सौरभ से दिग्दिगन्त को उद्भासित करना आपका प्रथम लक्ष्य रहता है। यह ग्रंथ रत्न ही उनकी प्रेरणा सूझ जागृत बुद्धि एवं सतत् कार्यशील व्यक्तित्व का परिचायक है। इसकी सफलता का श्रेय सचमुच उपाध्यायजी महाराज ही को है।

अंत में मैं अपने सभी सहयोगियों विद्वानों एवं लेखकों को धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने मुझे समय समय पर अपनी बहुमूल्य सम्मतियों से लाभान्वित कर इस गुरुतर कार्य को सम्पूर्ण करदेने में सहयोग प्रदान किया है।

जिस महापुरुष के कर कमलों में यह ग्रंथ-रत्न अर्पित किया गया है उनका व्यक्तित्व विशाल पांडित्य गहन एवं प्रतिभा ओजस्विनी है। ऐसे महापुरुष कृष्ण की गीता के वाक्य 'यदा यदा हि धर्मस्य' के अनुरूप ही जन्म लेकर लोक कल्याण करते हैं। आज के संत्रस्त मानव एवं पीड़ित मानवता का कल्याण ही इसमें है कि ऐसे युग पुरुषों द्वारा प्रसारित सदुपदेशों के मार्ग का अवलम्बन करें तथा उनके संदेशों से समस्त संसार में शांति एवं कल्याण की भावना का प्रचार करें। आजका भयाकुल परवश संत्रस्त संसार स्वतंत्र एवं सुखी हो।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःख माप्नुयात् ॥

मुनि स्तुति

अथ निर्णीततत्त्वार्था धन्याः संविग्नमानसाः ।
कीर्त्यन्ते यमिनो जन्मसंभूतसुखनिःस्पृहाः ॥ १ ॥
भवभ्रमणनिर्विण्णा भावशुद्धिं समाश्रिताः ।
सन्ति केचिच्च भूपृष्ठे योगिनः पुण्यचेष्टिताः ॥ २ ॥
विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
यस्य चित्तं स्थिरीभूतं स हि ध्याता प्रशस्यते ॥ ३
अत्यक्षमधुरा धीरैर्नहि प्राणात्ययेऽपि यैः ।
त्यक्ता महत्त्वमालम्ब्य ते हि ध्यानधनेश्वराः ॥ ४ ॥
परीषहमहाव्यालग्रामैर्येषां कण्टकैरिव ।
मनागपि मनो येषां न स्वरूपात्परिच्युतम् ॥ ५ ॥
क्रोधादिभीमभोगीन्द्रै रागादिरजनीचरैः ।
अजय्यैरपि विध्वस्तं न येषां यमजीवितम् ॥ ६ ॥
मनः प्रीणयितुं येषां क्षमास्ता दिव्ययोषितः ।
मैत्र्यादयः सतां सेव्या ब्रह्मचर्येऽप्यनिन्दिते ॥ ७ ॥
तपस्तरलतीव्राग्निप्रचये पातितः स्मरः ।
यै रागरिपुभिः सार्धं पतङ्गप्रतिमीकृतः ॥ ८ ॥
निःसङ्गत्वं समासाद्य ज्ञानराज्यं समीप्सितम् ।
जगत्त्रयचमत्कारि चित्रभूतं विचेष्टितम् ॥ ९ ॥
प्रत्युग्रतपसाऽऽत्मानं पीड्यन्तोऽपि निर्दयम् ।
जगद्विध्यापयन्त्युच्चैर्ये मोहदहनज्वलम् ॥ १० ॥
स्वभावजनिरातङ्कनिर्भरानन्दनन्दिताः ।
तृष्णार्चिःशान्तये धन्या येऽकालजलदोद्गमाः ॥ ११ ॥
अपास्तसंगसंन्यासवशाच्छिन्नमनोद्भवाः ।
विषयोद्दाममातङ्गघटासंघट्टघातकाः ॥ १२ ॥
वाक्पथातीतमाहात्म्या विश्वविद्याविशारदाः ।
शरीराहारसंसारकामभोगेषु निःस्पृहाः ॥ १३ ॥
विशुद्धबोधपीयूषपानपुण्यीकृताशयाः ।
स्थिरेतरजगज्जन्तुकरुणावारिवार्धयः ॥ १४ ॥
स्वर्णाचल इवाकम्प्या ज्योतिःपथ इवामलाः ।
समीर इव निःसंगा निर्ममत्वं समाश्रिताः ॥ १५ ॥
हितोपदेशपर्जन्यैर्भव्यसारङ्गतर्पकाः ।
निरपेक्षाः शरीरेऽपि सापेक्षाः सिद्धिसंगमे ॥ १६ ॥
इत्यादिपरमोदारपुण्याचरणलक्षिताः ।
ध्यानसिद्धेः समाख्याताः पात्रं मुनिमहेश्वराः ॥ १७ ॥

ज्ञानार्णव

स्याद्वाद

लेखक—प्रसिद्धवक्ता पं० श्री सौभाग्यमलजी महाराज

जैन धर्म ने विश्व को स्याद्वाद का अनमोल उपहार समर्पित किया है। स्याद्वाद के सुसंगत सिद्धान्त के द्वारा विविधता में एकता और एकता में विविधता का दर्शन कराकर जैन-धर्म ने विश्व की महान् सेवा की है। स्याद्वाद जैन धर्म का मौलिक सिद्धान्त है और अपने इस वैज्ञानिक सत्य सिद्धान्त के कारण जैन धर्म विश्वधर्म होने के साथ ही साथ वैज्ञानिक धर्म भी है।

आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि पदार्थ में ऐसे गुण हैं जिनका मानव जगत को पूरा ज्ञान नहीं है। हम पदार्थों का जिस रूप में देखते हैं वही उनका पूरा स्वरूप नहीं होता परन्तु उनमें अनेकों अप्रकट गुण-शक्तियाँ विद्यमान हैं। विज्ञान का कार्यक्षेत्र इन वस्तु-धर्मों का अन्वेषण करना है। वर्तमान महायुद्ध में भयङ्कर क्रान्ति मचा देने वाला परमाणु-बम इसका उदाहरण है। दुनिया में पदार्थ उतने के उतने हैं लेकिन विज्ञान के अन्वेषण और आविष्कार के कारण उन पदार्थों के अन्दर रहे हुए अनेक गुणों का विश्व को भान होरहा है। इस महा-युद्ध के पूर्णाहुति काल के पहिले अणु-बम एक अज्ञात तत्त्व था वह आज प्रकट हुआ।

है। इससे यह सिद्ध होता है कि वस्तुमात्र में अनन्त धर्म रहे हुए हैं। हम जो वस्तु का स्वरूप जानते हैं वही उसका पूर्ण स्वरूप नहीं है। उसके अतिरिक्त भी वस्तु में अनेक धर्म पाये जाते हैं। विज्ञान का यह सिद्धान्त और जैन दर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त समान है इससे यह प्रमाणित होता है कि स्याद्वाद एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है।

स्याद्वाद की आधार शिला पर खड़ा हुआ जैन धर्म यह कहता है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक है। छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी वस्तु (दीप से लगाकर आकाश तक की प्रत्येक वस्तु) में अनन्त धर्म रहे हुए हैं। वस्तु के अनन्त धर्मों का विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं से जब तक अवलोकन न किया जाय तबतक वस्तु का सत्य स्वरूप नहीं समझा जा सकता है। विभिन्न दृष्टिकोणों से वस्तु का अवलोकन करना ही स्याद्वाद है। तात्पर्य यह है कि एक ही पदार्थ में में भिन्न २ वास्तविक धर्मों को सापेक्षतया स्वीकार करने का नाम स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद है। यथा–एक ही पुरुष अपने भिन्न२ संबधीजनों की अपेक्षा से पिता पुत्र और भ्राता आदि संज्ञाओं से संबोधित किया जाता है इसी प्रकार अपेक्षा भेद से एक ही वस्तु में अनेक धर्मों की सत्ता प्रमाणित होती है। इन अपेक्षा भेद की उपेक्षा अथवा अवहेलना करने से वस्तु का स्वरूप अपूर्ण ही रह जाता है। वस्तु के किसी एक ही धर्म को लेकर उसका निरूपण किया जाय और उसे ही सर्वांश सत्य समझा जाय तो यह विचार भ्रान्त ही ठहरेगा। उदाहरणार्थ किसी एक पुरुष-व्यक्ति को लीजिए। उसे कोई पिता कोई पुत्र, कोई मामा और कोई भाई कह कर पुकारता है। एक पुरुष की इन भिन्न भिन्न संज्ञाओं से प्रतीत होता है कि उसमें पितृत्व पुत्रत्व पितृव्यत्व मातुलत्व और भ्रातृत्व आदि अनेक धर्मों की सत्ता मौजूद है। अब यदि उसमें रहे हुए केवल पितृत्व धर्म को ही आगे दृष्टि रख कर उसे सर्वथा पिता ही मान बैठे तो बड़ा अनर्थ होगा। यह हरएक का पिता ही सिद्ध होगा। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। वह पिता भी है और पुत्र भी। अपने पुत्र की अपेक्षा वह पिता है और अपने पिता की अपेक्षा वह पुत्र कहलायगा। इस तरह भिन्न २ अपेक्षाओं से इन सभी संज्ञाओं का उसमें निर्देश किया जा सकता है। जैसे एक ही व्यक्ति में पितृत्व पुत्रत्व आदि विरोधी धर्मों का पाया जाना अनुभव सिद्ध है उसी तरह हर एक पदार्थ में अपेक्षा-भेद से अनेक विरोधी धर्मों की सत्ता प्रमाण सिद्ध है। अनन्त धर्मात्मक वस्तु का स्वरूप एक समय में एक ही शब्द द्वारा सम्पूर्णतया नहीं कहा जा सकता है। इसी तरह वस्तु में रहने वाले अनन्त धर्मों में से किसी भी धर्म का अपलाप भी नहीं किया जा सकता है। अतः केवल एक ही दृष्टि बिन्दुसे पदार्थ का अवलोकन न करते हुए भिन्नभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से ही उसका पर्यालोचन करना न्यायसंगत और वस्तु स्वरूप के अनुरूप है। यही स्याद्वाद का आशय है।

स्याद्वाद के इस अनुपम तत्त्व को नहीं समझने के कारण विश्व में विविध धर्मों, दर्शनों मतों पन्थों और सम्प्रदायों में विवाद खड़े होते हैं। एक धर्म के अनुयायी दूसरे धर्म को असत्य मिथ्या बतलाते हैं। वे अपने ही माने हुए धर्म या मतको सम्पूर्ण सत्य मानकर दूसरे धर्मों का निषेध करते हैं। इस तरह संसार में धर्म के नामपर विवाद उपस्थित होते हैं। इसका कारण केवल एकान्तवाद ही है। एकान्तवाद वास्तविकता से बहुत दूर होने के साथ ही अपूर्ण होता है। इतना ही नहीं, यह अपूर्णता में पूर्णता का मिथ्या आरोप करता है। इस बातको सरलता से हृदयंगम कराने के लिये एक दृष्टान्त उपयोगी है वह यह है—

कुछ जन्म के अन्धों ने हाथी का नाम सुना। पर हाथी कैसा होता है इस बातका उन्हें भान नहीं था। किसी व्यक्ति ने उनके सामने हाथी लाकर खड़ा कर दिया। वे लोग हाथी के अलग अलग अवयव छूने लगे। कोई हाथी के पांव के हाथ लगाता है कोई सूंड पकड़ता है कोई कान छूता है कोई पेट टटोलता है, कोई पूंछ पकड़ता है। इस प्रकार अपने अपने हाथमें आये हुए हाथी के अवयव को वे हाथी समझने लगे। जिसने हाथी के पैर पकड़े थे वह कहने लगा कि हाथी स्तम्भ के समान होता है सूंड पकड़ने वाला बोला कि हाथी मूसल के समान होता है। कान टटोलने वाला कहता है कि हाथी सूप के समान होता है। पेट पर हाथ फेरने वाला बोला कि हाथी कोठी के समान होता है। इसीतरह पूंछ पकड़ने वाला बोला कि हाथी रस्से के समान होता है। इस प्रकार वे सभी अन्धे अपनी अपनी बात को पूर्ण सत्य समझकर परस्पर विवाद करने लगे और एक दूसरे को मिथ्या बतलाने लगे। ठीक यही हाल एकान्तवादी दर्शनों धर्मों और मतों का है। उक्त जन्मान्धों का कथन एक एक अंश में सत्य अवश्य है पर जब वे अपनी ही धुन में एक दूसरे की बात काटने लगते हैं तब उन सबका कथन असत्य हो जाता है। हाथी को भली भांति जानने वाला सूझता आदमी जानता है कि उन्होंने सत्य के एक एक अंश को ही ग्रहण किया है और शेष अंशोंका अपलाप कर दिया है। अगर वे लोग अपनी बातको ठीक समझते हुए अन्य को भी यथार्थ समझें तो इन्हें मिथ्या का शिकार न होना पड़े। अगर सभी अन्धे अपनी २ एकदेशीय कल्पना का एकत्र करके हाथी का स्वरूप समझें तो उन्हें हाथी की सर्वांग सम्पूर्ण आकृति का ज्ञान होसकता है। परन्तु अज्ञान और कदाग्रह के कारण वे एक दूसरे को मिथ्या कहकर स्वयं भ्रम के पात्र बन रहे हैं। ठीक इसी तरह विश्व में प्रचलित धर्मों के विषय में समझना चाहिए। सत्य सदा एक है अखण्ड है और व्यापक है। उसके सम्बन्धमें किसी तरह के विवाद को अवकाश नहीं है। तथापि धर्म के नाम पर विविध मान्यताएं प्रचलित हैं और विश्व में धार्मिक विवाद का एक बड़ा भारी प्रश्न उपस्थित है। इस धार्मिक विवाद का कारण केवल कदाग्रह है। संसार के विभिन्न पंथ और सम्प्रदाय सम्पूर्ण सत्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं लेकिन ज्ञानकी अपूर्णता के कारण वे वस्तु के एक अंश को ही प्राप्त कर सकते हैं। सत्य के एक

अंश को ही सम्पूर्ण सत्य मान लेने से झगड़े होते हैं सभी धर्मवाले अपनी २ धुन में मस्त होकर दूसरे को झूठा ठहराते हैं। इस कारण वे स्वयं झूठे ठहरते हैं। सब एकत्रित होकर न्याय बुद्धि से पक्षपात छोड़कर धर्म का निर्णय करें तो धर्म का सच्चा स्वरूप मालूम हो सकता है।

जैन दर्शन का स्याद्वाद विश्व के समस्त धर्मों, सम्प्रदायों, मतों और दर्शनों का समन्वय कर देता है। वह विश्व को यह शिक्षा देता है कि जगत् के सभी धर्म और दर्शन किसी अपेक्षा से सत्य के ही अंश हैं। परन्तु जब एक अंश दूसरे अंश से न मिलकर उनका तिरस्कार करता है तब वह विकृत हो जाता है और सत्य मिटकर सत्याभास हो जाता है। जब ऐसी स्थिति हो जाती है तब वह मान्यता उस मत के अनुयायियों के लिए नाव मिटकर पत्थर रूप हो जाती है। यह एकान्तवाद की स्थिति संसार के महासागर में डुबा देने वाली हो जाती है। परन्तु जो मत पंथ या दर्शन दूसरे सत्य के अंशों को पचाने की क्षमता रखता है वह उदार और संगठित बनकर पूर्ण सत्य के मार्ग पर प्रगति करता है। स्याद्वाद यह सिखलाता है कि तुम वस्तु को विभिन्न दृष्टि कोणों से देखो। तुम अपने दृष्टि कोण को सत्य समझो लेकिन जो दृष्टि कोण तुम्हें अपना विरोधी प्रतीत होता है उसकी सत्यता को भी समझने की कोशिश करो। उसे मिथ्या कहकर यदि अस्वीकार करोगे तो तुम स्वयं मिथ्यावादी हो जाओगे। सम्पूर्ण वस्तु तत्त्व का अवलोकन करने के लिए सापेक्ष दृष्टि होनी चाहिये। सापेक्ष दृष्टि का तात्पर्य है कि जो वस्तु एक दृष्टि से जिस रूप में प्रतीत हुई हो उसे ही पूर्ण न मानकर दूसरे दृष्टि कोणों के लिये भी उसमें अवकाश होना चाहिये। इसी सापेक्षवाद का पारिभाषिक शब्द में 'नयवाद' कहते हैं।

अनन्त धर्मात्मक वस्तु के किसी एक धर्म को लेकर जो यथार्थ अभिप्राय होता है वह "नय" है। एक ही वस्तु के प्रति विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं से उत्पन्न होने वाले विभिन्न अभिप्राय "नय" कहे जाते हैं। अनन्त धर्मात्मक वस्तु के सम्बन्ध में अनन्त प्रकार के अभिप्राय और विचार हो सकते हैं; अतएव नय भी अनन्त हैं। "सम्मति सूत्र" में सुप्रसिद्ध तार्किक आचार्यवर सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है :—

" जावइया वयणपहा तावइया चेव हुंति नयवाया "

अर्थात् :— जितने वचन-प्रकार हैं उतने ही नयवाद हैं। नयों के सम्बन्ध में यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि ये नय अपनी अपनी मर्यादा में ही सत्य होते हैं। जब ये अपनी मर्यादा से बाहर होकर एक दूसरे के प्रतिबंधक हो जाते हैं तो ये असत्य हो जाते हैं और अप्रमाण ठहरते हैं। जो नय अपने विषय ग्राहक होकर भी अन्य का निषेध नहीं करता है वही नय कहलाता है और जो नय दूसरे नय का निषेध करके प्रवृत्त होता है वह दुर्नय या नयाभास है। कहा भी है :—

अर्थस्यानेकरूपस्य धी प्रमाणं तदंशधी ।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्नयस्तन्निराकृति ॥

अर्थात्—प्रमाण वस्तु के अनेक रूपों को ग्रहण करता है। नय वस्तु के एक अंश को विषय करता है। नय दूसरे धर्मों की अपेक्षा रखता है। जो दूसरे धर्मों का निराकरण करता है वह दुर्नय है।

नयवाद सापेक्ष (आंशिक) सत्य है। इस तत्त्व को सुबोधतया समझाने के लिए यह दृष्टान्त उपयोगी होगा। विशाल समुद्र की जलराशि में से थोड़ासा (घड़ाभर) पानी लीजिये। उस घड़ेभर पानी को न तो समुद्र कह सकते हैं और न असमुद्र कह सकते हैं। अगर उस घड़ेभर पानी को ही समुद्र कह दिया जाय तो समुद्र का शेष जल असमुद्र हो जायगा अथवा अनेक समुद्र मानने पड़ेंगे। ये दोनों प्रत्यक्ष बाधित हैं इसलिए समुद्र के घड़ेभर पानी को हम समुद्र नहीं कह सकते। इसी तरह उसे असमुद्र भी नहीं कहा जा सकता है। इसका कारण यह है कि वह जल समुद्र का ही है। अगर समुद्र के घड़ेभर पानी में जरा भी समुद्रता नहीं है तो वह सब पानी में भी नहीं होसकती है। क्योंकि जो धर्म अंशमें नहीं है वह समुदाय में भी नहीं होसकता। जब समुद्र के घड़े-भर पानी में भी समुद्रता है नहीं है तो क्या कारण है कि वह शेष जल में मानी जाय? समुद्र के घड़े-भर पानी में भी समुद्रता है ही, अन्यथा वह समुद्र का जल नहीं कहा जा सकता है। इससे यह तात्पर्य निकला कि समुद्र का घड़ा-भर पानी न तो समुद्र ही है और न असमुद्र ही है लेकिन समुद्र का अंश है। ठीक इसी तरह नय द्वारा गृहीत वस्तु-स्वरूप न तो पूर्ण वस्तु ही है और न अवस्तु ही है लेकिन वस्तु का अंश है। कहा भी है—

नासमुद्रः समुद्रो वा समुद्रांशो यथैव हि ।
नायं वस्तु नचावस्तु वस्त्वंशः कथ्यते बुधैः ॥

अर्थात्—जैसे समुद्र के घड़े-भर पानी को न तो समुद्र और न असमुद्र कह सकते हैं लेकिन समुद्र का अंश कहते हैं उसी तरह नय द्वारा गृहीत वस्तु न तो पूर्ण वस्तु ही है और न अवस्तु ही। वह वस्तुका अंशमात्र है।

यह भलीभांति सिद्ध हो चुका है कि 'नय' वस्तु के एक अंश का ही ग्रहण करता है अतएव यह आंशिक और आपेक्षिक सत्य है। इस आपेक्षिक सत्य को ही पूर्ण सत्य मानकर जो वस्तु के अन्य अंशों का अपलाप करता है वह नयाभास हो जाता है। वादिदेव सूरि ने कहा है—

स्वाभिप्रेतादंशादितरांशापलापी नयाभासः—

अर्थात्— जो नय अपने गृहीत वस्तु के अंश को ही सत्य मानकर शेष अंशों का निषेध करता है वह नयाभास है।

विश्व में जितने एकान्तवादी मत या पन्थ हैं वे अपने ही माने हुए तत्त्व को पूर्ण सत्य मानकर शेष मतों का तिरस्कार करते हैं अतएव वे सभी नयाभास के उदाहरण बनते हैं और अप्रमाण्य ठहरते हैं। विश्व के सभी प्रचारित धर्म दर्शन या पन्थ सत्य के अंश हैं। लेकिन उसके अनुयायी उसी अंश को सम्पूर्ण मान लेते हैं अतएव वह सत्यांश भी असत्य हो जाता है। उदाहरण के लिए बौद्ध दर्शन वस्तु के अनित्य धर्म को ही मान देकर नित्यधर्म का तिरस्कार करता है और कापिल दर्शन (सांख्य) वस्तु के नित्य धर्म को ही स्वीकार करता है और अनित्यता का अपलाप करता है। दोनों दर्शन अपने अपने पक्ष के आग्रही हैं और एक दूसरे को मिथ्या कहते हैं लेकिन वास्तविक दृष्टि से दोनों ही अपूर्ण हैं। वस्तु में नित्यता और अनित्यता दोनों धर्म पाये जाते हैं अतएव वस्तु नित्यानित्य है। यह कहकर जैन दर्शन का नयवाद उक्त दोनों विरोधी दृष्टिकोणों का समन्वय करता है।

जैन दर्शन का नयवाद द्वैत अद्वैत निश्चय-व्यवहार ज्ञान-क्रिया काल, स्वभाव नियति यदृच्छा पुरुषार्थ आदि वादों का बड़ी कुशलता के साथ समन्वय करता है। जैन दर्शन विभिन्न विचारों के पीछे रहे हुए विभिन्न दृष्टि बिन्दुओं का अवलोकन करके समन्वय के सिद्धान्त के द्वारा परस्पर के मनोमालिन्य को दूर करके उनमें एकता स्थापित करता है। नयवाद, विचार दृष्टि के लिए अञ्जन का कार्य करता है जिससे दृष्टि का विभ्रम दूर हो जाता है। नयवाद प्रज्ञा की दृष्टि का विकास और हृदयको उदार बनाकर मैत्रीभाव का मार्ग सरल बना देता है। समस्त कलहों का शमन करके जीवन-विकास के मार्ग को सरल बनाने में नयवाद प्रधान और समर्थ अंग है। नयवाद के विमल जल से दृष्टि का प्रक्षालन होने से राग द्वेष का प्रचार बंद हो जाता है। इस तरह आध्यात्मिक और व्यावहारिक उभय दृष्टि से नयवाद विश्व हितकारी सिद्धान्त है। श्री समन्तभद्राचार्य ने कहा है—

> नयास्तव स्यात्पद लाञ्छना स्पु रसोपविद्धा इव लोहधातव
>
> भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो भवन्तमार्या प्रणता हितैषिण

अर्थात्—हे जिनेन्द्र! जिस प्रकार विविध रसों द्वारा सुसंस्कारित लौह स्वर्णादि धातु अभीष्ट परिपक्वता और स्वास्थ्य प्रदान करती है इसी तरह 'स्यात्' पद से अंकित आप के नय अभीष्ट फल के प्रदाता हैं अतएव हितैषी आर्य-पुरुष आप को नमस्कार करते हैं।

इसी तरह स्याद्वाद की समन्वय शक्ति को प्रदर्शित करते हुए प्रखर तार्किक श्री सिद्धसेन दिवाकर ने द्वात्रिंशिका स्तोत्र में कहा है—

उदधाविव सर्व सिन्धव समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टय ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधि ।

—चतुर्थ द्वात्रिंशिका श्लो० १५

हे नाथ ! जैसे सभी नदियाँ समुद्र में आकर सम्मिलित होती है इसी तरह विश्व के समस्त दर्शन आप के शासन में सम्मिलित हो जाते हैं । जिस प्रकार भिन्न भिन्न नदियों में समुद्र नहीं दिखाई देता है उसी तरह भिन्न २ दर्शनों में आप नहीं दिखाई देते (तदपि सब दर्शन समुद्र में नदियों के समान आपके शासन में समा जाते है ।)

स्याद्वाद के समन्वय तत्त्व की मीमांसा कर चुकने पर अब यह बताना आवश्यक है कि पदार्थ अनन्त धर्मात्मक कैसे है ? उसमें नित्य और अनित्य सत्-असत्, सामान्य विशेष वाच्य-अवाच्य आदि विरुद्ध धर्म कैसे पाये जाते हैं ?

—पदार्थों का व्यापक स्वरूप—

विश्व के पदार्थों का भलीभांति अवलोकन करने से यह ज्ञात होता है कि पदार्थमात्र उत्पत्ति विनाश और स्थिति से युक्त है । तत्त्वार्थाधिगम सूत्र में श्री उमास्वाति ने कहा है—

" उत्पाद व्ययध्रौव्ययुक्त सत "

अर्थात् पदार्थ उत्पत्ति विनाश और स्थिति वाला है । जिसकी उत्पत्ति होती है, जिसका नाश होता है और जो ध्रुव रहता है वह पदार्थ है । जो उत्पन्न नहीं होता नष्ट नहीं होता और ध्रुव नहीं रहता वह पदार्थ ही नहीं है यथा आकाश कमल। प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद व्यय और ध्रौव्य का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यह आशंका की जासकती है कि जो उत्पन्न होता है और नष्ट होता है वह भला ध्रुव कैसे होसकता है ? इस शंका का समाधान यह है कि उत्पत्ति और विनाश बिना ध्रुवता के नहीं हो सकते और ध्रुवता बिना उत्पत्ति और विनाश के स्वतंत्र नहीं रह सकती जहां हम वस्तु में उत्पत्ति और विनाश का अनुभव करते हैं वहीं पर उसकी स्थिरता का भी अविकल रूप से भान होता है । तथा च जहां ध्रुवता का भान होता है वहीं कथञ्चित् उत्पत्ति और विनाश अवश्य प्रतीत होते हैं । उत्पत्ति विनाश और ध्रौव्य यह त्रिपुटी एक दूसरे के अभाव में नहीं रहती । इस त्रिपुटी में से कोई भी स्वतंत्र रूप से नहीं पाया जा सकता है । ये तीनों ही परस्पर सापेक्ष हैं । उदाहरण के लिए एक सुवर्ण पिण्ड को ले लीजिए—

प्रथम सुवर्ण पिण्ड को गलाकर उसका कटक (कड़ा) बना लिया गया। फिर कटक का ध्वंस करके उसका मुकुट तैयार किया गया। यहाँ पर सुवर्ण पिण्ड के विनाश से कटक की उत्पत्ति और कटक के ध्वंस से मुकुटका उत्पन्न होना देखा जाता है। परन्तु इस उत्पत्ति विनाश के सिलसिले में मूल वस्तु सुवर्ण की सत्ता बराबर मौजूद है। पिण्डदशा के विनाश और कटककी उत्पत्ति दशा में भी स्वर्ण की सत्ता मौजूद है। इसी तरह कटक के विनाश और मुकुट के उत्पाद काल में भी स्वर्ण बराबर विद्यमान है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्पत्ति और विनाश वस्तु के आकार विशेष पर्यायका होता है न कि मूल वस्तु का। मूल वस्तु तो लाखों परिवर्तन होने पर भी अपनी स्वरूप स्थिरता से च्युत नहीं होती। कटक कुण्डलादि स्वर्ण के आकार विशेष हैं, इन आकार-विशेषों की ही उत्पत्ति और विनाश होना देखा जाता है इनका मूल तत्व स्वर्ण उत्पत्ति और विनाश दोनों से अलग है। इस उदाहरण से यह प्रतीत हुआ कि पदार्थ में उत्पत्ति विनाश और स्थिति ये तीनों ही धर्म स्वभाव सिद्ध हैं। किसी वस्तु का आत्यन्तिक विनाश नहीं होता वस्तु के किसी आकृति विशेष के विनाश से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि वह वस्तु सर्वथा नष्ट हो गई। आकृति के बदलने मात्र से किसी का सर्वथा नाश नहीं होता। जैसे बाल जिनदत्त बाल्य अवस्था को छोड़कर युवा होता है और युवावस्था को छोड़कर वृद्ध होता है, इससे जिनदत्त का नाश नहीं कहा जासकता है। जैसे सर्प फणावस्था को छोड़ कर सरल होता है तो इस आकृति के परिवर्तन से उसका नाश होना नहीं माना जाता है इसी तरह आकृति के बदलने से वस्तु का नाश नहीं हो जाता है। इसी तरह कोई भी वस्तु सर्वथा नवीन नहीं उत्पन्न होती है। अतः जगत के सारे ही पदार्थ उत्पत्ति विनाश और स्थितिशील हैं यह बात भली भाँति प्रमाणित हो जाती है। उत्पाद और व्यय को " पर्याय " और ध्रौव्य को " द्रव्य " के नाम से कहा जाता है। इस तरह वस्तु का स्वरूप द्रव्य पर्यायात्मक है। द्रव्यस्वरूप नित्य और पर्याय स्वरूप अनित्य है। कहा भी है –

" द्रव्यात्मना स्थितिरेव सर्वस्य वस्तुन,
पर्यायात्मना सर्वं वस्तूत्पद्यते विपद्यते वा "

अर्थात्—द्रव्य रूप से सभी पदार्थ नित्य हैं और पर्याय की अपेक्षा से सभी पदार्थ उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं अतएव अनित्य हैं। इस तरह सापेक्ष दृष्टि से एक ही वस्तु में नित्यानित्यत्व आदि विरुद्ध धर्मों का अविरोध व्यवस्थापन करने वाला सिद्धान्त स्याद्वाद है।

समर्थ विद्वान् श्री समन्त भद्राचार्य पदार्थों के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य का एक और ही युक्ति द्वारा समर्थित किया है। उन्होंने लिखा है —

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।

शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥

कल्पना करिये कि तीन व्यक्ति एक साथ किसी सुनार की दुकान पर गये। उनमें से एक को स्वर्ण घट की दूसरे को मुकुट की और तीसरे को केवल स्वर्ण की आवश्यकता है। वहां आकर वे देखते हैं कि सुनार सोने के बने हुए घड़े को तोड़कर उसका मुकुट बना रहा है। सुनार के इस कार्य को देखकर उन तीनों ही मनुष्यों के मन में भिन्न भिन्न प्रकार के भाव पैदा हुए। जिसे स्वर्णघट की आवश्यकता थी उसे शोक हुआ, जिसे मुकुट की आवश्यकता थी वह प्रसन्न हुआ और जिसे केवल स्वर्ण की ही आवश्यकता थी उसे न शोक हुआ और न हर्ष ही। वह अपने मध्यस्थ भाव में ही रहा। यहां पर प्रश्न होता है कि इस प्रकार का भाव-भेद क्यों? अगर वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक न हो तो इस प्रकार के भाव भेद की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती। घट-प्राप्ति की इच्छा से आने वाले पुरुष को घट के विनाश से शोक और मुकुटार्थी पुरुष को मुकुट की उत्पत्ति से हर्ष और स्वर्णार्थी को न हर्ष और न शोक ही हुआ। इससे यह प्रतीत होता है कि घट के विनाश काल में ही मुकुट उत्पन्न हो रहा है और दोनों ही अवस्था में स्वर्णद्रव्य स्थित है। तभी तो उन तीनों को क्रमशः शोक हर्ष और माध्यस्थ भाव हुआ। यदि घट-विनाश काल में मुकुट की उत्पत्ति न मानी जाय तो घटार्थी पुरुष को शोक और मुकुटार्थी को हर्ष का होना दुर्घट-सा हो जाता है। एवं घट-मुकुटादि स्वर्ण पर्यायों में स्वर्ण रूप कोई द्रव्य न माना जाय तो स्वर्णार्थी पुरुष के मध्यस्थभाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती है परन्तु सुनार के इस एक ही व्यापार में शोक प्रमोद और माध्यस्थ्य तीनों प्रकार के भाव देखे जाते हैं। ये निर्निमित्तक नहीं हो सकते इसलिये वस्तु के स्वरूप को उत्पाद व्यय और ध्रौव्य युक्त ही मानना चाहिये। एक और लौकिक उदाहरण से पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक सिद्ध होता है। वह इस प्रकार है—

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्वं त्रयात्मकम् ॥

जिस पुरुष का केवल दुग्ध ग्रहण का नियम है वह दही नहीं खाता। जिसको दधि-ग्रहण का नियम है वह दुग्ध का ग्रहण नहीं करता। परन्तु जिस व्यक्ति ने गोरस का त्याग कर दिया हो वह न दूध ही खाता है और न दही ही। इस व्यावहारिक उदाहरण से दुग्ध का विनाश दधि की उत्पत्ति और गोरस की स्थिरता ये तीनों ही तत्व प्रमाणित होते हैं। उपाध्याय यशोविजयजी ने लिखा है—

उत्पन्नं दधिभावेन नष्टं दुग्धतया पयः ।
गोरसत्वात् स्थिरं जानन् स्याद्वादद्विड्जनोऽपि कः ॥

अर्थात्—दूध जब दही रूप में परिणमता है तब दूध का विनाश और दधि का

उत्पाद होता है परन्तु गोरस द्रव्य स्थिर रहता है । ऐसी अवस्था में कौन स्याद्वाद का निषेध कर सकता है ?

—*नित्यानित्य विचारणा*—

पदार्थों के व्यापक स्वरूप में यह भली भांति प्रमाणित कर दिया गया है कि पदार्थ मात्र उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है । इस कथन से वस्तु के दो स्वरूप सिद्ध होते हैं— एक विनाशी और दूसरा अविनाशी । उत्पाद और व्यय विनाशी स्वरूप हैं और ध्रौव्य अविनाशी रूप है । पारिभाषिक शब्दों में इन्हें 'पर्याय' और 'द्रव्य' कहा है । पदार्थ के विनाशी स्वरूप को "पर्याय" और अविनाशी स्वरूप को "द्रव्य" कहते हैं । जैन दर्शन किसी भी पदार्थ को एकान्त नित्य अथवा अनित्य नहीं मानता है किन्तु वह सापेक्ष रूप से वस्तु में नित्यता और अनित्यता रूप दोनों धर्मों को स्वीकार करता है । वस्तु के अविनाशी स्वरूप द्रव्य की अपेक्षा वस्तु नित्य है और विनाशी स्वरूप-पर्याय की अपेक्षा से वस्तु अनित्य है, अतएव वस्तु नित्यानित्य उभय रूप है । वस्तु के इस अनेकान्त स्वरूप को न मानकर अगर केवल एकान्त नित्यवाद या अनित्यवाद स्वीकार किया जाय तो वस्तु का स्वरूप ही नहीं बनता है । पदार्थ का लक्षण अर्थ क्रिया कारित्व है । यह लक्षण वस्तु को अनेकान्तात्मक मानने पर ही घटित हो सकता है । एकान्त नित्य पदार्थ और एकान्त अनित्य पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं हो सकती है । एकान्त कूटस्थ नित्य पदार्थ में अर्थक्रिया नहीं हो सकती क्योंकि क्रिया करने में परिणति की आवश्यकता होती है । जहां परिणति है वहां कूटस्थनित्यता नहीं रहती है । एकान्त अनित्य पक्ष में भी अर्थक्रिया घटित नहीं होती क्योंकि पदार्थ प्रथम क्षण में तो अपनी उत्पत्ति में लगा है और दूसरे क्षण में सर्वथा नष्ट हो जाता है तो अर्थक्रिया कैसे सम्भव हो सकती है ? इस तरह अनेकान्त पक्ष में ही अर्थ क्रिया घटित होती है ।

हमारा प्रत्यक्ष अनुभव ही पदार्थों की नित्यानित्यता को बतला रहा है । स्वर्ण द्रव्य की कटक कुण्डल और मृत्तिका द्रव्य की घट कुण्डिका आदि विभिन्न पर्यायें दृष्टिगोचर होती हैं । हम देखते हैं कि सोने का कटक कालान्तर में मुकुट बन जाता है, मुकुट टूटकर हार बन जाता है । इस तरह स्वर्ण द्रव्य के आकार-पर्याय में उत्पाद विनाश होता रहता है । उसकी पर्यायें बदलती रहती हैं लेकिन स्वर्ण द्रव्य का ध्वंस कदापि नहीं होता । इसी तरह मिट्टी का घट बन जाता है घट फूटकर कपाल (ठीकरी) बन जाते हैं लेकिन मिट्टी कायम रहती है इसके मूल रूप का कभी विध्वंस नहीं होता पर्यायों की परिणति होती है यह बात स्पष्ट है अतएव पदार्थ को पर्याय की अपेक्षा से अनित्य मानना चाहिए । द्रव्य की अपेक्षा से पदार्थ नित्य है क्योंकि विभिन्न पर्यायों में (कटक कुण्डलादि में स्वर्ण और घट कपाल आदि में मिट्टी) द्रव्य का अनुगम रूप से प्रत्यक्ष भान हो रहा है । अतएव वस्तु द्रव्यापेक्षा से नित्य पर्यायापेक्षा से अनित्य है । यह वस्तु का नित्यानित्य रूप ही वास्तविक है ।

उक्त रीति से ही सामान्य विशेष सत्-असत् वाच्य-अवाच्य, भेद अभेद की विचारणा में भी पदार्थ उभय रूप ही है । जैसा कि हेमचन्द्राचार्य ने अन्य योग व्यवच्छेदद्वात्रिंशिका में कहा है—

स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपं वाच्यं न वाच्यं सदसत्तदेव ।
विपश्चितां नाथ ! निपीततत्त्वसुधोद्गतोद्गारपरम्परेयम् ॥

अर्थात्-पदार्थ कथञ्चित् अनित्य और कथञ्चित् नित्य हैं । कथञ्चित् सामान्य रूप और कथञ्चित् विशेष रूप हैं । कथञ्चित् वाच्य हैं और कथञ्चित् अवक्तव्य हैं । कथञ्चित् सत् हैं और कथञ्चित् असत्रूप हैं । हे विद्वानों के नाथ ! ये सब आपके तत्त्वामृत के पान से निकले हुए उद्गार हैं ।

इस विवेचना का सारांश यह है कि जैन दर्शन को वस्तु का एकान्त रूप अभिमत नहीं है वरन् उसकी दृष्टि में वस्तु का स्वरूप अनेकान्त है ।

'अनेकान्तात्मकं वस्तु गोचरः सर्वसंविदाम् ।'

— आक्षेप परिहार —

अनेकान्तवाद के सुमेरुवत् सिद्धान्त के रहस्य को भलीभाँति न समझने के कारण जैनदर्शन के प्रतिद्वन्द्वी वेदान्त के आचार्य शंकराचार्य ने तथा अन्य विद्वानों ने स्याद्वाद सिद्धान्त पर अनुचित आक्षेप किये हैं और इसे अनिश्चितवाद संशय वाद और उन्मत्तप्रलाप तक कह डाला है । परन्तु शंकराचार्यादि ने इस सिद्धान्त के स्वरूप को यथातथ्य रूप से समझे बिना ही इसके खण्डन के लिए लेखनी उठाकर सचमुच जैनदर्शन के प्रति अन्याय किया है । अगर वे जैन दर्शन को स्याद्वाद का जो रूप अभिमत है उसे समझने के बाद खण्डन करते तबतो युक्ति संगत था परन्तु उन्होंने जिस स्याद्वाद का खण्डन किया है वह स्याद्वाद का स्वरूप जैन दर्शन नहीं मानता है । शंकराचार्य ने शांकर भाष्य में स्याद्वाद के विरुद्ध यह लिखा है—

'न ह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सदसत्त्वादि विरुद्धधर्मसमावेशः सम्भवति शीतोष्णवत् ।'

अर्थात्-शीत और उष्ण की भाँति एक धर्मी में परस्पर विरोधी सत्त्व और असत्त्व आदि धर्मों का एक काल में समावेश नहीं हो सकता । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शीत और उष्णता ये दो विरुद्ध धर्म एक काल में एक जगह पर नहीं रह सकते इसी तरह सत्त्व और असत्त्व का भी एक काल में एक स्थान पर रहना नहीं बन सकता। इसलिए जैनों का सिद्धान्त ठीक नहीं है ।

उक्त भाष्य के अन्दर शंकराचार्य ने जो शंका की है, वही प्रायः सभी स्याद्वाद के विरोधियों की मुख्य आशंका और आक्षेप है। उनका कहना है कि जो नित्य है वह अनित्य कैसे? जो अनित्य है वह नित्य कैसे? जो सत् है वह असत् नहीं हो सकता। जो एक है वह अनेक नहीं हो सकता, जो सामान्य रूप है वह विशेष रूप नहीं होसकता जो भिन्न है उसे अभिन्न कैसे कहा जा सकता है? ये विरोधी धर्म एक जगह कैसे रह सकते हैं? यही स्याद्वाद पर मुख्य आक्षेप होता है।

इस प्रकार का आक्षेप करने वालों ने जैन धर्म के स्याद्वाद के वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचाना। वे स्याद्वाद का यही रूप समझते रहे कि परस्पर विरोधी धर्मों को एक स्थान पर स्वीकार करने का नाम स्याद्वाद है। परन्तु क्यों? और कैसे? इस बात पर किसी ने लक्ष्य ही नहीं दिया। यही कारण है कि वे स्याद्वाद के गूढ़ तत्व को नहीं समझ पाये। स्याद्वाद का अर्थ "परस्पर विरुद्ध धर्मों का एक स्थान में विधान करना" नहीं है परन्तु अनन्त धर्मात्मक वस्तु में अपेक्षा भेद से जो जो धर्म रहे हुए हैं उनको उसी अपेक्षा से वस्तु में स्वीकार करने की पद्धति को जैन दर्शन अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद के नाम से उल्लेख करता है। जैन दर्शन का स्याद्वाद यह नहीं कहता है कि पदार्थ जिस अपेक्षा से नित्य है सत् है भिन्न है उसी अपेक्षा से वह अनित्य है, असत् है और अभिन्न है। जैन विद्वानों ने इस भ्रम को बड़े ही स्पष्ट शब्दों में दूर करने का प्रयत्न किया है। जैन दर्शन अगर एक ही अपेक्षा से नित्य अनित्य, सत् असत्, भिन्न-अभिन्न आदि कहता तो विरोध दोष आता लेकिन जैन दर्शन भिन्न-भिन्न अपेक्षा से भिन्न भिन्न धर्मों की सत्ता स्वीकार करता है इसमें विरोध की गंध नहीं होसकती।

जिस प्रकार एक ही व्यक्ति में पुत्रत्व और पितृत्व धर्म संसार स्वीकार करता है। लेकिन वह एक ही अपेक्षा से नहीं किन्तु भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से। वह व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है और अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है। इस प्रकार उसके पितृत्व और पुत्रत्व दोनों धर्म अविरोध रूप से पाये जाते हैं। इसमें विरोध को अवकाश ही कहां है? विरोध तो तब होता जब उसे उसके पिता की अपेक्षा से भी पिता और पुत्र की अपेक्षा से भी पिता कहा जाता। अथवा अपने पुत्र की अपेक्षा से भी पुत्र कहा जाता। एक ही अपेक्षा से पिता पुत्र कहा जाता तो अवश्य विरोधी कथन होता लेकिन विभिन्न अपेक्षा से जब विभिन्न धर्मों का कथन किया जाता है तब विरोध नहीं होता है। अपेक्षा भेद से विरोधी धर्मों के स्वीकार करने में विरोध नहीं होता है जैसे 'यज्ञदत्त छोटा भी है और बड़ा भी है' इस स्थल में यज्ञदत्त की अपेक्षा यज्ञदत्त में छोटापन और विष्णुदत्त की अपेक्षा दीर्घत्व देखा जाता है। एक ही यज्ञदत्त व्यक्ति में ह्रस्वत्व और दीर्घत्व ये दोनों विरोधी धर्म जैसे अपेक्षा भेद से विद्यमान हैं इसी तरह अपेक्षा भेद से नित्यत्व अनित्यत्व सत्व-असत्व, वक्तव्य-अवक्तव्य, सामान्य-विशेष आदि विरोधी धर्म भी अविरोध रूप से एकत्र रह सकते हैं। इसमें विरोध की कोई आशंका नहीं रहती।

जैन दर्शन जिस रूप से वस्तु में सत्य मानता है उसी रूप में उसमें असत्य नहीं मानता है। जिससे विरोध की शंका नहीं की जा सकती। वह स्वद्रव्य क्षेत्रकाल भाव की अपेक्षा वस्तु में सत्व और परद्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से असत्व मानता है इसलिए अपेक्षा भेद से सत्व असत्व दोनों ही वस्तुओं में अविरोध रूप से रहते हैं। इसी तरह द्रव्यापेक्षा से वस्तु में नित्यत्व और पर्याय-अपेक्षा से अनित्यत्व भी अविरुद्धतया रह सकता है। इस अपेक्षा भेद से एकत्व अनेकत्व आदि समस्त विरोधी धर्मों की सत्ता पदार्थ में अविरोधरूप से प्रमाणित होती है।

आधुनिक विज्ञान के आचार्यों ने और प्राध्यापकों ने यह सिद्ध कर दिया कि अपेक्षावाद (The doctrine of Relativity) से ही वस्तु का स्वरूप यथार्थ रूप से जाना जा सकता है। इस पर से यह सिद्ध होता है कि स्याद्वाद का सिद्धान्त वैज्ञानिक सत्य है और इस सिद्धान्त का उपदेष्टा जैन धर्म विश्व धर्म और वैज्ञानिक धर्म है।

स्याद्वाद का विषय अति गहन है। ऐसे गहन विषय का संक्षेप में पूरा निरूपण नहीं होसकता है तदपि जैनधर्म के इस सिद्धान्त के व्यावहारिक रूप द्वारा संसार प्रगति के पथ पर प्रयाण कर सकता है। यह सिद्धान्त जगतव्यवहार की दृष्टि से भी बड़ा महत्वपूर्ण है। इस सिद्धान्त की समन्वय शक्ति अनुपम है। यह विश्व के समस्त दर्शनों धर्मों और विचारों का बड़ी कुशलता से समन्वय करके शान्ति का बीजारोपण करता है। जिस प्रकार महासागर में आकर सभी सरिताएं एकरूप हो जाती हैं इसी तरह जैन दर्शन रूपी महासागर में अन्य सभी धर्म समाविष्ट हो जाते हैं। यह सिद्धान्त परम उदार और व्यापक है। साथ ही यह खेदका विषय है कि स्याद्वाद तत्व के अनुयायी जैन ही स्याद्वाद के उदार स्वरूप को भूलकर संकीर्णता के चक्र में फँसे हुए हैं। स्याद्वाद जैसे हितकारी तत्व को केवल सैद्धान्तिक ही न मानकर इसे व्यावहारिक रूप यदि दिया जाय तो जैन समाज का ही नहीं दुनिया भर का संगठन होसकता है और सारा विश्व जैन धर्म के पवित्र झंडे के नीचे एकत्रित हो सकता है।

सब प्राणी पर इस उदार तत्व का अनुशीलन करके कल्याण-मार्ग का पथिक बनें। इतिशम्। शिवमस्तु सर्व जगतः।

श्री भगवान् महावीर के अनेकान्तवाद

का

- संक्षिप्त स्वरूप -

—०×०—

ले० प० रत्न श्रीमद् जैनाचार्य पूज्य श्री आनन्दऋषिजी महाराज

श्व चराचर वस्तुओं का एक महान पिण्ड है। इसमें जीव अजीव आदि भेदों से युक्त अगणित पदार्थ हैं। प्रत्येक पदार्थ सामान्य-विशेष अस्तित्व नास्तित्व आदि अनन्त धर्मों (गुण पर्यायों) से युक्त है उन पदार्थों के परिच्छेदक भी प्रमाण और नय रूप से दो प्रकार के ज्ञान हैं। पदार्थ के समस्त धर्मों का ज्ञान जिसके द्वारा हो उसको प्रमाण कहते हैं और प्रमाण से ग्रहण किये हुए अनन्त धर्मात्मक वस्तु के एक अंश (धर्म) का बोध जिससे हो उस अभिप्राय विशेष को नय कहते हैं। ज्ञान के यथार्थ अयथार्थपन के अनुसार प्रमाण भी सम्यक् और मिथ्या हो जाता है। वैसे ही नय भी सम्यक् और मिथ्यारूप से दो प्रकार के होते हैं। ग्रहण किये हुए वस्तुधर्म से भिन्न धर्मों के प्रति गजनिमीलिका (उपेक्षा) मात्र रखने को सम्यक्नय और इतरधर्मों का सर्वथा खण्डन करने को मिथ्यानय अर्थात् नयाभास कहते हैं। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि नय तभी तक सुनय है जबतक कि एक दूसरे से सापेक्ष हो, न कि विरुद्ध। मतलब यह कि एक सूत्र में गुंथी हुई मणियों की ही माला कही जाती है। अलग २ बिखरे हुए सूत्र और मणिराशि को माला नहीं कहते।

उपरोक्त सन्दर्भ में यह दिखाया जा चुका है कि वस्तु अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्मों से युक्त होती है। यदि ऐसा न हो तो घट में घटत्व के अस्तित्व के समान पटत्व आदि सकल वस्तु धर्मों का भी अस्तित्व ही पाया जाना चाहिये, न कि नास्तित्व भी। और ऐसा होने से संसारभर में एक घट ही पदार्थ रहेगा अन्य सभी पदार्थ उसी के अन्दर समाविष्ट रहेंगे। परन्तु यह व्यवहार विरुद्ध होगा तथा प्रत्येक पदार्थ में सभी पदार्थों के पाये से साङ्कर्य दोष भी आयगा। इसलिये प्रत्येक पदार्थ में तदितर पदार्थों की अपेक्षा नास्तित्व भी मानना चाहिए। इसी प्रकार यदि घट में घटत्वका पटमें पटत्व का अर्थात् प्रत्येक पदार्थ में उसके स्वरूप का भी नास्तित्व मानें तो विश्व अभाव मात्र ही रह जायगा। इसलिये प्रत्येक वस्तु स्वद्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा अस्तित्व तथा परद्रव्य क्षेत्र काल और भावकी अपेक्षा नास्तित्व से युक्त है।

ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशमानुसार संसार में विसदृश मतवाले प्राणी होते हैं। एक धर्म वस्तु के सिर्फ सामान्य धर्म का स्वीकारता है तो दूसरा मात्र विशेष को एक द्रव्यास्तिक नयाभिप्राय न है तो दूसरा पर्यायार्थिक नययान्। द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टि में भिन्न२ पर्यायों के अन्दर भी द्रव्य तो सरीखा ही दिखने से सामान्य और अस्तित्व का भान होता है परन्तु पर्यायार्थिक नय बदलते हुये परिणामों को ही लक्ष्य बनाता है। उसकी दृष्टि में सभी अवस्थाओं में समान रूप से रहने वाला कोई एक द्रव्य प्रतीत ही नहीं होता इसलिये उसे विशेष तथा नास्तित्व का ही भान होता है। इस प्रकार एक ही वस्तु में भिन्न२ अभिप्रायों के कारण अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्म अलग रूप से ग्रहण किये जाते हैं।

यह पहले कहा जाचुका है कि नय तभी तक सुनय है जब तक कि दूसरे का विरोध नहीं करते। यह एक समय था जबकि विश्व के अन्दर भिन्न २ मतवाले एक दूसरे से टक्कर ले रहे थे। इतना ही नहीं बल्कि एक दूसरे को मिथ्या कह कर उसे उखाड़ने में कटिबद्ध था तो दूसरा उसके सिद्धान्तों पर ही कुठाराघात करता हुआ मुँह तोड़ दलीलें दे रहा था। एक ओर नैयायिक और वैशेषिक सामान्य-विशेष को वस्तु धर्म से विभिन्न स्वतन्त्र और निरपेक्ष पदार्थ मानकर कतिपय पदार्थों में नित्यत्व को अंगीकार करते हुये विशेषग्राही विज्ञानवादी बौद्ध मत के क्षणिकवाद का निरसन कर रहे थे तो दूसरी तरफ प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी प्रमाण से स्थायी द्रव्य के अस्तित्व को सिद्ध न कर सकने वाले बौद्धमत में क्षणिकवाद की सिद्धि पर ही जोर दिया जा रहा था। इस प्रकार स्वस्वाभीष्ट वस्तुधर्मों को ही एकान्त सत्य मानकर तदितर मान्यता का खण्डन करने के लिये सभी मत कलह में संलग्न थे।

यह अटल सिद्धान्त है कि किसी भी विवाद या कलह का अन्त समता या समन्वयवाद के सिवाय नहीं हो सकता। विवाद तत्पर शिष्यों को यथावत् प्रकाश तो इस सद्गुरु से ही मिलता है। इस नियमानुसार मुमुक्षु प्राणियों के लिये अनादि निधन परम श्रुत श्री स्याद्वाद का दिव्य प्रकाश का शरण मिला। यह स्याद्वाद ही मतमतान्तर की असहिष्णुतारूपी भयंकर रोग के लिये एक मात्र गुणकारी रामबाण महौषधि है।

स्याद्वाद पदका अर्थ और उसका स्वरूप

'स्याद्वाद' इस पदके अन्दर दो शब्द हैं ?—'स्यात् यह अव्यय है और दूसरा है—वाद। स्यात् का अर्थ यहाँ पर कथञ्चित्-अपेक्षा सहित किसी दृष्टि से समझ लेना चाहिये नकि विधि-विचारादि अर्थ। कहा भी है—

स्यादितिशब्दो अनेकान्तद्योती प्रतिपत्तव्यो न पुनर्विधिविचार–

प्रश्नादिद्योती, तथा विवक्षापायात् । अष्ट सहस्री पृष्ठ २०१

सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तताद्योतक कथञ्चिदर्थे स्याच्छब्दो निपात ।

पञ्चास्तिकायटीका श्रीअमृतचन्द्रसूरि।

और वाद शब्द का अर्थ सिद्धान्त या मत होता है। इस प्रकार समुच्चय पद का भावार्थ "सापेक्ष सिद्धान्त" ऐसा निकलता है। अनेकान्तवाद अपेक्षावाद कथञ्चिद्वाद और स्याद्वाद ये सब एकार्थवाची शब्द हैं। इस सापेक्ष सिद्धान्त को आचार्य श्री अमृतचन्द्र के शब्दों में 'परमागमस्य बीजम्' अर्थात् उत्कृष्ट आगमका मूलाधार कह सकते हैं। मतलब यह है कि वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करने के लिये एकमेव उपयोगी साधन इस रूपमें हम स्याद्वादको पहचान सकते हैं।

जिस समय हम किसी भी वस्तुके एक धर्म को लेकर उसका वही स्वरूप मानने लगजाते हैं और उसके अवशिष्ट समस्त धर्मों का अपलाप करते हैं तब वह एकान्त वाद का रूप बन जाता है जो कि (एकान्तवाद) निश्चय और व्यवहार दोनों प्रकार के विचारों की कसौटीपर कसने से मिथ्यारूप ठहरता है।

उदाहरणार्थ—अज्ञान दशामें (अथवा वृद्धामें) पड़े हुवे सात व्यक्ति किसी प्रसंगपर एक हाथी के भिन्न २ अवयवों को स्पर्श कर स्वगृहीत अवयव विशेष को ही हस्ती का पूर्ण स्वरूप मानते हुवे एक दूसरे के विरुद्ध झगड़ने लगे। उन्हें यह भान नहीं कि हम सभीका ज्ञान एकदेशीय मात्र है। वस्तुतः हस्ती तो इन सभी अवयवों से परिपूर्ण कुछ और ही स्वरूप की वस्तु है। जिसकी समझ अल्पज्ञतावश हम लोगों को नहीं होपाती।

ऐसेही किसी एक शहर के मध्य चौकमें एक विशाल एक विशेष की मूर्ति थी जिसका अगला भाग सुवर्ण का और पिछला रजतमय था। एक बार दो पुड़सवार उस भागमें होकर मूर्ति के इधर उधरसे निकल गये। आगे चलकर परस्पर में वाद-विवाद खड़ा हुआ। एक कहता था कि मूर्ति सुवर्ण की थी दूसरा कहता था कि चांदी की थी। झगड़ा बढ़ गया। यहां तक कि परस्पर में युद्ध करने तक का भी प्रसंग आगया दोनों ही घायल हुये। अन्ततः एक तीसरे जानकार व्यक्तिने बीचमें पड़कर दोनों का भ्रम दूर किया।

इसी प्रकार एक व्यक्ति अपने भिन्न २ सम्बन्धों के कारण पिता पुत्र मामा भानजा आदि अलग २ रूपसे कहा जाता है उसे यदि कोई एक ही रूपमें मान ले तो क्या वह सर्वथा सत्य कहा जा सकता है? कदापि नहीं हां अपेक्षा से उसे ऐसा सत्य कहें तो कहसकते हैं। इसी तरह एकान्तवाद में भी अपेक्षा दृष्टि से यत्किञ्चित सत्यता मानी जा सकती है। परन्तु कदाग्रहरूपी महान् दोषसे ग्रसित होने के कारण यह अकिंचित्कसा है। दूसरी बात यह कि हर एक सिद्धान्ती का ध्येय पूर्ण सत्य को समझने की तरफ झुका हुआ रहता है इसलिये हमें उस मार्गका अवलंबन करना चाहिये जो वास्तविक सत्यका दर्शन कराने में समर्थ हो।

यह पहले ही कहा जाचुका है कि वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निर्णय करने के लिये स्याद्वाद ही सच्चा उपयोगी साधन है। इसी से हम पूर्ण सत्य को प्राप्त कर सकते हैं युगप्रधान-प्रकाण्ड विद्वान हेमचन्द्राचार्य ने भी कहा है—

सदेव सत्स्यात्सदिति त्रिधार्थो मीयेत दुर्नीतिनयप्रमाणै ॥
यथार्थदर्शी तु नयप्रमाणपथेन दुर्नीतिपथं त्वमास्थ ॥ १ ॥

—अन्ययोग व्यवच्छेदिका

भावार्थ—पदार्थ सदैव (एकान्तवाद-दुर्नीति): सत् (नयवाद) और स्यात्सत् (कथंचित् सत् प्रमाण) इन तीन प्रकारों से जाना जाता है। हे भगवान ! यथार्थदर्शी आपने ही नय और प्रमाण मार्ग के द्वारा दुर्नयवादका निराकरण किया है।

सारांश यह कि यथार्थ दर्शी को नय और स्यात्पद लांछित प्रमाण मार्ग का ही अवलम्बन करना चाहिये। अमुक वस्तु ऐसी ही है यह कथन एकान्त वादका और ऐसी भी है यह कथन अनेकान्तवाद (स्याद्वादका) का स्वरूप होगा। इसप्रकार दुराग्रह त्यागपूर्वक निष्पक्ष बुद्धिका होना ही स्याद्वाद कहलाता है। यह स्याद्वाद एकान्तवादियों की तरफ से होने वाले आक्षेपों से अभेद्य आनेवाला अर्थात् दुर्भेद्य दुर्ग है।

स्याद्वाद से होनेवाले लाभ

यदि मानव समाज स्याद्वाद रूपी विशाल और उदार दृष्टि से देखना सीख जाय तो उसके जीवनमें बाधाओंका आनाही रुक जाय। आपत्तियों का आना तो ममता और संकुचित बुद्धिके कारण ही होता है। तटस्थ और विशाल दृष्टि का उन का स्पर्श ही कैसा ? कहा भी है—

घटमौलि सुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ॥
शोकप्रमोद माध्यस्थं जनो याति सहेतुकम् ॥ १ ॥

राजाने राजकुमारी के स्वर्णमय घटको तुड़वाकर राजकुमारके लिये मुकुट बनवा दिया। इसमें संकुचित और साग्रह दृष्टि होने के कारण उन दोनों को क्रमसे शोक और हर्ष हुआ। परन्तु माध्यस्थ और व्यापक दृष्टि वाले उस राजा का उसमें सुख दुःख कुछ भी नहीं हुआ

स्याद्वाद हमें जैसे तैसे सत्य सत्यों का ही पूर्ण सत्य मान लेने के लिये बाध्य नहीं करता किन्तु यह पूर्ण सत्यका दर्शन कराने के लिये अनेक मार्गों की खोज कराता है और समस्त जैनेतर दर्शनों को सापेक्ष सत्य मानकर सबका समन्वय कराता है। स्याद्वाद में सहिष्णुता कूट २ कर भरी रहती है। समता उसका प्राण है जहाँ समता है वहाँ कल्याण है अतः कल्याणार्थी प्राणी को स्याद्वाद का आश्रय अवश्य लेना चाहिये ॥

जैनागम में स्याद्वाद

लेखक—साहित्यरत्न, जैनागमरत्नाकर जैन धर्मदिवाकर उपाध्याय
श्री आत्मारामजी महाराज (पञ्जाबी)

न आगमों में प्रत्येक पदार्थ को गुण पर्याय युक्त माना गया है— अर्थात् प्रत्येक द्रव्य गुण पर्याय युक्त है। गुण और पर्याय अनन्त होने से उनका कथन करने के लिये नय और प्रमाण की आवश्यकता है जो नय और प्रमाण ये दोनों स्याद्वाद के मुख्य अंग हैं। अतः जैनागमों ने प्रत्येक पदार्थ की व्याख्या स्याद्वाद के आश्रित हो कर ही की है। विद्वान् जिज्ञासुओं को दिग्दर्शन कराने के लिये आगमों में जो सूत्र स्याद्वाद से सम्बन्ध रखने वाले हैं उन का अवतरण वृत्ति के साथ इस लेख में किया जायगा। आशा है विद्वद्वर्ग इन को प्रेम पूर्वक पढ़कर स्याद्वाद के आशय को समझ कर सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करेंगे।

—

एगे भवं दुवे भवं अक्खए भवं अव्वए भवं अवट्ठिए भवं अणेगभूयभावभविए भवं? सोमिला! एगेवि अहं जाव अणेगभूयभावभविए वि अहं। से केणट्ठेणं भन्ते! एवं वुच्चइ जाव भविएवि अहं? सोमिला! दव्वट्ठयाए एगे अहं नाणदंसणट्ठयाए दुविहे अहं पएसट्ठयाए अक्खएवि अहं अव्वएवि अहं अवट्ठिएवि अहं उवओगट्ठयाए अणेगभूयभावभविएवि अहं। से तेणट्ठेणं जाव भविए वि अहं।

टीका—एगे भवमित्यादि एको भवानित्येकत्वाभ्युपगमे भगवताऽऽत्मनः कृते श्रोत्रादि विज्ञानानामवयवानां चात्मनोऽनेकतोपलब्धित एकत्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगः सोमिलभट्टेन कृतः द्वौ भवानिति च द्वित्वाभ्युपगमेऽहमित्येकत्वविशिष्टस्यार्थस्य द्वित्वविरोधेन द्वित्वं दूषयिष्यामीति बुद्ध्या पर्यनुयोगो विहितः 'अक्खए भव' मित्यादिना च पदत्रयेण नित्यात्मपक्षः पर्यनुयुक्तः 'अणेगभूयभावभविए भव' त्ति अनेके भूता—अतीता भावा—सत्तापरिणामा भव्याश्च—भाविनो यस्य स तथा अनेन चातीत भविष्यत्सत्ता प्रश्नेनानित्यतापक्षः पर्यनुयुक्तः एकतरपरिग्रहे तस्यैव दूषणायेति तत्र च भगवता स्याद्वादस्य निखिलदोषगोचरातिक्रान्तत्वात्तमवलम्ब्योत्तरमदायि— 'एगेवि अहमित्यादि' कथमित्येतत्? इत्यत आह—'दव्वट्ठयाए एगोऽहं' ति जीवद्रव्यस्यैकत्वेनैकोऽहं न तु प्रदेशार्थतया तथा हि अनेकत्वान्ममेत्यवयवादीनामेकत्वोपलम्भो न बाधकः तथा कञ्चित्स्वभावमाश्रित्यैकत्वसंख्याविशिष्टस्यापि पदार्थस्य स्वभावान्तराश्रयापेक्षया द्वित्वमपि न विरुद्धमित्यत उक्तं— 'नाणदंसणट्ठयाए दुवेवि अहं' ति न चैकस्य स्वभावभेदो न दृश्यते एकोहि देवदत्तादिः पुरुष एकदैव तत्तदपेक्षया पितृत्वपुत्रत्वभ्रातृत्वादीननेकान् स्वभावांल्लभत इति तथा प्रदेशार्थतयाऽसंख्येयप्रदेशतामाश्रित्याक्षयोऽप्यहं सर्वथा प्रदेशानां क्षय

भावात् तथाऽव्ययोऽप्यहं कतिपयानामपि च व्ययाभावात् किमुक्तं भवति ? अव-
स्थितो ऽप्यहं नित्योऽप्यहम् बहुतरव्ययेऽप्यक्षीणता हि न कदाचनापि व्यपैति यतो
नित्यताऽभ्युपगमेऽपि न दोषः तथा उपयोगरूपतया, चित्र विविधविषयानुपयोगाना
विस्थानेकभूतभावभविकोऽप्यहम् अतीतानागतयोर्हि कालयोरनेकविषयबोधानामा
श्रयः कथंचिदभिन्नत्वात् भूतत्वात् भाविंस्याद्यस्यानित्यपक्षोऽपि न दोषायेति ।

(व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र शतक १८ उद्देश १० सूत्र ६४७)

इमा णं भंते ! रयणप्पभा पुढवी किं सासया असासया ? गोयमा ! सिय सासया सिय असासया । से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ– सिय सासया सिय असासया ? गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासया से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चति तं चेव जाव सिय असासया एवं जाव अहेसत्तमा ॥ इमा णं भंते ! रयणप्पभा पु० कालओ केवच्चिरं होइ ? गोयमा ! न कयाइ न आसि न कयाइ नत्थि न कयाइ न भविस्सति ॥ भुविं च भवइ य भविस्सति य धुवा नियया सासया अक्खया अवट्ठिया णिच्चा एवं जाव अहेसत्तमा ॥

टीका— 'इमा णं भंते' इत्यादि इयं भदन्त ! रत्नप्रभा पृथिवी किं शाश्वती अशाश्वती ? भगवानाह—गौतम ! स्यात्-कथञ्चित्कस्याभिप्रायेणेत्यर्थः शाश्वती स्यात्-कथञ्चिदशाश्वती ॥ एतदेव सविशेषं जिज्ञासुः पृच्छति–'सेकेणट्ठेण मित्यादि' से शब्दोऽथ शब्दार्थः स च प्रश्ने केन अर्थेन' कारणेन भदन्त ! एवमुच्यते यथा स्यात् शाश्वती स्यादशाश्वतीति ? भगवानाह–गौतम ! 'दव्वट्ठयाए' इत्यादि द्रव्यार्थ तया शाश्वतीति तत्र द्रव्यं सर्वत्रापि सामान्यमुच्यते द्रवति–गच्छति तान् तान् पर्यायान् विशेषानिति वा द्रव्यमिति व्युत्पत्तेर्द्रव्यमेवार्थः—तात्त्विकः पदार्थो यस्य न तु पर्यायाः–स द्रव्यार्थः द्रव्यमात्रास्तित्वप्रतिपादकनयाभिप्रायेणेति यावत् शाश्वती, द्रव्यार्थिकनयमतपर्यालोचनायामेवंविधस्य रत्नप्रभायाः पृथिव्या आकारस्य सदा भावात् 'वर्णपर्यायैः कृष्णादिभिः' 'गन्धपर्यायैः सुरभ्यादिभिः' 'रसपर्यायैः तिक्तादिभिः' 'स्पर्शपर्यायैः कठिनत्वादिभिः' 'अशाश्वती' अनित्या तेषां वर्णादीनां प्रतिक्षणं कियत्कालानन्तरं वाऽन्यथा भवनात् अशाश्वतत्वस्य चानित्यत्वात्, न चेयमपि भिन्नाधिकरणे नित्यत्वानित्यत्वे द्रव्यपर्याययोर्भेदाभेदोपगमात् अन्यथाभ्यु-पगमेऽप्यभावापत्तेः तथा हि–व्यवहार पक्षतु पर परिकल्पितं द्रव्यमसत् पर्यायव्यतिरिक्त त्वात् बालत्वादिपर्यायशून्यवन्ध्यासुतवत् तथा परपरिकल्पिताः पर्याया असन्तः द्रव्यव्यतिरिक्तत्वात् वन्ध्यासुतगतबालत्वादिपर्यायवत् उक्तञ्च— द्रव्यं पर्याय वियुतं पर्याया द्रव्यवर्जिताः । क कदा केन किंरूपा ? दृष्टा मानेन केनचित् ? ॥ १ ॥ इति कृतं प्रसङ्गेन विस्तारार्थिना च धर्मसंग्रहणिटीका निरूपणीया ।

से तेणट्ठेणं इत्युपसंहारमाह से शब्दोऽथशब्दार्थः स चात्र वाक्यो पन्यासे अथ एतेन अनन्तरोदितेन कारणेन गौतम ! एवमुच्यते–स्यात् शाश्वती स्यादशाश्वती एवं प्रतिपृथिवी तावद्वक्तव्यं यावदधः सप्तमी पृथिवी इह च यावत्तमस्तमायास्तत्र तथैवाभ्यर्णं कालं शाश्वतत्वमिति सदा तथापि शाश्वतमुच्यते यथा

तन्त्रान्तरेषु 'प्रकण्यद्वार्ड पुढवी सासया' इत्यादि,तत: संशय:—किमेषा रत्नप्रभा पृथिवी सकलकालावस्थायी शाश्वती उताग्यथा यथा तन्त्रान्तरीयैरुच्यते इति? ततस्तदपनोदार्थं पृच्छति—'इमा णं भंते' इत्यादि इय भदन्त! रत्नप्रभा पृथिवी कालतः कियच्चिरं कियन्तं कालं यावद्भवति? भगवानाह-गौतम! न कदाचिन्नासीत् सर्वदैवासीदिति भावः, अनादित्वात्, तथा न कदाचिन्न भवति सर्वदैव वर्तमान कालचिन्तायां भवतीति भावः अत्रापि स एव हेतुः सदाभावादिति तथा न कदाचिन्न भविष्यति, भविष्यच्चिन्तायां सर्वदैव भविष्यतीति भावः अपर्यवसितत्वात्। तदेवं कालत्रयचिन्तायां नास्तित्वप्रतिषेधं विधाय संप्रत्यस्तित्वं प्रतिपादयति भुविं चे त्यादि अभूत भवति भविष्यति च एवं त्रिकाल भावित्वेन 'ध्रुवा ध्रुवत्वादेव नियता' नियतावस्थाना धर्मास्तिकाया दिवत्नियतत्वादेव च शाश्वती शाश्वद्भाव: प्रलयाभावात शाश्वतत्वादेव च सततग ङ्गासिन्धुप्रवाहप्रवृत्तावपि पद्मपोण्डरीकह्रद इवान्यतरपुद्गलविघटनेऽप्यन्यतरपुद्गला पचयभावात अक्षया अक्षयत्वादेव च अव्यया मानुषोत्तराद्बहिः समुद्रवत अव्यय त्वादेव अवस्थिता स्वप्रमाणावस्थिता सूर्यमण्डलादिवत् एव सदाऽवस्थानेन चिन्त्यमाना नित्या जीवस्वरूपवत् यदि या ध्रुवादयः शब्दा इन्द्रशक्रादिवत्पर्याय शब्दा नानादेशजविनेयानुग्रहार्थमुपन्यस्ता इत्यदोषः एवमेकैका पृथिवी क्रमेण तावद्वक्तव्या यावदधः सप्तमी॥

जीवाभिगमसूत्र प्रतिपत्ति ३ उद्देश : १

पढमवरवेइया णं भंते! किं सासया? गोयमा! सिय सासया सिय असासया से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ-सिय सासया सिय असासया से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ-सिय सासया सिय असासया? गोयमा! दव्वट्ठयाए सासया वण्णपज्जवेहिं गंधपज्जवेहिं रसपज्जवेहिं फासपज्जवेहिं असासया से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चति-सिय सासया सिय असासया। पउमवरवेइया णं भंते! कालओ केवच्चिरं होई? गोयमा ण कयावि णासि ण कयावि णत्थि न कयावि न भविस्सइ भुविंच हवइ य भविस्सइ य धुवा णियया सासया अक्खया अव्वया अवट्ठिया णिच्चा पउमवरवेइया।

टीका—पउमवरवेइया णं भंते! किं सासया इत्यादि पद्मवरवेदिका णं भदन्त! किं शाश्वती अशाश्वती भावस्तथा सूत्रे निर्देशः प्राकृतत्वात् किं नित्या उतानित्येति भावः भगवानाह गौतम! स्यात शाश्वती स्यादशाश्वती कथञ्चिन्नित्या कथञ्चिदनित्या इत्यर्थः स्याच्छब्दो निपातः कथञ्चिदित्येतदर्थवाची स केणट्ठेण मित्यादि प्रश्न सूत्रं सुगमं भगवानाह-गौतम! द्रव्यार्थतया-द्रव्यास्ति कनयमतेन शाश्वती द्रव्यास्तिकनयो हि द्रव्यमेव तात्विकमभिमन्यते न पर्यायान् द्रव्यं चान्वयिपरिणामित्वात अन्वयित्वाच्च सकलकाल भावीति भवति द्रव्यार्थतया शाश्वती वर्णपर्यायैस्तदन्यसमुत्पद्यमानवर्णविशेषरूपैः एवं गन्ध पर्यायैः रस पर्यायैः स्पर्शपर्यायैः उपलक्षणमेतत् तदन्यपुद्गलविघटनोपचटनैश्च अशाश्वती

किमुक्तं भवति ?—पर्यायास्तिकनयमतेन पर्यायमात्रान्यविवक्षायामशाश्वति पर्यायाणां प्रतिक्षणमावितया किंयत्कालमावितया विनाशित्वात् से एएणट्ठणं मिस्या पुपसंहारवाक्य सुगमं यह द्रव्यास्तिकनयवादी स्वमतप्रतिष्ठापनार्थमेवमाह—नास्य स्तासत उत्पादो नापि सतो नाशः नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इति वचनात् यौ तु दृश्येते प्रतियस्तु उत्पादविनाशौ तदाविर्भावतिरोभावमात्रं यथा सर्पस्य उत्फणत्वविफणत्वे तस्मात्सर्वं वस्तु नित्यमिति एष च तन्मत-चिन्तायां संशयो—किं घटादिवत् द्रव्यार्थतया शाश्वती उत सकलकालमेकरूपेति ततः संशयापनोदार्थं भगवन्तं भूय पृच्छति 'पउमवर वइया मं' मित्यादि पद्मवरवेदिका प्राग्वत् भदन्त ! कालतः कियच्चिरं कियन्तं कालं यावद्भवति ? एवरूपा हि कियन्तं कालमवतिष्ठति इति ? भगवानाह—गौतम ! न कदाचिन्ना सीत् सर्वदासीदिति भावः अनादित्वात् तथा न कदाचिन्न भवति सर्वदैव वर्तमानकालचिन्तायां भवतीति भावः सदैव भावात् तथा न कदाचिन्न भवि ष्यति किन्तु भविष्यच्चिन्तायां सर्वदैव भविष्यतीति प्रतिपत्तव्यं अपर्यवसितत्वात् तदेवं कालत्रयचिन्तायां नास्तित्वप्रतिषेधं विधाय सम्प्रत्यस्तित्वं प्रतिपादयति 'भुविं च' इत्यादि अभूच्च भवति च भविष्यति चेति एवं त्रिकालावस्थायित्वात् ध्रुवा मेर्वादिवत् ध्रुवत्वादेव सदैव स्वस्वरूपनियता नियतत्वादेव च शाश्वती—शाश्वत वचनमावा शाश्वतत्वादेव च गगन गङ्गामि प्रभवाहप्रवृत्तावपि पौण्डरीकहृद द्यानेकपुद्गलविचटनेऽपि तावन्मात्रान्यपुद्गलोच्चटनसंभवादक्षया न विद्यते क्षयो- यथोक्तस्वरूपाकारपरिभ्रंशो यस्याः सा अक्षया अक्षयत्वादेव अव्यया—अव्ययशब्द वाच्या मनागपि स्वरूपचलनस्य जातुचिदप्यभावात् अव्ययत्वादेव सदैव स्वस्व- प्रमाणेऽवस्थिता मानुषोत्तरपर्वतः समुद्रवत् एव स्वप्रमाणे सदावस्थानेन चिन्त्य माना नित्या धर्मास्तिकायादिवत् ।

गायप्रसीयसुत्त विमान वर्णन (सूत्र ३४)

अत्थ उरियया णं भंते ! एवमाइक्खंति जाव परूवेंति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता एवंभूयं वेयणं वेदेंति से कहमेयं भंते ! एवं ? गोयमा ! जण्णं ते अन्नउत्थिया एवमाइक्खंति जाव वेदेंति जे ते एवमाहंसु मिच्छा ते एवमा हंसु अहं पुण गोयमा ! एवमाइक्खामि जाव परूवेमि अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता एवं भूयं वेयणं वेदेंति अत्थेगइया पाणा भूया जीवा सत्ता अनेवंभूयं वेयणं वेदेंति से केणट्ठेणं अत्थेगतिया ? तं चेव उच्चारेयव्वं गोयमा ! जे णं पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा तहा वेयणं वेदेंति ते णं पाणा भूया जीवा सत्ता एवं भूयं वेयणं वेदेंति जे णं पाणा भूया जीवा सत्ता एवं भूयं वेयणं वेदेंति जे णं पाणा भूया जीवा सत्ता जहा कडा कम्मा नो तहा वेयणं वेदेंति ते णं पाणा भूया जीवा सत्ता अनेवंभूयं वेयणं वेदेंति से तेणट्ठेणं तहेव । नेरइया णं भंते ! किं एवं भूयं वेयणं वेदेंति अनेवंभूयं वेयणं वेदेंति ? गोयमा ! नेरइया णं एवं भूयं वेयणं वेदेंति

न्तरपरिकल्पनायामनवस्थाप्रसङ्गः अतो नाभावपर्यन्तं भेदेऽभेदे वा संभवति-इति भेदाभेदलक्षणः स्याद्वादोऽकामेनाप्यभ्युपगन्तव्य इति ॥ आदिग्रहणात्स्थान्यादेश निमित्त निमित्ति प्रकृति विकारभावादिग्रहः ॥ किं च शब्दानुशासनमिदम् शब्दं च प्रति विप्रतिपद्यन्ते नित्य इत्येके अनित्य इत्यपरे नित्यानित्य इति चान्ये । तत्र नित्यत्वानित्यत्वयोरन्यतरपक्षपरिग्रहे सर्वोपादेयत्व विरहः स्यादिति आह—सर्वपार्षदत्वाच्चेति । स्वेन रूपेण व्यवस्थितं वस्तु तत्त्वं पृणाति पालयतीति प स एव इति सति पर्षत् । तत्र साधुः पर्षदोऽण्णी इति णे पार्षदं साधारणमित्यर्थः । अथवा पार्षदः परिचारक उच्यते । स च पर्षत्सा धारण इत्यर्थः । पार्षदत्वेन च साधारणत्वं लक्ष्यते । तेन सर्वेषां पार्षदं सर्वसाधारण-मित्यर्थः । इष्यते तत्त्वेमकेकेदैर्निभिरिति दर्शनानि मया । समस्तदर्शनानां यः समुदायः तत्साधारणस्याद्वादस्याभ्युपगमोऽतितर निर्दोष इत्यर्थः ॥ अतिव मतीयमिति ॥ जिनमताद् प्रवचनीयावयः इत्यनीयः पञ्चेव स्वोक्तेन प्रदयति-अन्योन्येत्यादि । साध्यधर्म वैचित्र्येण पच्यते व्यक्तीक्रियते इत्यादि मिरिति साधावादि इति से पक्ष साध्यधर्मविशिष्टो धर्मी । शब्दोऽनि त्य इत्यादि प्रतिकूलः पक्षः । अन्योन्य पक्षप्रतिपक्षास्तेषां भाव एकस्मिन्धर्मिणि परस्परविरुद्धधर्मोपन्यास इत्यर्थः । ततः ॥ यथेति दृष्टान्तोपन्यासे । परे भवत्का सनादन्ये सातिशयो मत्सरोऽन्तःकालुष्यमेषामतिशायने मत्वर्थीय मत्सरिणः ॥ प्रकर्षेणोच्यते प्रतिपाद्यते स्वाभ्युपगतोऽर्थो यैरिति व्युत्पत्तेः घञ इति घञिप्रवादा प्रवचनानि ॥ यथा परस्परविरोधात्परे प्रवादमत्सरिणो न तथा त्वत्समयः इति ॥ अत्र विशेषणद्वारेण हेतुमाह-पक्षपातीति । यतो रागनि-मित्तवस्तुस्वीकाररूपं पक्षं पातयति नाशयति-एवं शीलो रागस्य जीवनाश नष्टत्वात् ॥ अत्रैव हेतुमाह—नयानशेषानविशेषमिच्छन्निति । नयान् नैगमादीन् समस्तानविशेषमभेदं यथा भवत्येवमङ्गीकुर्वन् । अयं भाव । नयानां समस्तन वृत्तानां प्रागमयस्य पक्षस्य पतितत्वात्समयस्य मत्सरा भावः, परेषां तु विपर्यात् तत्सद्भाव इति सम्यगेति गच्छति शब्दो अर्थमनेनेति 'पुंसाक्षि' इति घे—समय संकेत । यद्वा सम्यगयन्ति गच्छन्ति जीवादय पदार्था स्वस्मिन्रूपे प्रतिष्ठां प्राप्नुवन्त्यस्मिन्निति समय आगम । मत्सरित्वस्य विधेयत्वात्तेनैव नञः संबन्धात् पर्युदासे शब्देन त्वत्स सम्बन्धात् प्रसज्यमेवाभावः ॥ यो नैकेनापि भक्त्यासि-नया इत्यादि । नीयते प्राप्यते जीवा द्यर्थोऽर्थो एकदेशविशिष्टा यैरिति नयाः निरवधारणा अभिप्रायविशेषाः । साव-धारणस्य दुर्नयत्वात् । समस्तार्थप्राप्तिस्तु प्रमाणाधीनत्वात् । ते च नैगमादय सप्त तत्र स्यात्पदेन विहिता अभिप्रेतं फलन्ति सिद्धाय च । अभिप्रेत फलं यस्य इति बहुव्रीहिर्वा ॥ प्रणता इति । प्रणमनुमारब्धवन्तः ॥— हितैषिण इति । विशेषण द्वारेण हेतु हितैषित्वादित्यर्थः ॥ आराद्दूरास्तिकया । सम्यग्ज्ञानाद्यात्मकमोक्षमार्गस्या-रात्समीपं याता प्राप्ताः दूरं वा पापक्रियाभ्या याता इत्यार्यो ॥ ननु अस्तु युक्ति युक्तः स्याद्वादस्तद्धीनस्याप्यकम्प्यसिद्धे तथापि अनभिहिताभिधेयमयाप्रमत्वात्कथमिदं

प्रेक्षावत्प्रवृत्तिविषयमित्याशङ्क्याह अथवेति। विधिकानामसाधुत्वविमुक्तानां शब्दानां प्रयुक्ते सम्यग्ज्ञानरूपा सिद्धिः। साधुशब्दाख्याभिधेयाः ॥ यमयमभिकस्य प्रवर्तेत तत्प्रयोजनमिति सम्यग्ज्ञानमनन्तरं प्रयोजनं तद्द्वारेण तु निःश्रेयसं परं परमिति। यतः द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ १ ॥ व्याकरणात्पदसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति। अर्थात्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः ॥ १ ॥ सम्बन्धस्तु–अभिधेयप्रयोजनयोः साध्यसाधनभावः शब्दानुशासनाभिधेययोस्तु अभिधानाभिधेयरूपः। स च तयोरेवान्तर्भूतत्वात्पृथग्नो पदर्शित इति ॥ ०

श्री हेमशब्दानुशासनम् (लघुवृत्ति) लघुन्यास

—oxo—

निर्वाण का सुलभ मार्ग और उसका लक्षण

—oxo—

(लेखिका श्रीमती विदुषीरत्न पण्डिता चन्दाबाईजी जैन, आरा)

कासवाद के सिद्धान्त के अनुसार सभी प्राणी अपने अभ्युदय के लिये प्रयत्न करते हैं। प्रत्येक जीव दुःख से छुटकारा चाहता है और अपनी कमजोरियों का अनुभव कर सुख दुःख के मिश्रित स्वरूप का उपभोग करता है। पर जिस जीव में जितना ज्ञान होता है वह उसी के अनुसार अपने जीवन का अध्ययन कर अपने मार्ग को समुन्नत बनाता हुआ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। देखा जाता है कि सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यपर्याप्त से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय तक सभी जीव अपनी भौतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति करते रहते हैं। निम्न श्रेणी के जीव जिनका ज्ञान आच्छादित है केवल आहार, निद्रा और मैथुन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति में ही अपना कर्तव्य निर्धारित कर लेते हैं, किन्तु जिनका ज्ञान विकसित है वे उक्त आवश्यकताओं की पूर्ति को ही सब कुछ नहीं समझते किन्तु इससे आगे भी विचार करते हैं। उनका जीवन प्रायः वायु भोजन वस्त्र और भवन तक ही सीमित नहीं होता बल्कि वे जीवन की जटिलताओं को सुलझाने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ज्ञानी-प्राणी और अज्ञानी प्राणी के कार्यों में अन्तर यही है कि एक के कार्य विवेक पूर्वक होते हैं और दूसरे के विवेक रहित। एक केवल दुःखों को सहन करता रहता है पर उनसे छुटकारा पाने के लिए यत्न नहीं करता और दूसरा दुःखों को सहन करते हुए भी उनसे कातर हो कर निवृत्ति का उपाय ढूंढता है। वह संसार के प्रत्येक चल-चित्र का अनुभव करता है और उन चित्रों को नश्वर समझकर उन्हें त्यागने का प्रयास करता है। अन्तिम यह प्रयास

चौरासीलाख योनियों में से केवल मनुष्य योनि में ही सम्भव है यही योनि उत्थान के लिए श्रेष्ठ है क्योंकि यहाँ आत्म-कल्याण के साधन सुलभता से मिल जाते हैं। यहाँ वे साधन प्राप्त हैं जिन के सदुपयोग से जीवात्मा चरम उन्नति रूप मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। यहीं आत्मा की विशुद्धावस्था है यहीं जीव को परमोत्कृष्ट सुख मिलता है। यहाँ जीव को कर्म बन्धन रहित स्वभावस्था मिल जाती है और जन्म मरण के दु खों से सदा के लिए छूट जाता है तथा अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन एवं अनन्तसुख आदि गुण प्रकट हो जाते हैं।

यह निर्वाणावस्था ससार के समस्त प्राणियों को जिनमें रत्नत्रय ग्रहण की योग्यता वर्तमान है प्राप्त हो सकती है। जो निवृत्ति-मार्ग पर चलते हैं उनके लिए यह अवस्था सुकर है उन्हें संसार की यातनाओं से सतत होना नहीं पड़ता किन्तु जो प्रवृत्ति मार्ग की ओर चलते हैं वे सकट के दलदल में फंस जाते हैं उनका उद्धार होना दुष्कर हो जाता है।

यद्यपि जो निवृत्ति मार्गावलम्बी हैं उन्हें आरम्भ में कष्ट सहन करने पड़ते हैं पर अन्तिम परिणाम मधुर सुखप्रद होता है। लेकिन प्रवृत्तिमार्गावलम्बियों को आरम्भ में क्षणिक सुख मालूम पड़ता है पर अन्तिम परिणाम महादुखप्रद होता है। अतः अन्तिम परिणाम का विचार कर श्रेष्ठप्राणी निवृत्तिमार्ग को ग्रहण कर आत्म कल्याण कर लेते हैं। तथा अज्ञानीजीव इसी संसारचक्र में पर्यटन करते रहते हैं। इन आत्म-कल्याण करने वालों की संख्या बहुत थोड़ी है क्योंकि अधिकांश प्राणी मोह और अज्ञान के फन्दे में ही फँसकर अपनी शक्ति को नष्ट किया करते हैं।

इस निर्वाण या मोक्ष के मार्ग के सम्बन्ध में विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मत हैं उनमें से यहाँ कुछ का निरूपण किया जायगा। जैन-दर्शन में मोक्ष का मार्ग रत्नत्रयसम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र माना है। जिस गुण के द्वारा सत्य की प्रतीति हो अथवा जिससे हेयोपादेय के यथार्थ विवेक की अभिरुचि हो वह सम्यग्दर्शन है। नय और प्रमाण के द्वारा होने वाला जीवादि तत्त्वों का यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान है और सम्यग्ज्ञानपूर्वक राग द्वेष और योग की निवृत्ति होकर जो स्वरूपरमण होता है वही सम्यक्चारित्र है। जब ये तीनों साधन परिपूर्ण रूप को प्राप्त होते हैं तभी मोक्ष सम्भव है अन्यथा नहीं। एक भी साधन की अपूर्णता में मोक्ष संभव नहीं है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की तेरहवें गुण स्थान में पूर्णता हो जाने पर चारित्र की अपूर्णता के कारण मुक्ति नहीं होती किन्तु चौदहवें गुणस्थान में तीनों की पूर्णता हो जाती है तभी मुक्ति होती है। तथा इन्हीं से बन्ध का अभाव और निर्जरा संभव है। कुछ लोग केवल ज्ञान से ही मोक्ष मानते हैं उनका खण्डन करते हुए स्वामी अकलंकदेव ने लिखा है कि— ज्ञानादेव मोक्ष इति चेन्नवस्थानादुपदेशाभावात् - यस्य ज्ञानादेव मोक्षस्तस्यानवस्थानादुपदेशाभावः यथा प्रदीपस्य तमो निवृत्तिहेतुत्वादपि सचिन मुहूर्त

मपि तमोऽवतिष्ठते । न ह्यलमस्ति प्रदीपस्य नाम ज्वलति तमस्यापतिष्ठत इति । तथात्मस्वरूपावबोधावर्मिवाणामतरमेवास्य मोक्षः स्यात्, न ह्येतदुक्तिमत् ज्ञान च नाम मोक्षस्य कारणमस्ति न च मोक्ष इति । ततो ज्ञानान्तरमेवास्य शरीरे म्रियमिवृत्तेः प्रवचनोपदेशाभावः ।" अर्थात् सिर्फ ज्ञान मात्र से ही मोक्ष नहीं हो सकता है क्योंकि ज्ञानानन्तर में ही मोक्ष प्राप्ति का प्रसंग आएगा तथा आप्तोपदेश भी नहीं बन सकेगा। कुछ लोग संस्कार क्षय से मोक्ष मानते हैं पर यह भी मार्ग निर्दोष नहीं है क्योंकि इसमें अनेक दोष आते हैं। जो ज्ञान और वैराग्य को मोक्ष का मार्ग बतलाते हैं वह भी युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता है, आप्तोपदेश का अभाव होने से तथा यथार्थ वस्तु श्रद्धान के अभाव में ज्ञान और वैराग्य की अनुत्पत्ति होने से।

वैशेषिक दर्शन के अनुसार निष्काम कर्म का आचरण तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति करता हुआ मोक्ष की उपलब्धि में कारण माना गया है अर्थात् निष्काम कर्मके सम्पादन से सत्त्वशुद्धि होती है सत्त्वशुद्धि का फल तत्त्वज्ञान का उदय है जो मिथ्याज्ञान निवृत्तिरूप व्यापार के द्वारा मोक्ष का मुख्य कारण है। इस प्रकार तत्त्व ज्ञान मोक्ष प्राप्ति का साक्षात् कारण और निष्काम कर्म-परम्परा सहायक मानी गई है लेकिन यह सिद्धान्त भी सम्यक् नहीं है क्योंकि तत्त्वज्ञान से आत्माके यथार्थ रूप की अनुभूति होने पर भी आत्मा के स्वरूपज्ञान के लिये आत्मेतर द्रव्यों की जानकारी आवश्यक है तथा आत्मा को विशुद्ध करने के लिये निवृत्ति मार्गरूप चारित्र भी परमावश्यक है, अतएव वैशेषिक सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित निष्कामकर्मपरम्परा कर्मबन्ध का साधन होने से कर्माभाव में सहायक नहीं हो सकती है। कारण स्पष्ट है कि कर्माभाव में कारण बन्धाभाव और निर्जरा ही है।

सांख्यदर्शन के अनुसार पुरुष तत्त्व शरीर तथा मन के ऊपर है प्रकृति बन्धनों से उन्मुक्त होने वाला अमरणधर्मा अपरिवर्तनशील नित्य सत्य पदार्थ है यह जानलेना ही पुरुष कैवल्य है। अतः व्यक्त अव्यक्त एवं ज्ञ के तत्त्वज्ञान से विवेक सिद्धि होती है जिसका फल निर्दोषन्दु खनिवृत्ति है। तात्पर्य यह है कि इस सिद्धान्त के अनुसार भी ज्ञान ही मोक्ष का मार्ग बतलाया गया लेकिन विचार करने पर यह सिद्धान्त भी पहले के समान ही सदोष प्रतीत होता है। क्योंकि जड़ प्रकृति का धर्म ज्ञान बतलाना कहाँ तक युक्तिसंगत है ?

बौद्धदर्शन के अनुसार बुद्ध धर्म और संघ की शरण में पहुँच कर अपने को अपण कर देने पर सदाचरण से निर्वाण प्राप्ति बताई गई है। लेकिन विचार करने पर यह मार्ग भी उत्तम नहीं होगा क्योंकि केवल सदाचरण से कैवल्य प्राप्ति संभव नहीं। अतः संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि जैनाचार्य द्वारा अभिमत मोक्ष मार्ग ही समीचीन है।

निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में भी विभिन्न सम्प्रदाय के विविध मत हैं। चार्वाक दर्शन बताता है कि—" स्वातन्त्र्यं मृत्युर्मरणं वा मुक्तिः" अर्थात् संसार में

आनन्द पूर्वक 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' वाली कहावत के अनुसार स्वतन्त्रता से रहना या मर जाना ही निर्वाण है। इस दर्शन का तात्पर्य यह है कि सांसारिक सुखों को ही मुक्ति माना गया है सांसारिक इन्द्रिय-जन्य सुखों से भिन्न कोई मुक्ति नहीं है, क्योंकि इस मत के अनुयायी दार्शनिकों ने पुनर्जन्म आत्मा की शरीर से भिन्न स्थिति मानी नहीं है, अतएव सुखपूर्वक शरीर की स्थिति रखना ही मुक्ति बताई है। लेकिन कोई भी समझदार व्यक्ति इस सिद्धान्त को नहीं मान सकता है क्योंकि आजकल के वैज्ञानिकों ने अनेक पुष्टप्रमाणों से पुनर्जन्म और शरीर से भिन्न आत्मा की स्थिति सिद्ध कर दी है।

मीमांसक मत के प्रवर्तक स्वर्गादि सुखों का ही अपवर्ग बतलाते हैं लेकिन यह सिद्धान्त भी समीचीन नहीं है, क्योंकि स्वर्ग-सुख भी इच्छा जन्य होने के कारण वास्तविक सुख नहीं हो सकता है। कारण स्पष्ट है कि सांसारिक सभी इच्छाओं की पूर्ति जीवन में संभव नहीं क्योंकि इच्छाओं का यही स्वभाव है कि एक इच्छा के पूर्ण होने के पहले अन्य सैकड़ों इच्छायें उत्पन्न हो जाती हैं और उन सब इच्छाओं की तृप्ति होना सम्भव नहीं, यदि हो भी तो तब तक वैसी ही हजारों इच्छायें और पैदा हो जाती हैं जिनका पूर्ण होना इस जीवन में संभव नहीं। अतः संसार में इच्छा-पूर्तिजन्य सुख की अपेक्षा अपूर्ण-इच्छाजन्य दुःख अधिक रहता है इसीसे सांसारिक सुख को सुखाभास कहा गया है किन्तु निर्वाण के सुखकी स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है क्योंकि वहां इच्छाओं का अभाव रहता है और स्वाभाविक सन्तोष प्रकट हो जाता है इससे उसमें सन्तोषजन्य सुख ही सुख है तथा यह सुख नित्य और अविनाशी होता है संसार के सुख के समान क्षणिक नहीं।[11]

शून्याद्वैतवादी माध्यमिक कहते हैं कि आत्मसन्तति का उच्छेद हो जाना मुक्ति है अर्थात् मुक्त होने पर आत्मा शून्य में मिल जाता है। जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है उसका बुझने पर कुछ भी अस्तित्व नहीं रहता उसी प्रकार निर्वाण हो जाने पर आत्मा भी शून्य में लय हो जाता है। विचार करने पर यह सिद्धान्त भी निराधार प्रतीत होगा। जिस निर्वाण में गांठ की पूंजी आत्मा ही नष्ट हो जाता हो उस निर्वाण को कौन प्राप्त करेगा यदि किसी व्यापारी को व्यापार में लाभ होने के बदले उसकी मूल पूंजी नष्ट होने की संभावना हो तो वह क्यों व्यापार करेगा![12]

विज्ञानाद्वैतवादी योगाचार बौद्ध कहते हैं कि 'भावनाप्रचयाधिपतिनिखिलदुःखवासनोच्छित्ती विषयाकारोपप्लवमार्जन विशुद्ध विज्ञानसन्तानोदयो मोक्ष इति' अर्थात् भावना के प्रकर्ष से दुःख वासनाओं के नष्ट हो जाने पर विषयाकार उपप्लव के अभाव से विशुद्ध विज्ञान सन्तति की उत्पत्ति ही मोक्ष है। तर्क की कसौटी पर कसने पर यह सिद्धान्त भी खरा नहीं उतरता है क्योंकि वासना और दुःख के नष्ट हो जाने पर केवल विशुद्ध ज्ञान का ही आविर्भाव नहीं होता, बल्कि अनन्तसुख अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्यादि गुण भी आविर्भूत हो जाते हैं। केवलज्ञान का नाम ही मोक्ष नहीं है बल्कि ज्ञान के साथ चारित्र की पूर्णता से जो आत्मा की विशुद्ध अवस्था प्राप्त

होती है यही मोक्ष है। इस विशुद्ध आत्मा में अनन्तगुण रहते हैं। अतएवमात्मा द्वैत के सिद्धान्तानुसार निर्वाण का लक्ष्य नहीं बन सकता है।

अरनैयायिकों का मत है कि " स्वसमानाधिकरण दुःखप्रागभावासमानकालीनदुःखध्वंसः मुक्तिः "अर्थात् प्रागभाव के असमानकालीन दुःख का ध्वंस हो जाना जिस दुःख के नष्ट हो जाने पर दुःख का प्रादुर्भाव न रहे उनका आत्यन्तिक विनाश हो जाना ही मुक्ति है। इस सिद्धान्त में छः इन्द्रियां, छः इन्द्रियों के विषय छः बुद्धियां पदार्थों के ज्ञान सुख दुःख और शरीर के अत्यन्त विनाश हो जाने पर मुक्ति मिलती है। विचार करने पर यह सिद्धान्त भी गलत प्रतीत होता है क्योंकि जिस निर्वाण में ज्ञान और सुख नष्ट हो जाते हैं उस निर्वाण को कौन स्वीकार करेगा ? संसार में जीव के लिए दो चीजें अभ्युदयकारक मानी जाती हैं—सुख और ज्ञान इन दोनों की पराकाष्ठा मोक्ष में होती है इसीलिए जीव निर्वाण प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है।

प्रभाकर मतानुयायी कहते हैं कि " आत्मज्ञानपूर्वकवैदिककर्मानुष्ठानाद्धर्माधर्मयोः क्षये देहेन्द्रियाद्यत्यन्तोच्छेदः मुक्तिः अर्थात् आत्मज्ञान हो जाने पर वैदिक यज्ञ-यागादि कर्मों के अनुष्ठान से धर्म और अधर्म का नाश हो जाने पर शरीर और इन्द्रिय आदि का अत्यन्त विनाश हो जाना ही मुक्ति है। यह मुक्ति का लक्षण भी सदोष है क्योंकि मोक्ष के लिए जिस सम्यक्चारित्र की आवश्यकता है उस सम्यक्चारित्र का कथन यहाँ नहीं किया गया है। यज्ञ-यागादि कर्मों के अनुष्ठान से तो सांसारिक कर्मों का ही बन्ध होगा उनसे शरीर और तज्जन्य वासना का अभाव नहीं हो सकता है। अतः प्रभाकर सम्मत मुक्ति ठीक नहीं है।

शैव मतानुयायी बतलाते हैं कि पशुपतिपूजनाज्जीवरूपपशोर्बन्धनरूपपाशनिवृत्तौ नित्यं पशुपतिसमीपस्थितिरिति" अर्थात् शिवजी की उपासना से जीव रूप पशु को बन्धनरूप पाश से छूट जाने पर हमेशा पशुपति के पास रहना ही मोक्ष है। यह लक्षण अत्यन्त दोष-युक्त है क्योंकि केवल उपासना मात्र से आत्मा कर्मबन्धन रहित नहीं हो सकती है कर्म बन्धन से मुक्त होने के लिए सम्यक् विवेक और सम्यक्चारित्र की आवश्यकता है। शिवोपासना के लिए अनेक राग द्वेषमय आडम्बरों की आवश्यकता रहती है पर आडम्बर सहित उपासना से मोक्ष कदापि संभव नहीं। एक बात विचारणीय यह भी है कि भक्ति राग का ही अंग है अतः रागात्मिका भक्ति से पुण्यबन्ध भले ही हो पर कर्मनाश कदापि नहीं हो सकता। कर्मनाश करने के लिए तो ध्यान रूपी अग्नि की आवश्यकता है इसके बिना कर्मों की वृद्धि ही सम्भव है ह्रास नहीं। अतः शैव-सिद्धान्त के अनुसार मुक्ति सिद्ध नहीं हो सकती है।

वैष्णव धर्म मानने वालों का कहना है कि " पञ्चरात्रादिशास्त्ररीत्या वैष्णवधर्मानुष्ठानसम्पन्नविष्णुप्रसादस्य विष्णुलोकस्थितिः अर्थात् पञ्चरात्र आदि शास्त्रों में वर्णित विधि से वैष्णव धर्म का आचरण करने से विष्णु की कृपा होने पर

विष्णुलोक में रहना ही मुक्ति है। इस मत में भी शैव मत के समान दोष हैं क्योंकि कर्मबन्धन से छूटने के लिए आत्मविस्तार अर्थात् सम्यग्दर्शनादि ही कारण हो सकते हैं। इसके लिए किसी की कृपा की क्या आवश्यकता है ? यदि कृपा, अकृपा से मुक्ति मिल जाया करे तो फिर संसार में सदाचरण और तपश्चरण आदि की कुछ भी आवश्यकता न रहे। तथा कृपा राग का अंश होने के कारण कर्म नाशक नहीं हो सकती है।

वेदान्तदर्शन के अनुसार "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार जीव और ब्रह्म का अभेदरूप से साक्षात्कार हो जाने पर संपूर्ण उपाधियों से रहित आत्मा का शुद्धस्वरूप से अवस्थान ही मोक्ष है। युक्ति की कसौटी पर कसने से यह सिद्धान्त भी सदोष मालूम पड़ता है क्योंकि शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त और कोई ब्रह्म नहीं है। वेदान्ती ब्रह्म का अलग अस्तित्व मानते हैं और वे आत्मा को उसीका अंश बतलाते हैं लेकिन यह संभव नहीं है। हम प्रत्यक्ष रूप से संसार में अनन्त आत्माओं का अस्तित्व देखते हैं फिर एक ब्रह्म कैसे कहा जाय। इस सिद्धान्त के अनुसार संसार की स्थिति भी सिद्ध नहीं हो सकती है अतः ब्रह्मप्राप्ति का नाम मुक्ति नहीं हो सकता है।

रामानुज सम्प्रदाय वाले विशिष्टाद्वैतवादियों का कहना है कि सर्वकर्तृत्व गुण को ईश्वर का ही धर्म हो सकता है उसे छोड़ अन्य सर्वज्ञत्वादि गुणों की प्राप्ति हो जाना ही मुक्ति है। पर यह लक्षण भी ठीक नहीं जँचता है क्योंकि कर्तृत्व आदि गुण सम्भव नहीं है तथा विशुद्ध आत्मा के अतिरिक्त और कोई ईश्वर संभव भी नहीं है अतः ईश्वर के सामीप्यलाभ को मुक्ति नहीं कह सकते हैं। अधिक विचार करने पर इस सिद्धान्त में और भी दोष आयेंगे, क्योंकि सिद्धावस्था में आत्मा में अनन्त गुणादि सभी गुण प्रकट हो जाते हैं वहां स्वतन्त्रता रहती है उसे ईश्वराधीन नहीं बसना पड़ता उस समय तो आत्मा स्वयं ही ईश्वररूप होता है। क्या कोई भी विचारशील परतन्त्रतारूप मोक्ष को स्वीकार करेगा। जब सांसारिक कार्यों में लोग स्वतन्त्रता चाहते हैं तथा इस स्वतन्त्रता के लिए खून की नदियाँ बहाई जाती हैं फिर मोक्ष में कोई परतन्त्रता कैसे चाहेगा।

वल्लभ सम्प्रदाय के अनुसार "गोलोके श्रीकृष्णेन सह रासक्रीडाद्यनुभवो मोक्ष इति" अर्थात् गोलोक में श्रीकृष्ण के साथ रासलीलादि क्रीड़ाओं का अनुभव कर लेना ही मोक्ष है। तर्क की कसौटी पर कसने से यह सिद्धान्त और भी अधिक दूषित मालूम पड़ता है। रासलीला आदि क्रीड़ायें तो सांसारिक हैं इन की उत्पत्ति भी वासनाओं से होती है अतः ये क्रियायें मोक्ष में कैसे बन सकती हैं। यदि रासलीला का नाम ही मोक्ष मान लिया जाए और श्रीकृष्ण के साथ गोलोक में रागात्मक क्रीड़ायें ही सब कुछ मान ली जायें तो संसार और मोक्ष में कुछ भी भेद नहीं रहेगा अतः विभिन्न मतों के द्वारा जो मुक्ति का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है यह ठीक नहीं है। केवल जैनदर्शन में जो मुक्ति का स्वरूप बताया है वह निर्दोष और बुद्धि

माही है। जैनाचार्योंने "बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः" यह मोक्ष का लक्षण बताया है। स्वामी अकलंक देव ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए निम्न प्रकार लिखा है कि संवर और निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों का अभाव होता है।

मिथ्यादर्शनादिहेत्वभावादभिनवकर्मादानाभाव— मिथ्या /दर्शनादीनां पूर्वोक्तानामेव कर्मास्रवहेतूनां निरोधिकारणसंनिधानात् कर्माभाव इत्यभिनवकर्मादानाभावः।

पूर्वार्जितनिर्जराहेतुसन्निधाने चार्जितकर्मनिरास— पूर्वार्जितानां निर्जराहेतूनां सन्निधानेऽर्जितस्य च कर्मणो निरासो भवति। ताभ्यां बन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यामिति हेतुलक्षणविभक्तिनिर्देशस्ततो भवस्थितिहेतुसमीकृतशेषकर्मावस्थस्य युगपदात्यन्तिकः प्रत्येतव्यः। कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष। उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि सम्पूर्ण कर्मों के अभाव का नाम ही मोक्ष है इस निर्वाणावस्था में सुख का वर्णन करते हुए बताया है कि—

> जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
> निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम्॥
> विद्यादर्शनशक्तिस्वास्थ्य प्रह्लादतृप्ति शुद्धियुजः।
> निरतिशया निरवधयो निःश्रेयसमावसन्ति सुखम्॥

अर्थात् जन्म मरण जरा रोग शोक, दुःख से रहित शुद्ध सुख सहित नित्य और निरन्तराय निःश्रेयस अर्थात निर्वाण होता है। वहाँ का सुख अतीन्द्रिय होता है यह केवल गूंगे के गुड़ के समान अनुभवगम्य है उसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता। अतः सांसारिक परावलम्ब के बंध को नष्ट करने के लिए जैनाचार्य द्वारा प्रतिपादित रत्नत्रय मार्ग पर चलकर सर्वकर्मविप्रमोक्ष रूप निर्वाण को प्राप्त करना चाहिए।

शाश्वत प्रेम और त्याग का धर्म

श्री रामनाथ 'सुमन' -

न और हिन्दू दोनों अपनी दैनिक जीवन-विधि में इतने मिल गये हैं कि सामान्य रूपसे हिन्दू समाज और जनसंख्या में ही जैनों की गणना की जाती है। भाज के बौद्धों से जैनों में भारतीय संस्कृति और जीवन धर्म का अधिक स्वभाविक विकास दिखाई पड़ता है। खान-पान रहन-सहन भाषा व्यवहार सब में हिंदू और जैन प्रायः एक है। हिन्दू संस्कृति को सार्वदेशिक रूप देने और विश्व-कल्याण की सर्वाहिका शक्ति बनाने में जैन धर्म और दर्शन की देन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

बाल की खाल निकालने वाले वाग्जालवादी तार्किकों की बातों से ऊपर उठकर उदार तथा विशद दृष्टि से देखें तो जिसने जैनियों को नास्तिक कहा उसकी संकुचितता पर आश्चर्य और क्षोभ होता है। जैन दर्शन उच्च कोटि का आत्मवादी दर्शन है। वैदिक संस्कृति के विकास काल में इसका उद्भव हुआ। भारतीय सभ्यता के आविष्कार में स्वभावतः मानवहृदय की दो प्रवृत्तियों के दर्शन हमें होते हैं— १ जाति के गठन के लिए बाह्याचार प्रधान ओजस्वी युद्धप्रिय अपने अस्तित्व की रक्षा में प्रयत्नशील लोगों की क्षात्र प्रवृत्ति, २ आत्म-संस्कार, आत्मदर्शन आत्म निरोध त्याग-तप की ब्राह्मण संस्कृति। पहली बहिर्मुखी और दूसरी अन्तर्मुखी थी। स्वभावतः पहली में कर्मकाण्ड की प्रधानता आई और दूसरी में आत्मसंस्कार की भावना जगी। जब मैं इन्हें क्षात्र और ब्राह्मण वृत्ति कहता हूँ तब इन दो वर्णों के स्थूलार्थ से भिन्न मेरा तात्पर्य है। एक ब्राह्मण तत्त्वतः अब्राह्मण हो सकता है होता है, एक क्षत्रिय तत्त्वतः ब्राह्मण हो सकता है होता है। वैदिक काल की सभ्यता ज्यों-ज्यों आगे बढ़ी इन दो प्रवृत्तियों की विषमताएं भी घनीभूत होती गईं। समाज का एक वर्ग ब्राह्मण और पुरोहित जिसके नेता थे कर्मकाण्ड में इतना लिप्त होगया कि अपनी अन्वेषणा शक्ति एवं चिन्तना को पंगु कर बैठा। वह मंत्रों के बाह्य अर्थ और शरीर से चिपटकर बैठ गया और स्वतंत्र चिन्तन पथ उन मंत्रों के व्यंगार्थों एवं आत्मा को समझने तथा ग्रहण करने से इन्कार कर दिया। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में इन दो भिन्न प्रवृत्तियों और विचारधाराओं के दर्शन होते हैं कभी एक की प्रबलता हो जाती थी कभी दूसरे की। विकास के साथ साथ इनमें स्वभावतः संघर्ष और विरोध हुआ। एक ने यज्ञ में पशु-बलि को प्रधानता दी, दूसरे ने यज्ञ का अर्थ आत्म-बलिदान किया और अहिंसा को जीवन-के रूप में प्रतिष्ठा की। इस प्रकार अहिंसा और हिंसा के समर्थकों का संघर्ष आरम्भ हुआ। यह संघर्ष बाद में इतना व्यापक होगया कि समस्त सम्प्रदाय

दो वर्गों में विभक्त होगया। ऋषियों में, तपस्वियों में भी हिंसा अहिंसा को लेकर दो सम्प्रदाय हो गये। इसीलिए वैदिक ऋचाओं में हम हिंसा और अहिंसा दोनों का समर्थन एक साथ पाते हैं। एक ओर मा हिंस्यात् सर्वभूतानि कहकर जहाँ सर्व जीवों की हिंसा का निषेध है तहाँ 'सर्वमेधे सर्वं हन्यात्' कहकर सर्वमेध यज्ञ में सब प्रकार के पशुओं की हिंसा का आदेश है। इससे प्रकट होता है कि ऋषिगण भी दो सम्प्रदायों में विभक्त होगया था। विश्वामित्र और वशिष्ठ का संघर्ष इसका एक उदाहरण है। इस सम्बन्ध में सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि पशु-बलि का विरोध करने वालों में क्षत्रियों की प्रधानता थी। और पशु बलि के समर्थकों का नेतृत्व ब्राह्मणों तथा पुरोहित वर्ग के हाथ में था। ब्राह्मण काल में तो यह विरोध इतना उग्र होगया था कि कुरु पांचाल प्रदेश के निवासियों को ब्रह्मावर्त के पूर्वीय प्रदेशों में जाने का निषेध किया गया। कुरुपांचाल देश में पुरोहित वर्ग का प्राधान्य था तथा काशी कोशल मगध और विदेह में अहिंसक यज्ञ के समर्थक क्षत्रियों की प्रधानता थी। शतपथ ब्राह्मण में कुरुपांचाल देश के पुरोहितों को इन प्रदेशों में न जाने का आदेश करते हुए कहा गया है कि पूर्व के क्षत्रियों ने अपनी पवित्रता खो दी है यज्ञ करने का वैदिक धर्म त्यागकर एक नूतन धर्म को ग्रहण किया है। जिसमें यज्ञ तथा पशुबलि का निषेध है। इसलिए उचित नहीं कि यहाँ के ब्राह्मण वहाँ जाकर अपमानित हों। यह एक उल्लेखनीय बात है कि आज भी इन पूर्वी प्रदेशों के हिन्दू विशेषतः ब्राह्मण पश्चिमी भाग के ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक शाकाहारी हैं।

इन दो वर्गों एवं देशों का संघर्ष चलता रहा और उपनिषत्काल में पुरोहित वर्ग की प्रधानता नष्ट होगई, आत्मविद्या और तपस्या को उच्चतम मानवधर्म स्वीकार किया गया। कुरुपांचाल के ब्राह्मण पूर्वी प्रदेशों की राजसभाओं में गये और उन्होंने नवीन धर्म की दीक्षा ग्रहण की इस नवीन धर्म में विश्वमैत्री एवं अहिंसा का जो तत्त्व आया उसी को जैन धर्म तथा बौद्धधर्म का आदि स्रोत कहना चाहिए। इससे सिद्ध होता है कि मनुष्य में शाश्वत प्रेम और शान्ति की जो प्यास थी उसी की पूर्ति एवं सिद्धि के प्रयत्न से एक नवीन संस्कृति का जन्म हुआ जिसका परवर्ती रूप श्रमण संस्कृति है। महावीर और बुद्ध दोनों ने इसी पूर्वीय प्रदेश में जन्म लिया। यहाँ एक और तथ्य की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। हिन्दू धर्म में ईश्वर के जितने अवतार माने गए सबने प्रायः क्षत्रिय जन्म ग्रहण किया। बुद्ध भी क्षत्रिय राजकुटुम्ब में जन्मे। जैन धर्म में भी यही बात दिखाई देती है। ऋषभ से महावीर तक सभी तीर्थंकर उच्च क्षत्रिय राजकुटुम्बों में जन्मे।

इस विश्लेषण से दो निष्कर्ष निकलते हैं—

१ जैन धर्म तत्त्वरूप में वैदिक धर्म की भांति ही प्राचीन है

२. यह वैदिक धर्म की अहिंसाप्रधान विचारधारा से निकला है। *
उसे अवैदिक इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि उसने वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड का तिरस्कार करके उसकी भावभावना उसकी आत्मानुसंधान की वृत्ति का अधिक आदर किया।

बहुत दिनों तक यह भावधारा सैद्धान्तिक रूप में रही। परन्तु ईसा के जन्म के सात आठ सौ वर्ष पूर्व इसने संघटित रूप धारण किया। श्रमण संघ का जन्म हुआ। महावीर के समय में इसका संगठन और विस्तृत एवं सुदृढ़ हुआ। बुद्ध के पश्चात् श्रमण संघ भी दो भागों (जैन और बौद्ध) में बँट गया। दोनों की मूल भावना (अहिंसा जीवन धर्म है) एक ही थी। केवल व्यवहार विधि और व्याख्या में भेद था।

एक और उल्लेखनीय बात यह है कि श्रमण संघ राजनीतिक दृष्टि से लोक समूह की चेतना का प्रतिनिधि और प्रभुता प्राप्त वर्ग के प्रति विद्रोह का प्रतीक था। इसने धर्म को सरल किया, उसमें दया प्रेम अहिंसा समत्व की प्रतिष्ठा की। प्रचलित लोकभाषाओं को अपनाया और उन साधारण भाषाओं में जीवन सम्बन्धी जटिल और महत्त्वपूर्ण प्रश्नों की मीमांसा की। इसने मानव-जीवन के आध्यात्मिक सत्यों और उन्हें प्राप्त करने के लिए सद्गुणों पर जोर दिया। इसने शुद्ध चिन्तन शुद्ध विश्वास और शुद्ध कर्म पर जोर दिया। इसने जातियों एवं वर्णों के कठोर बन्धनों से लोगों को बाहर निकाला और प्रत्येक मनुष्य को आश्वासन दिया कि वह अपने कर्मों से पुरुषार्थ से, शुद्ध एवं सच्चे जीवनविधान

---

* जैनधर्म जिस विचारधारा से निकला है वह अहिंसाप्रधान विचारधारा वैदिक धर्म की थी यह बात प्रमाणित करने के लिए विद्वान लेखक ने कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया। जिस विश्लेषण का यह निष्कर्ष निकाला गया है वह विश्लेषण भी अयथार्थ है। भारतीय सभ्यता के आदिकाल की दो प्रवृत्तियों का श्रमणप्रवृत्ति और ब्राह्मण संस्कृति का नामकरण भी सही शब्दों में नहीं किया गया है। यही कारण है कि आगे चलकर लेखक महोदय को स्वयं बड़े आश्चर्य में पड़ना पड़ा है। लेखक कहते हैं—'सब से बड़े आश्चर्य की बात तो यह है कि पशुबलि का विरोध करनेवालों में क्षत्रियों की प्रधानता थी और पशुबलि के समर्थकों का नेतृत्व ब्राह्मणों और पुरोहित वर्ग के हाथ में था। मगर ऐसी कौन-सी घटना घटी कि श्रमणप्रवृत्ति को ब्राह्मणों ने और ब्राह्मण संस्कृति को क्षत्रियों ने अपना लिया?' वस्तुतः यह परस्पर विरोधी कथन है। लेखक महोदय के कथन से साबित होता है कि भारतीय सभ्यता की आदिकालीन प्रवृत्तियाँ वह नहीं थीं जो यहाँ बतलाई गई हैं। आदि काल से ही भारतीय संस्कृति में दो विचार धाराएँ प्रचलित अवश्य थीं किन्तु वह बाह्याचार प्रधान ऋषिप्रवृत्ति और आत्मसंस्कार आदि प्रधान ब्राह्मण संस्कृति नहीं थीं, वरन् बाह्याचार प्रधान और आत्मसंस्कार प्रधान विचारधाराएँ ही थीं, आगे चलकर यही क्रमशः ब्राह्मणसंस्कृति और श्रमणसंस्कृति कहलाईं। ऐसी स्थिति में जैनधर्म को वैदिक धर्म की अहिंसा प्रधान विचार धारा से निकला कहना इतिहास के अनुकूल नहीं है।

— सम्पादक

से सर्वोत्तम आध्यात्मिक मर्यादा प्राप्त कर सकता है। उसमें जटिलताओं एवं कुटिलताओं के बन्धन से मानव को मुक्त करके तपस्या, त्याग और प्रेम व अहिंसा की ओर प्रेरित किया। अहिंसक होने के कारण स्वभावतः उसमें जीवन में वैराग्य तपस्या और अपरिग्रह पर ज़ोर दिया और प्रत्येक वर्ग के लिए एक ही लक्ष्य की ओर ले जाने वाली पर, सरल एवं व्यावहारिक जीवन नीति का विधान किया। उसने सर्वकर्मक्षय द्वारा प्राप्त होने वाले मोक्ष के जटिल रहस्यों में लोकजीवन को न डालकर उसके लिए सरल एवं नीतिप्रधान जीवन व्यवस्था रची। उसने इस सत्य को अनुभव किया कि सर्वकर्मक्षय सामान्य मनुष्य की समझ में न आयेगा इसलिए बुरे कर्मों के त्याग का विधान उसके लिए किया। बुरे कर्मों को छोड़ने एवं उसके लिए सत्य अहिंसा अस्तेय ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह को अपनाने से मनुष्य स्वयं शुद्ध अध्यात्म-पथ एवं लक्ष्य की ओर प्रभावित होगा। जब मनुष्य सत्य को अपनायेगा और असत्य का त्याग करेगा तो स्वतः सर्वोच्च सत्य की अनुभूति उसमें जाग्रत होगी। इसीप्रकार जो अहिंसा को अपनायेगा वह पशुन से मनुष्यत्वकर तथा मानव जाति के लिए हानिकर कर्मों से अपने को अलग रखेगा। अस्तेय को अपनाने से अन्य व्यक्तियों के अधिकार हड़पने से बचेगा तथा उपार्जन में भी दूसरों को हानि न पहुँचे इसका ख्याल रखेगा, ब्रह्मचर्य से शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वास्थ्य कायम रखेगा। अपरिग्रह द्वारा समाज में विषमता उत्पन्न होने की क्रिया रुक जायगी।

जैनदर्शन के तत्त्वों की मीमांसा करने से अनेक गूढ़ सत्यों एवं रहस्यों का भान होता है पर यहाँ मैं उन जटिल प्रश्नों को न उठाऊँगा। उसके लिये विद्वानों की लेखनी है। मैंने तो विविध धर्मों के एक विद्यार्थी के नाते ये बातें लिखी हैं। मेरी समझ से जैनधर्म मानव हृदय के शाश्वत प्रेम तत्त्व का सम्मानीकरण है। और चूँकि प्रेम त्याग और वैराग्य के बिना टिकता नहीं। उसमें तो देना ही देना है त्याग ही त्याग है इसलिए अहिंसा और प्रेम के साथ त्याग और तप के प्रति गहरी निष्ठा इस धर्म में आई। सबसे बड़ी बात जो मैं देखता हूँ वह जैनधर्म का समन्वयात्मक रूप है। इस विषय में वह अपने सहयोगी बौद्ध धर्म से भिन्न है। इसमें सहिष्णुता सामञ्जस्य के तत्त्व बहुत अधिक हैं। इसने अन्य धर्मों द्वारा प्राप्त सत्यों का विरोध नहीं किया और न किसी ग्रंथ विशेष में अपने को आबद्ध किया। इसने घोषित किया कि सब वीतराग महात्माओं द्वारा प्रतिपादित शिक्षाएँ ही धर्म का मूल है। जिसने सच्ची तपस्या से इन्द्रियों पर प्रभुत्व प्राप्त किया है। जिसका कर्मों के प्रति आग्रह नहीं रह गया है। जिसके हृदय में करुणा का स्वाभाविक उद्रेक है। जिसके बन्ध नष्ट हो गये हैं और जो निर्ग्रन्थ हो गया है उसकी बातों को मानना और उसका अनुगमन ही धर्म है। महावीर स्वयं कहते हैं—

कुप्पवयणपासंडी, सव्वे उम्मग्गपट्ठिया ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ।

भावार्थ यह है कि हिंसामय दूषित वचन बोलनेवाले सभी उन्मार्गगामी हैं। रागद्वेष रहित आप्त पुरुषों का बताया हुआ मार्ग ही सन्मार्ग है। और यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

उन्होंने गीता की अनासक्ति भावना और साम्यत्व की भावना ग्रहण की। नीचे देखिए, मानो गीता ही बोल रही हो—

निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तगारवो ।
समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ॥
लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निंदापसंसासु, समो माणावमाणओ ॥

भावार्थ—महापुरुष वही है जिसने ममता, अहंकार, संग, बड़प्पन आदि का पूर्णतः त्याग कर दिया है और जो प्राणिमात्र के प्रति समभाव रखता है। (महापुरुष वही है) जो लाभ-हानि, सुख-दुःख, जीवन-मरण, प्रशंसा-निन्दा, मान-अपमान में एक समान रहता है।

जैन धर्म ही ने जिस अहिंसा, अपरिग्रह और शान्ति का सन्देश मानव को दिया है उसका महत्त्व आज तो और भी अधिक है। स्वार्थ, धनलिप्सा, भौतिकता और घोर हिंसा के इस युग में जब मनुष्य ही मनुष्य के विनाश की क्रिया में दक्षता प्राप्त करता है, जब आधिपत्य की स्पृहा ही श्रेष्ठ संस्कृति की प्रतीक बन गई है तब महावीर की वाणी—

'हणन्तं वाऽणुजाणाइ वेरं वड्ढइ अप्पणो'

(वैर से वैर की शान्ति नहीं होती, अवैर से ही वैर जीता जाता है)

और

'लोभो सव्वविणासणो'

(लोभ ही सर्वनाश का मूल है)

अन्धकार में विद्युत् रेखा की भाँति चमक रही है। महावीर से गांधी तक भारत ने अहिंसा, प्रेम और शाश्वत शान्ति धर्म का सन्देश बराबर कायम रखा है। यही मानव जीवन का शाश्वत सन्देश है।

जैन आगम में प्रमाद का स्थान

लेखक—श्री बाबूरामजी सक्सेना एम. ए. डी. लिट्. प्रयाग

भारतीय दर्शन में किसी सम्प्रदाय में प्रवृत्ति और किसी में निवृत्ति मोक्ष का साधन है। ईशोपनिषद् का यह आदेश—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।

काम करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे तथा भगवद्गीता का यह उपदेश—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

"इसलिए निःसंग होकर निरन्तर करने योग्य काम कर।"

प्रवृत्ति की ओर प्रेरित करते हैं। भक्ति मार्ग भी प्रवृत्ति का ही एक निर्दोष रास्ता है। निवृत्ति का अत्यन्त वैज्ञानिक प्रतिपादन जैन आगम में मिलता है जीव और अजीव का भेद समझ लेने पर और यह ज्ञान हो जाने पर कि पृथिवी आदि महाभूतों में भी जीव का अस्तित्व है विवेकशील मनुष्य के लिए समस्त कर्म के त्याग के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह जाता। फिर तो यदि मनुष्य कर्म करता है तो केवल प्रमाद के वश में पड़कर। इस प्रमाद का बड़ा सुन्दर दिग्दर्शन आचारांग-सूत्र में इस प्रकार कराया गया है—

वसे पमत्ते अहो य राओ परितप्पमाणे
कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुम्पे सहसाक्कारे विणि
विट्ठचित्ते एत्थ सत्थे पुणो-पुणो

और—

इह से पमत्ता से हन्ता छेत्ता भेत्ता लुम्पित्ता विलुम्पित्ता
उद्दवेत्ता उत्तासइत्ता अकडं करिस्सामि त्ति मण्णमाणे

[प्रमादग्रस्त जन दिनरात दुखी रहता है। समय कुसमय उठनेवाला प्रयोजन रूपी बन्धन में लगा हुआ धन लोलुप लूट-खसोट करनेवाला, बलात्कार से काम करनेवाला विविध चीजों में चित्त फसाए हुए (यह प्रमत्त) बार बार (अन्य जीवों का) "नाश हिंसक" बनता है (और इस कारण भवसागर का पार नहीं कर पाता)]

इस संसार में जो प्रमाद में फंसा है—वह (दूसरों को) मारता है काटता है फाड़ता है लूटता है नाश करता है डराता है धमकाता है। समझता है कि मैं ऐसी बात कर सकूंगा जो अभीतक किसी ने नहीं की।

यह प्रमाद है। यही आस्रव जो हमें यहां बांधे रखता है। इसका ठीक ठीक स्वरूप समझ लेने से और इसको हम छोड़ दें तभी मनुष्य का कल्याण हो सकता है। इसलिए विवेकी साधक को प्रमाद का सर्वथा त्याग कर देना चाहिए।

जैन संस्कृति की अमर देन

अ
हिं
सा

लेखक
कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज

जैन संस्कृति की संसार को जो सब से बड़ी देन है, वह अहिंसा है। अहिंसा का यह महान विचार, जो आज विश्व की शान्ति का सर्व श्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक शक्तियां कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं, एक दिन जैन संस्कृति के महान उन्नायकों द्वारा ही हिंसा काण्ड में लगे हुए उन्मत्त संसार के सामने रक्खा गया था।

जैन संस्कृति का महान सन्देश है कि कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक रह कर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। समाज में घुल मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और दूसरे आसपास के संगी साथियों को भी उठाने दे सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता, तब यह आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विशाल बनाए, विराट बनाए और जिन लोगों से खुद को काम लेना है या जिनको देना है उनके हृदय में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य समाज में अपनेपन का भाव न पैदा करेगा अर्थात् दूसरे उसको अपना आदमी न समझेंगे और वह भी दूसरों को अपना आदमी न समझेगा तबतक समाज का कल्याण नहीं हो सकता। एक बार नहीं हजार बार कहा जा सकता है, कि नहीं हो सकता। एक दूसरे का आपस में अविश्वास ही तबाही का कारण बना हुआ है।

संसार में जो चारों ओर दुःख का हाहाकार है वह प्रकृति की ओर से मिलने वाला तो नाममात्र का ही है। यदि अधिक अन्तर्निरीक्षण किया जाय तो प्रकृति दुःख की अपेक्षा हमारे सुख में ही अधिक सहायक है। वास्तव में जो कुछ भी ऊपर का दुःख है वह मनुष्य पर मनुष्य के द्वारा ही लाया हुआ है। यदि हर एक व्यक्ति अपनी ओर से दूसरों पर किए जाने वाले दुःखों को हटा ले तो यह संसार आज ही नरक से स्वर्ग में बदल सकता है।

जैन संस्कृति के महान संस्थापक अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने तो शब्दों में परस्पर होनेवाले युद्धों का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया है।

उनका आदर्श है कि प्रचार के द्वारा विश्वभर के प्रत्येक मनुष्य के हृदय में यह जँचा दो कि वह 'स्व' में ही सन्तुष्ट रहे पर की ओर आकृष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। पर की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है दूसरों के सुखसाधनों को देखकर लालायित हो जाना और उन्हें छीनने का दुस्साहस करना। हां तो जबतक नदी अपने पाट में प्रवाहित होती रहती है तबतक उससे संसार को लाभ ही लाभ है हानि कुछ भी नहीं। ज्योंही वह अपनी सीमा से हटकर आसपास के प्रदेश पर अधिकार जमाती है बाढ़ का रूप धारण करती है तो संसार में हाहाकार मच जाता है प्रलय का दृश्य आ खड़ा होता है। यही दशा मनुष्यों की है। जब तक तबतक सब मनुष्य अपने अपने 'स्व' में ही प्रवाहित रहते हैं तबतक कुछ अशान्ति नहीं, लड़ाई झगड़ा नहीं। अशान्ति और संघर्ष का वातावरण वहीं पैदा होता है जहाँ कि मनुष्य 'स्व' से बाहर फैलना शुरू करता है दूसरों के अधिकारों को कुचलता है दूसरों के जीवनोपयोगी साधनों पर कब्जा जमाने लगता है।

प्राचीन जैन साहित्य उठाकर आप देख सकते हैं कि भगवान् महावीर ने इस दिशा में बड़े स्तुत्य प्रयत्न किये हैं। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को पाँचवें अपरिग्रह व्रत की मर्यादा में सर्वदा 'स्व' में ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं। व्यापार उद्योग आदि क्षेत्रों में उन्होंने अपने अनुयायियों को प्राप्त अधिकारों से कभी भी आगे नहीं बढ़ने दिया। प्राप्त अधिकारों से आगे बढ़ने का अर्थ है अपने दूसरे साथियों के साथ संघर्ष में उतरना। जैन संस्कृति का अमर आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही उचित साधनों का सहारा लेकर प्रयत्न करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख सामग्री का संग्रह कर रखना जैन संस्कृति में चोरी है। व्यक्ति समाज अथवा राष्ट्र क्यों लड़ते हैं? इसी अनुचित संग्रह वृत्ति के कारण। दूसरों के जीवन की जीवन के सुख साधनों की उपेक्षा करके मनुष्य कभी भी सुख शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह वृत्ति में ही ढूंढे जा सकते हैं। एक अपेक्षा से कहें तो अहिंसा और अपरिग्रहवृत्ति दोनों पर्याय शब्द हैं।

आत्मरक्षा के लिये उचित प्रतिकार साधन जुटाना जैनधर्म ने निषिद्ध नहीं है। परन्तु आवश्यकता से अधिक संग्रहीत शक्ति अवश्य ही संहार लीला का अभिनय करेगी अहिंसा को मरणोन्मुख बनायेगी। अतएव आप आश्चर्य न करें कि पिछले कुछ वर्षों में जो शस्त्र संन्यास का आन्दोलन चला था प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध सामग्री रखने को कहा जारहा रहा था, वह जैन तीर्थंकरों ने हजारों वर्ष पहले चलाया था। आज जो काम कानून के द्वारा पारस्परिक विधान के द्वारा लिया जाता है, उन दिनों वह उपदेशों के द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बड़े बड़े राजाओं को जैन धर्म में दीक्षित किया था और उन्हें नियम दिया गया था कि वे राष्ट्ररक्षा के काम में आने वाले शस्त्रों से अधिक शस्त्र संग्रह न करें। साधनों का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड बना देता है प्रभुता की लालसा में आकर

जैन संस्कृति की अमर देन

अ हिं सा

लेखक
कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज

न संस्कृति की संसार को जो सब से बड़ी देन है वह अहिंसा है। अहिंसा का यह महान विचार, जो आज विश्व की शान्ति का सर्व श्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक शक्तियां कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं एक दिन जैन संस्कृति के महान् उन्नायकों द्वारा ही हिंसा काण्ड में लगे हुए उन्मत्त संसार के सामने रक्खा गया था।

जैन संस्कृति का महान सन्देश है कि कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक रह कर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। समाज में घुल मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और दूसरे आसपास के संगी साथियों को भी उठाने दे सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता तब यह आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विशाल बनाए, विराट बनाए और जिन लोगों से खुद को काम लेना है या जिनको देना है उनके हृदय में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य समाज में अपनेपन का भाव न पैदा करेगा अर्थात दूसरे उसको अपना आदमी न समझेंगे और वह भी दूसरों को अपना आदमी न समझेगा तबतक समाज का कल्याण नहीं हो सकता। एक बार नहीं हजार बार कहा जा सकता है कि नहीं हो सकता। एक दूसरे का आपस में अविश्वास ही तबाही का कारण बना हुआ है।

संसार में जो चारों ओर दुःखों का हाहाकार है वह प्रकृति की ओर से मिलने वाला तो मामूली सा ही है। यदि अधिक अन्तर्निरीक्षण किया जाय तो प्रकृति दुःख की अपेक्षा हमारे सुख में ही अधिक सहायक है। वास्तव में जो दुःख भी ऊपर का दुःख है वह मनुष्य पर मनुष्य के द्वारा ही लादा हुआ है। यदि हर एक व्यक्ति, अपनी ओर से दूसरों पर किए जाने वाले दुःखों को हटा ले तो यह संसार आज ही नरक से स्वर्ग में बदल सकता है।

जैन संस्कृति के महान संस्कारक अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने तो राष्ट्रों में परस्पर होनेवाले युद्धों का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया है।

उसका आदर्श है कि प्रचार के द्वारा विश्वभर के प्रत्येक मनुष्य के हृदय में यह बैठादो कि वह 'स्व' में ही सन्तुष्ट रहे, 'पर' की ओर आकृष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। पर की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है दूसरों के सुखसाधनों को देखकर लालायित हो जाना और उन्हें छीनने का दुःसाहस करना। हाँ तो जबतक नदी अपने पाट में प्रवाहित होती रहती है तबतक उससे संसार को लाभ ही लाभ है हानि कुछ भी नहीं। ज्योंही वह अपनी सीमा से हटकर आसपास के प्रदेश पर अधिकार जमाती है बाढ़ का रूप धारण करती है तो संसार में हाहाकार मच जाता है प्रलय का दृश्य आ खड़ा होता है। यही दशा मनुष्यों की है। जब तक सबके सब मनुष्य अपने अपने 'स्व' में ही प्रवाहित रहते हैं तबतक कुछ अशान्ति नहीं लड़ाई झगड़ा नहीं। अशान्ति और संघर्ष का वातावरण वहीं पैदा होता है जहाँ कि मनुष्य स्व से बाहर फैलना शुरू करता है दूसरों के अधिकारों को कुचलता है दूसरों के जीवनोपयोगी साधनों पर कब्जा जमाने लगता है।

प्राचीन जैन साहित्य उठाकर आप देख सकते हैं कि भगवान् महावीर ने इस दिशा में बड़े स्तुत्य प्रयास किये हैं। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को पाँचवे अपरिग्रह व्रत की मर्यादा में सर्वदा 'स्व' में ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं। व्यापार उद्योग आदि क्षेत्रों में उन्होंने अपने अनुयायियों को प्राप्त अधिकारों से कभी भी आगे नहीं बढ़ने दिया। प्राप्त अधिकारों से आगे बढ़ने का अर्थ है अपने दूसरे साथियों के साथ संघर्ष में उतरना। जैन संस्कृति का अमर आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही उचित साधनों का सहारा लेकर प्रयत्न करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख सामग्री का संग्रह कर रखना जैन संस्कृति में चोरी है। व्यक्ति समाज अथवा राष्ट्र क्यों लड़ते हैं? इसी अनुचित संग्रह वृत्ति के कारण! दूसरों के जीवन की जीवन के सुख साधनों की उपेक्षा करके मनुष्य कभी भी सुख शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह वृत्ति में ही ढूँढे जा सकते हैं। एक अपेक्षा से कहें तो अहिंसा और अपरिग्रहवृत्ति दोनों पर्याय शब्द हैं।

आत्मरक्षा के लिये उचित प्रतिकार साधन जुटाना जैनधर्म से विरुद्ध नहीं है। परन्तु आवश्यकता से अधिक संगृहीत शक्ति अवश्य ही संहार लीला का अभिनय करेगी अहिंसा को मरणोन्मुख बनायेगी। सम्भव है आप आश्चर्य करें कि पिछले कुछ वर्षों में जो शस्त्र सन्यास का आन्दोलन चला था प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध सामग्री रखने को कहा जा रहा था, वह जैन तीर्थंकरों ने हजारों वर्ष पहले चलाया था। आज जो काम कानून के द्वारा पारस्परिक विधान के द्वारा लिया जाता है उन दिनों वह उपदेशों के द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बड़े बड़े राजाओं को जैन धर्म में दीक्षित किया था और उन्हें नियम दिया गया था कि वे राष्ट्ररक्षा के काम में आने वाले शस्त्रों से अधिक शस्त्र संग्रह न करें। साधनों का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड बना देता है प्रभुता की लालसा में आकर

यह कहीं न कहीं किसी पर जा पड़ेगा और मानव संसार में युद्ध की आग भड़का देगा। इस दृष्टि से जैन तीर्थंकर हिंसा के मूल कारणों को उखाड़ने का प्रयत्न करते रहे हैं।

जैन तीर्थंकरों ने कभी भी युद्धों का समर्थन नहीं किया। जहाँ अन्य अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओं के हाथों की कठपुतली बनकर युद्ध के समर्थन में लगते आए हैं, युद्ध में मरने वालों को स्वर्ग का लालच दिखाते आए हैं, राजा को परमेश्वर का अंश बताकर उसके लिये सब कुछ अर्पण कर देने का प्रचार करते आए हैं वहाँ जैन तीर्थंकर इस सम्बन्ध में काफी कहर रहे हैं। 'प्रश्न-व्याकरण' और 'भगवती सूत्र' युद्ध के विरोध में क्या कुछ कहते हैं? यदि थोड़ा सा कष्ट उठाकर देखने का प्रयत्न करेंगे तो बहुत कुछ युद्ध विरोधी विचार सामग्री पा सकेंगे आप जानते है मगधाधिपति अजातशत्रु कूणिक भगवान महावीर का कितना अधिक उत्कट भक्त था। औपपातिक सूत्र में उनकी भक्ति का चित्र चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। प्रतिदिन भगवान के कुशल समाचार जानकर फिर अन्न जल ग्रहण करना कितना उग्र नियम है। परन्तु वैशाली पर कूणिक द्वारा होने वाले आक्रमण का भगवान् ने अंश भी समर्थन नहीं किया। प्रत्युत नरक का अधिकारी बताकर उसके पाप कर्मों का भंडा फोड़ कर दिया। अजातशत्रु इस पर रुष्ट भी हो जाता है किन्तु भगवान् महावीर इस बात की कुछ भी परवाह नहीं करते। भला पूर्ण अहिंसा के अवतार रोमांचकारी नर-संहार का कैसे समर्थन कर सकते थे।

जैन तीर्थंकरों की अहिंसा का भाव आज की मान्यता के अनुसार निष्क्रिय का रूप भी न था। वे अहिंसा का अर्थ प्रेम, परोपकार, विश्वबन्धुत्व करते थे। स्वयं आनन्द से जीओ और दूसरों को जीने दो, जैन तीर्थंकरों का आदर्श यहीं तक सीमित न था। उनका आदर्श था-दूसरों को जीने में मदद करो अपितु अवसर आने पर दूसरों के जीवन की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति भी दे डालो वे उस जीवन को कोई महत्व न देते थे जो जन सेवा के मार्ग से सर्वथा दूर रह कर एक मात्र भक्तिवाद के अर्थ शून्य क्रियाकाण्डों में ही उलझा रहता हो। भगवान महावीर ने तो एक बार यहां तक कहा था कि " मेरी सेवा करने की अपेक्षा दीन दुखियों की सेवा करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है मैं उनपर प्रसन्न नहीं जो मेरी भक्ति करते हैं, माला फेरते हैं मैं तो उन पर प्रसन्न हूँ जो मेरी आज्ञा का पालन करते हैं। मेरी आज्ञा है— प्राणिमात्र को सुख सुविधा और आराम पहुँचाना। " भगवान महावीर का यह महान ज्योतिर्मय सन्देश आज भी हमारी आँखों के सामने है। यदि हम थोड़ा बहुत सम्पर्क करना चाहें ऊपर के सन्देश का सूक्ष्म बीज यदि हम में से कोई देखना चाहे तो उत्तराध्ययन-सूत्र की सर्वार्थ सिद्धि वृत्ति में देख सकते हैं।

अहिंसा के अग्रगण्य सन्देश-वाहक भगवान् महावीर हैं। आज दिन तक उन्हीं के शिष्यों का गौरव गान गाया जारहा है आप को मालूम है आज से ढाई हजार वर्ष पहले का समय भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक महान् अन्धकार पूर्ण युग माना जाता है। वही देवताओं के आगे पशुबलि के नाम पर रक्त की नदियाँ बहाई जाती थीं मांसाहार और सुरापान का दौर चलता था अस्पृश्यता के नामपर करोड़ों की संख्या में मनुष्य अत्याचार की चक्की में पिस रहे थे स्त्रियों को भी मनुष्योचित अधिकारों से वंचित कर दिया गया था। एक क्या अनेक रूपों में सब ओर हिंसा का विशाल साम्राज्य छाया हुआ था। भगवान महावीर ने उस समय अहिंसा का अमृतमय सन्देश दिया जिससे भारत की काया पलट होगई। मनुष्य राक्षसी भावों से हट कर मनुष्यता की सीमा में प्रविष्ट हुआ। क्या मनुष्य क्या पशु सब के प्रति उसके हृदय में प्रेम का सागर उमड़ पड़ा। अहिंसा के सन्देश ने सारे मानवीय सुधारों के महल खड़े कर दिए। दुर्भाग्य से आज वे महल फिर गिर रहे हैं। जल थल आकाश अभी अभी खून से रंगे जा चुके हैं और भविष्य में इस से भी भयकर रंगने की तैयारियाँ होरही हैं तीसरे महायुद्ध का दुस्वप्न अभी देखना बंद नहीं हुआ। परमाणु बम के आविष्कार की सब देशों में होड़ लग रही है। सब ओर अविश्वास और दुर्भाव चक्कर काट रहे हैं। अस्तु आवश्यकता है आज फिर जैन संस्कृति के जैन तीर्थंकरों के भगवान महावीर के जैनाचार्यों के के 'अहिंसा परमो धर्म' की। मानव जाति के स्थायी सुखों के स्वप्नों को एक मात्र अहिंसा ही पूर्ण कर सकती है और नहीं 'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम्' —समन्तभद्र।

जैनधर्म का अहिंसा तत्व

लेखक — मुनि श्री छोगालालजी म० आत्मार्थी

प्रिय पाठको ! संसार के समस्त धर्मों में सार्वभौम सर्व-हितैषी जैन धर्म है। उसके सिद्धान्त अन्य धर्मों से उदार विशाल प्रामाणिक एवं सत्य हैं। उन्हीं सिद्धान्तों में एक प्रधान सिद्धान्त अहिंसा है। इसी अहिंसा के उपदेष्टा विश्वप्रेमी भगवान महावीर थे। उनके समकालीन महात्मा बुद्ध ने भी अहिंसा का ही प्रचार किया था। लेकिन उनकी मौजूदगी में तथा उनके स्वर्गगामी होने पर इस अहिंसा में विकृति पैदा हो गई। लेकिन भगवान महावीर के निर्वाण को २४७२ वर्ष हो जाने पर भी उनकी अहिंसा का प्रचार और पालन पूर्ण रूप से हो रहा है। इसीसे ज्ञात होता है कि इस धर्म के सिद्धान्त कितने महत्वपूर्ण हैं।

भगवान् महावीर के जन्मकाल में वैदिक धर्म का प्रचार था। वैदिक धर्म के विधान अनुसार धर्म के नाम पर लाखों निरपराध पशु तलवार की धार उतार दिए जाते थे। इन मूक पशुओं के आर्तनाद से सारा संसार त्राहि त्राहि पुकार उठा। उनके करुणाक्रंदन से आकाश फटने लगा। ऐसी अवस्था में आवश्यकता थी एक धर्मोपदेशक की जो इनके प्रति करुणा प्रदर्शित करे, हिंसावाद के आगे अहिंसा का झंडा फहराये। अब अहिंसा प्रचार का सुअवसर आया जान महावीर प्रभु ने अहिंसा का झंडा रोपा और स्वयं कष्ट उठा कर भी जीवों को निर्भय किया।

आज संसार में अहिंसा के स्थान पर हिंसा का अखंड राज्य है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को एक जाति दूसरी जाति को एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को खाने में संलग्न है। धनी निर्धनों का खून चूस रहे हैं साहूकार कर्जदार की गुदड़ी खींच रहा है। पशु-पक्षियों को तलवार के घाट उतारना मामूली बात है। प्रति दिन लाखों पशु मांसाहार के लिये मारे जाते हैं। जब कि भारत में अनाज दूध-दही मेवा आदि मौजूद हैं फिर भी इन मूक पशुओं की गर्दन पर छुरी चलाना क्या अन्याय नहीं है? इसी प्रकार संसार में चारों ओर हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा है। वैज्ञानिक लोग अपना प्रभाव जमाने के लिये परमाणु बम जैसे घातक नर संहारक शस्त्रास्त्रों का निर्माण करने में जुटे हैं फिर इसके आगे अहिंसा की क्या बिसात है? उसका वर्णन करना तो नक्कारखाने में तूती की आवाज के समान है।

उस समय भी इसी प्रकार हिंसा का बाजार गर्म था यज्ञ के लिये ही पशुओं की सृष्टि हुई है यज्ञ में मारे जाने वाले पशु स्वर्ग को जाते हैं वैदिकी हिंसा हिंसा नहीं होती है इस प्रकार से लोगों ने धर्म का ढोंग रचकर कुटिल सिद्धान्तों की रचना की थी। इसीसे उनकी स्वार्थ वासना पूर्ण होती थी। कहां तक लिखें उस समय नरमेध गोमेध अश्वमेध आदि यज्ञ होते थे। उन्हीं के द्वारा देवताओं को तृप्त किया जाता था। जिसको सुनकर आज भी कानखड़े हो जाते हैं। ऐसे भयंकर समय में भगवान् महावीर ने अहिंसा की ध्वजा फहराई। और उन्होंने उसकी आशातीत उन्नति की। लोगों को ख्याल होगा कि भगवान ने जोर जुल्म अत्याचार के द्वारा हिंसा बन्द की होगी पर बात यह नहीं है। उन्होंने स्वयं कष्ट उठाकर प्रेम पूर्वक उपदेश किया। जनता ने भगवान् के उपदेशों को सहर्ष स्वीकार किया यहीं से अहिंसा की नींव सुदृढ़ हुई।

—अहिंसा परमो धर्म—

आजकल कोई अहिंसा देवी के पुजारी नहीं हैं। क्या इससे अहिंसा की महत्ता उसका गौरव एवं प्रतिष्ठा कम हो सकती है? कभी नहीं, पर 'अहिंसा परम धर्म है इसमें जरा भी सन्देह नहीं। संसार का ऐसा कोई भी धर्म नहीं है जिसने अहिंसा को स्थान न दिया हो। क्या ईसाई क्या मुसलमान क्या बौद्ध सभी ने

अहिंसा को धर्म माना है। संसार में अहिंसा के समान कोई धर्म का श्रेष्ठ अंग हो ही नहीं सकता। प्रकृति ने जीव धारियों को उत्पन्न किया फिर हमें क्या अधिकार है कि उनके प्राण लें उनकी हत्या करें। सचमुच प्राणियों का वध करना प्राकृतिक नियमों का भंग करना है मनुष्यता की दृष्टि से इससे घृणित और क्या कार्य हो सकता है कि हम बिचारे मूक प्राणियों को मारें, जो हमें किसी प्रकार की हानी नहीं पहुँचाते कुछ भी कष्ट नहीं देते हैं ! अतः हिंसा के समान घोर पाप क्या हो सकता है ?

अहिंसा आत्मा के उत्थान का साधन है। अहिंसावादी की आत्मा निरंतर उच्चता की ओर अग्रसर होती है। यदि अहिंसावादी बाह्य क्रिया-कांड नहीं भी करे तो भी वह पूज्य है आराध्य है। अहिंसा से पारस्परिक ईर्ष्या द्वेष मारकाट, लड़ाई झगड़ों का अन्त हो जाता है। अहिंसावादी का संसार में कोई शत्रु नहीं होता यदि कोई उसे कष्ट देता है तो वह शान्तिपूर्वक सह लेता है।

अहिंसा जीवन है जीव-हिंसा मृत्यु है। अहिंसा का शस्त्र अजेय है अहिंसा बिना प्राणी संसार समुद्र में गोता लगाता रहता है। अहिंसा शान्ति देने वाली है। पर खेद है कि आजकल लोगों ने अपने क्रियाकांडों एवं दैनिक कार्यों को हिंसामय बना लिये हैं। ऐसे हिंसा-जन्य कार्यों से जीव दुर्गति में जाता है। अहिंसा परब्रह्म स्वरूप है। यह अपने उपासकों को भी अपने रूप में बना लेती है। अतः कहा गया है कि अहिंसा ही परम धर्म है। यथा—

' धम्मो मंगल मुक्किठं अहिंसा संजमो तवो' ।

अहिंसा का पालन एक प्रकार की रसायन है। जैसे रसायन का सेवन करने वाला चिरजीवी बन जाता है उसी प्रकार इस अहिंसा रूपी रसायन का सेवन करने वाला सदा के लिये अजर-अमर हो जाता है मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

हिंसा का स्वरूप—हिंसा का लक्षण मालूम न हो जाय तब तक अहिंसा की व्याख्या अधूरी एवं पंगु है।

जैन सिद्धान्त में हिंसा का लक्षण प्रमत्तयोगात्प्राण व्यपरोपणं हिंसा" अर्थात् प्रमाद के वशीभूत होकर द्रव्य और भाव प्राणों को नष्ट करना हिंसा है यह किया गया है। इस प्रमाद योग रूप विशेषण से स्पष्ट है कि जहां पर प्रमाद योग नहीं है किन्तु जीवों के प्राणों का घात होता है वहां पर हिंसा हिंसा नहीं कहलाती है। इसके विपरीत जहां पर प्राणों का घात नहीं भी है किन्तु प्रमाद योग विद्यमान है वहां पर हिंसा जन्य पाप अवश्य लगता है। केवल किसी जीव का मारा जाना अथवा उसके अंगों का भंग करना मात्र ही हिंसा नहीं है किन्तु भाव हिंसापूर्वक की गई द्रव्यहिंसा हिंसा में गर्भित है। अतः सिद्ध है कि हिंसा हिंसाकर्त्ता के भावों पर अवलम्बित है यदि उसके भाव अच्छे हैं उदार हैं फिर भी उसके प्रमाद से हिंसा हो जाय तो वह उस पाप का भागी नहीं होगा। क्योंकि उसके भाव हिंसा

करने के नहीं थे जैसे एक डाक्टर ने रोगी की भलाई सोचकर चीरा दिया। डाक्टर का भाव रोगी को जल्दी अच्छा करने का था। किसी प्रकार का स्वार्थ या प्रमाद नहीं था। परन्तु दैवयोग से वायुके प्रभाव या चीरे के आघात से वह मर गया तो उस पाप का भागी डाक्टर नहीं है। क्योंकि उसके भाव अच्छे थे, मारने के नहीं थे।

दूसरे डाक्टर के पास रोगी आया। 'यह धनी है' ऐसा डाक्टर को मालूम हो गया। अतः उसने रोगी की अच्छी तरह परीक्षा कर धन ऐंठने की गरज से अंड-बंड दवा देदी। किन्तु उसके रोग का क्षय होने या आयुष्य प्रबल होने से वह बच गया चंगा हो गया। रोगी डाक्टर का बड़ा उपकार मानता है। परन्तु डा० सा० तो हिंसा के भागी हो चुके। क्योंकि उन के विचार बुरे थे। अतः इन दोनों उदाहरणों से सिद्ध है कि हिंसा का पाप लगना या न लगना भावों पर निर्भर है। क्योंकि बिना भावों के बंध हो नहीं सकता। सारांश यह है कि दशों द्रव्य प्राणों को नाश करना और भाव प्राणों को दुखाना हिंसा है। हिंसा की तराजू भावों पर झूल रही है।

उपरोक्त भावों के साथ ही बाह्य-प्रवृत्ति का भी विचार करना आवश्यक है। जो पुरुष दौड़कर बिना देखे चलने लगे बिना देखे भक्ष्याभक्ष्य खाने लगे बिना छना पानी पीना बिना देखे वस्तुओं को उठाना एवं रखना इन प्रकार के कार्य करके कहना कि "मैं अपने भावों को ठीक रक्खूंगा तो मुझे हिंसा नहीं लगेगी चाहे मेरी बाह्य-प्रवृत्ति कैसी भी क्यों न हो। ऐसा कथनशील व्यक्ति बिना बाह्य प्रवृत्ति में जीव रक्षा का विचार किये जीव हिंसा से छूट नहीं सकता है। इसलिये बाह्य प्रवृत्ति को संयमित बनाने की अत्यावश्यकता है।

हिंसा के लिये गांधीजी लिखते हैं कि "बुरे विचार मात्र हिंसा है उतावली (जल्दबाजी) हिंसा है मिथ्या भाषण हिंसा है द्वेष हिंसा है किसी का बुरा चाहना हिंसा है जगत् के लिये जो वस्तु आवश्यक है उस पर कब्जा रखना हिंसा है।

पूज्य श्री जवाहरलालजी म०सा० ने कहा है कि हिंसा वह कृत्य कहलाता है कि जिसके द्वारा किसी प्राणी के जीवन का अन्त कर दिया जाय। आत्मा के पास आयुष्य प्राण है उस को अकाल में जुदा कर देना यानी आत्मा से प्राणों को जुदा कर देना इसी का नाम हिंसा है। आत्मा के पास आयुष्य प्राण होते हुए भी छुरी तलवार आदि से दुःख पहुँचा कर शरीर का अन्त कर देना हिंसा है।

हिंसा के भेद— हिंसा के चार भेद हैं:— १ संकल्पी, २ विरोधिनी ३ आरंभिणी और ४ उद्योगिनी। इसके सिवाय मानसिक वाचिक और कायिक भी भेद हैं। परन्तु इनका समावेश उक्त चारों भेदों में भी हो सकता है।

१ संकल्पिनी-हिंसा— "मैं इस जीव को मार डालूंगा इसे दुःख पहुँचाऊँगा" इस प्रकार हिंसा के अभिप्राय से की गई होने से संकल्पिनी कहलाती है।

२ विरोधिनी हिंसा— अन्य के द्वारा आक्रमण या दुःख देने के अभिप्राय से हमला किए जाने पर अपनी रक्षा करने में यदि दूसरे का वध हो जावे तो वह विरोधिनी हिंसा है। संकल्पी हिंसा में मारने वाले के भावों में क्रूरता भरी हुई है विरोधिनी हिंसा घातक के भावों में ऐसी क्रूरता नहीं है परन्तु रक्षा का प्रयत्न मात्र है।

३ आरम्भी-हिंसा— घर के कामों के करने में जो जीवों की हिंसा होती है वह अनिवार्य है। पानी छानना, चौका, चूल्हा, बुहारी, झाड़ना, कपड़े धोना, रसोई बनाना आदि कामों में जीवों की विराधना हो जाती है। हाँ यह अनिवार्य हिंसा है फिर भी यत्न रखने से अधिक बचाव हो सकता है। यदि गृहिणियाँ इस हिंसा से बचना चाहें तो उन्हें आमयाएक का स्वरूप समझा देना होगा फिर वे स्वयं यत्न करना सीख जावेंगी।

४ उद्योगिनी-हिंसा— किसी प्रकार के व्यापार में अनाज भरने में मिल चलाने में दुकान करने में खेती आदि करने में जीवों की हिंसा होती है। यह उद्योगिनी हिंसा है। इनमें भी विचार रखने से बहुत कुछ जीव वध रुक सकता है। लेकिन आजकल व्यापार आदि में अत्याचार बढ़ गया है और द्रव्य हिंसा के साथ भाव हिंसा की बहुलता हो गई है। इन हिंसाओं में संकल्पी हिंसा और मानसिक हिंसा है और यह श्रावक के लिए अवश्य ही त्याज्य है। इसके विषय में तंदुल-मच्छ का उदाहरण दिया जाता है। यद्यपि तंदुल-मच्छ शरीर से कुछ भी पाप नहीं करता है वह केवल मन में हिंसा की भावना मात्र ही करता है फिर भी सातवें नरक में जाकर सागरों तक दुःख उठाता है। क्योंकि उसने मानसिक हिंसा की है। हिंसा जन्य कुविचार अर्थात् किसी की निंदा करना अपमान करना आदि सब हैं जो हिंसा में ही शामिल हैं।

अहिंसा का लक्षण मन वचन काया इत्यादि अनुमोदना से किसी भी जीव को कष्ट न देना कटु वचन न कहना। अर्थात् द्रव्य और भाव प्राणों का नाश न करना अहिंसा है। जैसे काँटा लगने से हमको दुःख होता है वैसे ही समस्त प्राणियों को होता है। अतः किसी को दुःख न देना अहिंसा है। सुख शांति पूर्वक स्वयं जीना दूसरों को जीने देना और आस पास का भला चाहना अहिंसा है। अहिंसा को दया भी कहते हैं। तुलसीदासजी ने कहा है कि—

> दया धर्म का मूल है पाप मूल अभिमान।
> तुलसी दया न छांडिये जब लग घट में प्राण॥

सत्यादि अहिंसा में ही गर्भित हैं—अहिंसा समुद्र है। उसमें सत्यादि नदियाँ आकर मिल जाती हैं। अतः यदि सूक्ष्म रीति से विचार किया जाय तो

अहिंसा में सभी धर्म कर्म गर्भित हैं। उससे भिन्न नहीं हैं। अहिंसा मूल है। सत्य अचौर्य आदि उसकी शाखायें हैं। इसमें किसी को विरोध नहीं है। यथार्थ में सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह अहिंसा के रूप ही हैं परन्तु शिष्यों को समझाने के लिये पृथक विवेचन किया है। यदि इस प्रकार का विवेचन कर अहिंसा में ही गर्भित कर देते तो समझने एवं पालन करने में क्लिष्टता प्रतीत होती है।

सत्य— झूठ बोलने का त्याग करना है। क्यों? झूठी बात कहने से आत्मा को दुःख होता है सत्य बोलने से दुःख नहीं होता है इसी दुःख का नाम हिंसा है। इसीलिये कहा गया है कि किसी दोष युक्त सत्य बात को भी प्रगट नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से दोषी की आत्मा को दुःख होता है, इसी दुःख का अभाव अहिंसा है।

महात्मा गांधी ने लिखा है कि 'मेरा अहिंसा का सिद्धान्त एक विधायक शक्ति है। कायरता या दुर्बलता के लिये इसमें स्थान नहीं है। एक हिंसक से अहिंसक बनने की आशा की जा सकती है लेकिन कायर कभी अहिंसक नहीं बन सकता है।

अहिंसा में प्रेम की आवश्यकता—संसार में प्रेम की महिमा अचिन्त्य है। प्रेम ही के कारण माता बच्चे के लिये नाना कष्ट सहकर उसका पालन करती है। आप दुःखी होकर बालक को सुखी रखती है। इसी प्रकार यदि मनुष्य का प्रेम समस्त प्राणियों के प्रति हो जाय तो हिंसा की जड़ सदा के लिये कट जाय। अर्थात् समस्त जीवों को अपने समान देखना अहिंसा का प्रेम है। प्रेम का अभाव होने से अहिंसा का अभाव हो जाता है बिना प्रेम के अहिंसा का पालन असंभव है। इस लिए समस्त प्राणियों के प्रति प्रेम का संचार अवश्य करना चाहिए। जो समस्त प्राणियों के साथ सच्ची सहानुभूति एवं प्रेम पूर्ण व्यवहार करता है वही सच्चा अहिंसक है।

प्रेम के होने पर भी यदि बुद्धि न हुई तो वह प्रेम भी किसी काम का नहीं। प्रायः देखा जाता है कि हिंसा प्रमाद और अज्ञान के कारण होती है। जिनमें शुद्ध बुद्धि का बल है वे हिंसा को दुःखदायी समझ कर दूर रहते हैं और प्राणियों के प्रति प्रेम भी रखते हैं इसलिये बुद्धि की आवश्यकता है। इससे सिद्ध है कि अहिंसा के पालन में सच्चा प्रेम और निष्कपट बुद्धि की नितान्त आवश्यकता है।

अहिंसा की अव्यवहारिकता—किसी का मत है कि अहिंसा व्यवहार के योग्य नहीं है। पर उनका कहना उचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि विश्व में शान्ति स्थापित करने के जितने भी साधन-कारण हैं उनका सिरताज अहिंसा धर्म हो जाता है। वर्तमान में यदि अहिंसा का नाम लिया जाता तो इतना नरसंहार होता ही नहीं कारण कि यह समस्त कुभावनाओं को हटाकर आपसी प्रेम स्थापित करता है फिर झगड़े का काम ही नहीं रहता है।

अचौर्य—चोरी न करना। मनुष्यों का धन ग्यारहवाँ प्राण कहा गया है। धन के चले जाने पर कई लोगों के धन के अभाव में प्राण भी चले जाते हैं। देखिये जब हमारा एक पैसा गुम जाता है तब कितना दुःख होता है। फिर जिसका पूरा या आधा धन जाय तो उसकी क्या बात कहना है? अतः अहिंसा के पालनार्थ चोरी का त्याग करना आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य— विकार युक्त न होना। वीर्याभाव से आत्मा कमजोर हो जाती है। अन्तत विषयी पुरुष कालग्रसित हो जाता है। यदि कालकवलित न भी हो तो नाना रोगों से युक्त होकर सदैव दुःखी रहता है। इसलिए अहिंसा के लाभार्थ ब्रह्मचर्य का पालना श्रेष्ठ है।

अपरिग्रह— इच्छाओं का रोकना। इच्छाओं का बढ़ाना ही दुःख का कारण है। क्यों? इच्छाओं की बाढ़ आती रहती है उनकी पूर्ति होना कठिन है। उनकी पूर्ति न होने से जीव दुःखी होता है। अतः अहिंसा की रक्षा के लिये अपरिग्रह होना श्रेयस्कर है।

इसी अहिंसा में तप संयम शील त्याग क्षमा दान अस्वाद आदि भी हैं जो पूर्ण अहिंसावादी है वही सभी धर्मांग सपन्न हो सकता है।

अहिंसा का विकास क्रम—प्रथम ही मनुष्य के साथ प्रेम एवं दया का बर्ताव करना चाहिए। क्योंकि मनुष्य हमारी जाति है मनुष्य मात्र को हम सुखी देखना चाहते है। यह कितने खेद की बात है कि हम अपनी मनुष्य जाति पर दया नहीं करते हैं पर कीड़ी मकोड़ों पर दया करते हैं। जो मनुष्य मात्र पर दया करना जानता है वह सभी प्राणियों पर दया कर सकता है। इसलिये पहले मनुष्य मात्र पर दया करना सीखना चाहिए, पीछे अन्य प्राणियों पर। क्योंकि मनुष्य मनुष्य के साथ ही झूठ बोलना चोरी करना व्यभिचार करना दगाबाजी और मुकद्दमेबाजी करता है। ये कार्य पशुओं के साथ नहीं हो सकते हैं। इसलिए अहिंसा का क्रम मनुष्य से शुरू करके क्रमशः नीचे उतारना चाहिए पीछे सब पर दया करना चाहिए। मेरे लिखने का अभिप्राय यह नहीं है कि अन्य जीवों पर दया की ही नहीं जावे। पर पचेन्द्रिय की रक्षा कर चौरिन्द्रिय त्रेन्द्रिय द्वीन्द्रिय फिर एकेन्द्रिय की रक्षा करना चाहिए। ऐसा ही वीर प्रभु का उपदेश है।

अहिंसा और कायरता—अहिंसा और कायरता का कोई सम्बन्ध नहीं है। दोनों में जमीन आसमान का फर्क है। यदि कायरता अहिंसा के होने से होती है तो हिंसक जीवों को निर्भय होना चाहिए, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। इससे विपरीत हमने देखा है कि कई हिंसावादी डरपोक एवं कायर हैं और कई अहिंसावादी निडर हैं। अतः यह नियम नहीं है कि अहिंसा ही मनुष्य को कायर बनाती है।

जब तक भारत में अहिंसा का प्रचार और पालन पूर्ण रूपेण होता रहा, तब तक सुख और शान्ति का साम्राज्य भी रहा। अशोक चन्द्रगुप्त आदि राजा सभी

जैन होकर अहिंसावादी थे । सम्राट अशोक ने तो युद्ध के दृश्य को देखकर युद्ध न करने का ही निश्चय कर लिया था। चन्द्रगुप्त ने तो युद्ध करके भारत की मान रखी, सेल्यूकस जैसे को हराकर उसकी कन्या को अपनी रानी बनायी थी। इस बात की साक्षी उस समय का इतिहास है कि उनके समय में भारत गारत नहीं हुआ था। इसके विपरीत उन्नत एवं स्वाधीन धन-धान्य से परिपूर्ण था। इससे यह बात सिद्ध है कि अहिंसा से भारत पराधीन नहीं हुआ न अहिंसा की मर्यादा से भारत का राज्य विदेशियों के हाथ में गया। किन्तु इसका प्रधान कारण तो राजाओं की राज्य करने की शक्ति का अभाव एवं विलासिता है। यदि सच पूछो तो भारतवासियों की फूट ने ही भारत को गारत किया है। जब तक भारत में फूट रहेगी तब तक भारत का उत्थान असंभव है। फूट मिटाने के लिये प्रेम की भावना की आवश्यकता है। अतएव भारत में पुनः स्वतन्त्रता की लहर पैदा करने के लिये अहिंसा का पालन होना चाहिए। यही कारण है कि महात्मा गांधी ने इसी अहिंसा द्वारा भारत को स्वाधीन करने का प्रण किया है। उनने अहिंसा पालन पर पूरा जोर दिया है। और आशा भी है कि वे अहिंसा द्वारा स्वराज्य प्राप्त भी कर सकेंगे। इसी अहिंसा शस्त्र से वैरियों को भी नीचा दिखाया जा सकता है।

प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत के पास बड़ी भारी अक्षौहिणी सेना थी। उसी के बल पर उनने भारत के छै खंडों पर विजय पाई थी। फिर भी वे अहिंसा के आराधक मोक्षगामी पुरुषोत्तम एवं दृढ़ वैरागी थे।

यदि कोई सबल मनुष्य किसी निर्बल को सता रहा है और वह निर्बल होने से कुछ नहीं कर सकता है परन्तु उसने दुःखी होकर लोगों को दिखलाने के लिये कहा कि 'मारो चाहे काटो मैं तो अहिंसा का पालन करूंगा' तो यह कायरता है। यदि दोनों समान बलशाली हैं दोनों आपस में लड़ जाते हैं उनमें से एक चुप-चाप बैठ कर दूसरे के अत्याचारों को सहन करता है और उल्टे कहता है कि आपको तकलीफ हुई होगी क्षमा करना तो वह पक्का अहिंसावादी है। सबल और निर्बल में अहिंसा का एकांग रहता है। अतः सिद्ध है कि अहिंसा कभी भी कायरता नहीं सिखाती है किन्तु वीरता का पाठ पढ़ाती है। जैन धर्म के ऊपर अज्ञानता से ही ऐसा आक्षेप किया जाता है जो निर्मूल है। क्रोध कभी क्रोध से शान्त नहीं होता किन्तु क्षमा से शांत होता है। इसी तरह ईर्ष्या द्वेष आदि दुर्गुण प्रेम प्रमोद आदि से नष्ट होते हैं। अतः यह निश्चित है कि पूर्ण अहिंसा पालन ही विश्व में स्थायी शान्ति का एकमात्र व्यवहारिक उपाय है।

मांसाहार— संसार में अनंत जीवधारी हैं वे सभी सुखपूर्वक जीना चाहते हैं यहां दुःखी जीव भी मरना नहीं चाहता है। यहां तक देखा गया है कि यदि उसके सामने मरने का नाम लो तो वह बड़ा दुःखी होकर विलाप करने लगता है।

यह बात न्यायसिद्ध है कि प्रकृति की सृष्टि में स्वतंत्रतापूर्वक जीने का सबको समानाधिकार है। किसी को दुःख देने या मारने का अधिकार किसी को नहीं है। यहाँ तक कि किसी से कटुक वचन बोलना भी न्याय विरुद्ध है। यदि अन्यायपूर्वक व्यवहार करना है तो मर्जी आप की है। अतः कहना पड़ता है कि जैसे हमको अपने प्राण प्यारे हैं वैसेही दूसरों को भी प्राण प्यारे हैं। अतः उन बेचारे, मूक असहाय प्राणियों को मार कर उदरस्थ करना घोर अन्याय है।

रचना—मनुष्य के शरीर की रचना फलाहारी जीवों जैसी है। उसकी पाचन शक्ति में मांस पचाने का बल नहीं है फल पचाने की शक्ति है। बहुधा देखा जाता है कि जो लोग मांस खाते हैं उनको दो तीन दिन तक भूख नहीं लगती यही पाचन शक्ति की कमजोरी है। अतः शारीरिक रचना से भी मनुष्य का मांस खाना योग्य नहीं है। दूसरे मांसाहारी जीवों के हाथ पर में नख होते हैं उनकी सूरत भयंकर होती है उनके शरीर से बदबू आती है वे मनुष्य के समान पानी नहीं पी सकते हैं। चप-चप करके पानी पीते हैं। यह भेद शाकाहारी और मांसाहारी जीवों में है।

कोई कहते हैं कि मांसाहार के बिना मनुष्य बलवान नहीं हो सकता। यह सर्वथा असत्य है। गाय घास खाकर मीठा दूध देती है जिससे शरीर पुष्ट और बलवान् होता है। बैल भी घास खाकर मनों बोझ ढो सकता है—तथा ताकतवर होता है। अतः केवल मांस खाने से शरीर पुष्ट होता है यह बात सर्वथा असमंजस सी प्रतीत होती है।

बन्दर फल खाकर ही हृष्ट-पुष्ट रहता है। इधर उधर घूमते-फिरते यात्र बन्दर एवं तोते वगैरह पक्षी भी इसीसे निरोग एवं हट्टे कट्टे रहते हैं। इसके विपरीत मांसाहारी दुर्बल होते हैं उनका शरीर सूख कर कांटा हो जाता है क्योंकि मांस से गर्मी पैदा होती है। यह तामसिक भोजन है इससे वीर्य संबंधी भयंकर बीमारी प्रमेह आदि हो जाती है। कई मांसाहारी बीमार हुए उनका मांस खाना जब डाक्टरों ने बन्द कराया तब कहीं वे अच्छे हुए। मांस खाने से जो बीमारी उस प्राणी को होती है वही बीमारी खाने वाले को हो जाती है। अतः स्वास्थ्य के लिहाज से भी मांस खाना योग्य नहीं है।

कीमत की गरज से भी मांस महंगा पड़ता है जितना कि अन्नाहार नहीं। फिर भी मांसाहार अन्नाहार या फलाहार के समान शरीर को पुष्ट नहीं कर सकता है।

कई लोग देवी देवताओं को पशु बलि चढ़ाकर अपने पुत्र-पुत्रियों की कुशल चाहते हैं यह बात भी अनुचित सी प्रतीत होती है। क्योंकि जैसे हमारी एक अंगुली में जो पीड़ा है वह दूसरी अंगुली में नहीं आ सकती है वैसे ही बलि से पुत्रादि की कुशलता नहीं हो सकती। यह तो अपने पूर्वोपार्जित कर्मों का फल है। इसमें देवी-देवता कुछ नहीं कर सकते हैं। मेरी राय में यह सब जिव्हा की लोलुपता है। दूसरे देवी को माता कहते हैं अतः छोटे बड़े सभी जीव मात्र उसके पुत्रवत् हैं।

फिर वह दयालु माता एक को मारकर दूसरे को कैसे सुखी कर सकती है। यदि करती है तो वह दयालु माता नहीं है। देवी अपने मुख से यह कभी नहीं कहती है कि तुम मुझे बलि चढ़ाओ। उसके भक्त अपनी वासना पूरी करने के लिये बलि चढ़ाते हैं और उस दयालु देवी को बदनाम करते हैं। यह सब लोगों का ढोंग मात्र है कर्मवाद को नहीं समझने का फल है।

आज विदेशियों ने भी मांसाहार को सर्वथा त्याज्य लिखकर दिया है। और शक्ति-प्रद मांसाहार की अपेक्षा फलाहार में अधिक बताते हैं। यह बात सत्य भी है

यूरोप में एक बार परीक्षा के तौर पर दो बालक एक साथ रखे गये थे। उनमें से एक बालक मांसाहारी और दूसरा फलाहारी था। उन दोनों की ६ माह बाद परीक्षा की गई तो फलाहारी बालक बलवान् एवं हट्टा-कट्टा वजन में अधिक निकला इससे भी सिद्ध होता है कि मांसाहार मनुष्य के लिये उपयोगी नहीं है। इसलिये देश धर्म एवं धन के लिहाज से मांसाहार को सर्वथा त्याग देना चाहिए।

सामाजिक-हिंसा— विचार करने से हृदय विदीर्ण हो जाता है लेखनी आगे बढ़ने से रुकती है। देखिए, अहिंसा के पालकों के द्वारा कैसे २ अन्याय पूर्ण काम होते हैं। जिन्हें सुनते हुए कान भी थक जाते हैं। और अहिंसावादियों की दशा पर तरस आता है। सामाजिक हिंसा निम्न प्रकार की है—

१ बाल्य-विवाह—इस कुप्रथा से हजारों बालक असमय में काल-कवलित होते हैं वे खिलने के पूर्व ही मरोड़ कर नष्ट कर दिये जाते हैं- विषय की भट्टी में झौंक दिये जाते हैं। फिर उनके मां-बाप हाय हाय करके बिलखाते हैं। जिनकी शादियां की जाती हैं वे यह भी नहीं समझते है कि हम दोनों का सम्बन्ध क्यों और किसलिये हुआ है। हम कौन हैं? यहां तक कि वे इतने अबोध होते हैं कि पति-पत्नी के अर्थ को भी नहीं समझते हैं। फिर भी उनकी शादी करके बरबादी कर दी जाती है।

इन बालकों के शरीर की क्या दशा होती है देखिये—गाल की हड्डी बैठ जाती है आंखें धसी हुई हैं शरीर का एक-एक हड्डी गिन लीजिये थोड़ी दूर चलने से ही हांप जाते हैं वैद्य डाक्टर की दुकान के चक्कर लगाते हैं मैरू मबानी की मिन्नत करते हैं फिर भी बीमार ही रहते हैं। और हाय! हाय!! कर सिर पीट कर रह जाते हैं। यह सब मां-बाप की करतूत है बड़े खेद एवं दुखमरने जैसी बात है।

२. अनमेल विवाह—इस बेजोड़ विवाह से भी समाज की बड़ी हानि हो रही है। व्यभिचार बढ़ रहा है श्रीमान् तो श्रीमती के आगे आकर लट्टू घुमाते हैं दिन भर खेल की बातें सुनाते हैं यह है अनमेल विवाह की दशा।

वृद्ध विवाह—६० वर्ष का वर और १२ वर्ष की कन्या की शादी होना बुढ़ापे की शादी है। इस विवाह से विधवाओं की संख्या बढ़ रही है। ये मांस डाए

हारकर रो रही है। गुप्त पाप होते हैं भ्रूण हत्याएँ होती हैं कन्या-विक्रय की जड़ यही प्रथा है। चांदी के बल से श्मशान का यात्री बुड्ढा भी दूल्हा बनकर एक बालिका की ज़िन्दगी खराब करता है। परन्तु समाज इसमें कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करता है। क्योंकि समाज के कर्णधार ये ही हैं इससे होने वाली विधवाओं की दशा शोचनीय है। ये सब कारण हिंसा के हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी हैं जिनका वर्णन स्थानाभाव के कारण नहीं हो सकता है।

अहिंसा के उपासक—ईसा मसीह का नाम कौन नहीं जानता है? वे अहिंसा के बड़े भक्त थे। उनका कहना था कि यदि कोई तुम्हारे बायें गाल पर तमाचा मारे तो उससे कुछ न कहो वरन् अपना दाहिना गाल भी तमाचा मारने वाले की ओर करदो। अहिंसा और सहन शक्ति का कितना अच्छा सिद्धान्त है। गौतम बुद्ध भी अहिंसा के बड़े प्रेमी थे उन्होंने यज्ञों की हिंसा का अन्त किया था। महावीर तो अहिंसा के साक्षात् अवतार थे। इन्होंने अहिंसा का खूब प्रचार किया। हमारे राष्ट्र निर्माता महात्मा गांधी भी अहिंसा के पुजारी हैं। वे कहते हैं कि विश्व-शांति का एक मात्र उपाय अहिंसा ही है।

इस प्रकार अहिंसा का भी विवेकशील महापुरुषों ने समर्थन किया है और प्रचार भी किया है। आजकल अहिंसा के प्रचारकों में अन्यतम हैं—जैन धर्म दिवाकर, प्रसिद्धवक्ता जगतवल्लभ मुनि श्री चौथमलजी महाराज अहिंसा का प्रचार आपकी जीवन साधना है। आपने अपने जीवन का स्वर्णकाल अहिंसा की आराधना और प्रचारणा में ही लगा दिया है और लगा रहे हैं।

" जैनधर्म में स्वतन्त्रता "

लेखक— बसरसैन एम ए, मुजफ्फरनगर

स्वतन्त्रता कितनी प्रिय वस्तु है? यह हर प्राणी जानता और अनुभव करता है इसके सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है। उदाहरणार्थ एक पक्षी को ले लीजिये। वह जंगल में रहता है फल-फूल खाता है जंगल की सर्दी गर्मी को सहता है फिर भी आनन्द से जीवन व्यतीत करता है। यदि उसको कोई नगर में ले आये पिंजरे में बन्द करके और पिंजरे में ही एक बनावटी डाली पर बिठादे नानाप्रकार के भोजन का प्रबन्ध भी करदे और किसी प्रकार का कष्ट भी उसे न दे और कोई काम भी उससे न ले उसे नाम उसे घुमाने भी ले जाये और हर प्रकार से लाड़ प्यार करे तो भी इस प्रकार का जीवन उसे कष्टमय प्रतीत होता है। इसका क्या कारण है? केवल यही कि जंगल का जीवन स्वतन्त्र जीवन था और पिंजरे का परतन्त्र।

यह पक्षी स्वतन्त्रता की वेदी पर सिवाय स्वतन्त्रता के अन्य सब कुछ बलिदान करने के लिये तैयार है। इस स्वतन्त्रता को इतना महत्व क्यों ? केवल इसलिये कि स्वतन्त्रता सच्चे सुख की साक्षात् मूर्ति है। फिर भला हर प्राणी को यह प्रिय क्यों नहीं हो ? एक और उदाहरण लीजिये। बच्चा भी स्वतन्त्र जीवन को प्यार करता है। कहते तो हम यह हैं कि बच्चा नासमझ है, पर बच्चा बहुत समझदार है। वह अपना भला बुरा समझता है। एक अमीर के बच्चे को भी यदि खेलने कूदने उठने बैठने खाने पीने रहने-सहने की पूरी स्वतन्त्रता न हो तो अमीरी ठाठ बाट खान पान शान शौकत होते हुए भी वह बच्चा दुर्बल होता चला जाता है। इसके विरुद्ध यदि जीवन स्वतन्त्र हो तो बाहरी असुविधायें होते हुए भी जीवन सुखमय बन जाता है। इससे स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता सच्चे सुख की प्राप्ति का का अचूक साधन है। इसी आधार पर अनेकों ग्रन्थों की रचनाएं हुई हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी कहा है— पराधीन सपनेहु सुख नाँहीं

स्वतन्त्रता का प्रतिपादन जैन धर्म में विशेष रूप से किया गया है और हर प्राणी के लिये यह उपदेश है कि संसार में दुःख ही दुःख है सुख का नाम नहीं। क्यों कि पग पग पर पराधीनता है इसलिये जो जीव सच्चे सुख को चाहते हैं उन्हें मोक्ष मार्ग अंगीकार करके मोक्ष प्राप्त करना चाहिये जहां पूर्ण स्वतन्त्रता है। मोक्ष और मोक्ष-मार्ग दोनों स्वतन्त्रता हैं एक पूर्ण दूसरा अपूर्ण। ज्यों ज्यों हम मोक्ष-मार्ग पर आगे बढ़ते हैं त्यों त्यों अधिक अधिक स्वतन्त्र होते चले जाते हैं यहां तक कि मोक्ष अवस्था में पहुँचकर पूर्ण स्वतन्त्र हो जाते हैं यह बात भले प्रकार हृदयंगम कर लेनी चाहिये और इसी बात को केवली भगवान ने अपनी दिव्य ध्वनि में भली प्रकार स्पष्ट कर दिया है कि सुख स्वतन्त्रता में है और दुःख परतन्त्रता में है। इसी सिद्धान्त को रखते हुए श्री महावीर प्रभु ने धर्म दो प्रकार का बतलाया है—एक यति का धर्म है दूसरा गृहस्थ का। इस व्याख्या से धर्म के स्वरूप के दो भेद नहीं हो जाते। धर्म तो हर दशा में धर्ममय ही है। ये दो भेद तो भिन्न भिन्न अवस्था के विचार से किये हुये हैं। गृहस्थ का मार्ग यथाशक्ति धर्म पर आरूढ़ रहने का है और यति का धर्म पूर्ण शक्ति से धर्म पर चलने का है क्योंकि गृहस्थ अवस्था में धर्म पालन परम्परा से मोक्ष का कारण है। यति धर्म का पालन साक्षात मोक्ष का द्वार है इसका भी रहस्य यही है कि यति धर्म जीव का पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर बड़ी तेजी के साथ ले जाता है और जीव को मोक्ष अवस्था में शीघ्र पहुँचा देता है। गृहस्थ धर्म में पूर्ण स्वतन्त्रता की ओर गमन धीरे धीरे होता है इसीलिये बहुत समय लगता है। चूंकि इस लेख का विषय "जैन धर्म में स्वतन्त्रता" है इसलिये दोनों प्रकार के धर्म की विशेष व्याख्या न करते हुए इसी लेख की पुष्टि के सम्बन्ध में कुछ और नियम का साहस किया जाता है। कभी कभी यह संदेह होता है कि परपदार्थों से भी सुख मिलता है। इससे कुछ लोग यह समझने लगते हैं कि परतन्त्रता में ही शायद सुख हो। कभी कभी ऐसा आभास होता है कि कुछ स्थान

पीने की या दूसरी इन्द्रियों की सामग्री भोगने से सुख मिल जाता है। जैसे किसी को पेड़ा खाने की इच्छा हुई और उसने खा लिया तो उसे सुख प्रतीत हुआ। यह बात प्रकट में तो कुछ ठीक सी मालूम होती है। परन्तु यदि हम इस विषय पर गूढ़ दृष्टि से विचार करें तो हमें ज्ञात होगा कि यहाँ भी वही सिद्धान्त लागू होता है कि सुख स्वतंत्रता में है परतन्त्रता में नहीं और इसी का उल्लेख जैन धर्म में अनेकों प्रकार से किया गया है यदि किसी को पेड़ा खाने की इच्छा होती है समझना यह है कि पेड़े की इच्छा से पहिले यह जीव सुखी था या दुखी? उत्तर होना चाहिये सुखी तो पेड़े की इच्छा करके वह जीव दुखी हो जाता है और उस दुख को मिटाने के लिये पेड़ा प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यदि नहीं मिलता तो व्याकुल रहता है और यदि मिल जाता है तो सुखी हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं कि पेड़े में कुछ सुख भरा हुआ था परन्तु बात इतनी कि पेड़ा खाने से पेड़े की इच्छा रूपी दुःख थोड़ी देर के लिये दूर हो गया और सुख का आभास सा हुआ परन्तु सच्चे सुख का नहीं यदि इसी बात की पुष्टि अधिक उदाहरणों से की जाय तो विषय बहुत बढ़ जायगा इसलिये संक्षेप रूप से इतना समझना ही पर्याप्त होगा कि सुख स्वतन्त्रता में ही हो सकता है। स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं स्वच्छन्दता का अर्थ है इच्छा अनुकूल और स्वतन्त्रता का अर्थ है स्वभाव अनुकूल। मनमानी करने को स्वच्छन्दता कहते हैं और मन की आधीनता परतन्त्रता है। इसलिये स्वच्छन्दता भी परतन्त्रता ही हुई। इसीलिये जैनधर्म में इस बात पर बार बार जोर दिया है कि इन्द्री और मन को निग्रह करो। इनको जीतने वाला ही सच्चा शूरवीर है। क्योंकि इनके जीतने से ही हम स्वतन्त्र बन सकते हैं और जितनी जितनी हम इन पर विजय प्राप्त करते हैं उतना ही मोक्ष अवस्था के निकट पहुंचते चले जाते हैं। जैन धर्म में गुणस्थानों का मत इस बात को स्पष्ट करता है कि निज उपयोग का अन्तर्मुख होना ही स्वतन्त्रता है और बहिर्मुख होना ही परतन्त्रता है। चौथा गुणस्थान स्वतन्त्रता की प्रथम श्रेणी है गुणस्थानों का उत्कर्षण और अपकर्षण परिणामों का उत्कर्षण और अपकर्षण है। ज्यूं ज्यूं परिणाम विशुद्ध होते चले जाते हैं उपयोग अन्तर्मुख होता चला जाता है। जिनेन्द्र भगवान ने जो उपदेश दिया है उसका सारांश यही है कि उपयोग को केन्द्रित करके अपने आप में ही तन्मय कर दिया जावे और चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक इस बात का अभ्यास करना है धीरे धीरे मन को मारना है। मारने का यह आशय नहीं है कि मन रूपी छठी इन्द्री को ही शरीर से निकाल दिया जाय जैसा कि बहुत से लोग शायद समझते हैं कि इन्द्रियों की शक्ति का ही विनाश करने से इन्द्रियों का निग्रह हो जाता है ऐसा कदापि नहीं हो सकता। क्या आँख फोड़ लेने से चक्षु का निग्रह हो जायगा और पदार्थों का देखने की इच्छा मिट जायगी? तब तो कहना पड़ेगा कि अन्धे चक्षु इन्द्री के विजेता हैं पर ऐसा नहीं है क्योंकि उनकी चक्षु इन्द्री के विषय की लालुपता सुझाखों से भी कहीं अधिक है। यह हाल अन्य इन्द्रियों का भी है। बहरा गूँगा या हीजड़ा होने से कान वचन तथा उपस्थ इन्द्रिय का कहीं निग्रह थोड़ा ही हो जाता

है। इन्द्रिय निग्रह का तो आशय है इच्छा-अभाव इसी में पूर्ण स्वतन्त्रता है। धीरे धीरे इस बात की आवश्यकता है कि प्रथम उपयोग को इन्द्रिय और मन के व्यापार से धीरे धीरे हटाना है। विषय लोलुपता कम करनी है कषाय कम करनी है चितवन को सीमित करना है और उस अभ्यास को बढ़ाते हुए यहां तक लेजाना है कि उपयोग आत्मस्थ होजाये। यह बात काल्पनिक नहीं है परन्तु वास्तविक है। जैनधर्म में मोक्षमार्ग का प्रतिपादन वस्तु स्वभाव के आधार पर है और यथार्थ है। कभी कभी बारहवें गुणस्थान की दशा को समझना बहुत कठिन हो जाता है यह बात तो ठीक है कि यह अवस्था केवल ज्ञानगम्य है परन्तु यदि आत्मानुभव का तनिक भी अभ्यास हो तो गुणस्थानों का क्रम और अभ्यास अच्छी तरह समझ में जरूर आ सकता है। इस आत्मानुभव का अभ्यास चौथे गुणस्थान से ही आरम्भ हो जाता है और थोड़े से अभ्यास के बाद चेतना का अनुभव होने लगता है। जो उपयोग पर पदार्थ के भाग में लगा रहता है वही उपयोग जब निज के अनुभव में तन्मय हो जाता है उसीका नाम आत्मानुभव है और आत्मानुभव ही स्वतन्त्रता है। जितना जितना आत्मानुभव शोभक चन्द्रमा की भांति बढ़ता चला जाता है उतनी उतनी पूर्ण स्वतन्त्रता या मोक्ष-अवस्था निकट आती चली जाती है। क्योंकि आत्मानुभव में पर पदार्थ से छुटकारा हो जाता है और उपयोग बहिर्मुख से अन्तर्मुख हो जाता है। यह अभ्यास चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक चलता है और यहां पूर्ण हो जाता है। इसीलिए बारहवें गुणस्थान के अन्त में केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। उस अवस्था में पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान पूर्णज्ञान का प्रकाश हो जाता है और परमात्मा पूर्ण ज्ञान के विकास में बाधक थे हट जाते हैं जैसे सूर्य या चन्द्रमा की रोशनी का विकास उस समय पूर्ण हो जाता है जब बादल हट जाते हैं। चूंकि इस लेख का विषय अधिक बढ़ता जा रहा है केवल एक दो बात उल्लेख करके लेख समाप्त किया जाता है। यह समझना अति आवश्यक है कि केवल ज्ञान की अवस्था कैसे प्राप्त हो जाती है? मन कैसे मर जाता है? और पूर्ण स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त हो जाती है? इसका क्रम यह है कि पहले तो आर्त और रौद्र ध्यान से छुटकारा पाने का प्रयत्न किया जाता है। फिर उपयोग को धर्म ध्यान में आरूढ़ किया जाता है। इसके पश्चात् शुक्ल ध्यान में संलग्न होना पड़ता है और यहां पर विशेष रूप से उपयोग को मन से हटाने का ही अभ्यास किया जाता है यह काम बहुत धीरे धीरे और कठिनाई से होता है क्योंकि अनादि काल से इस आत्मा का मन से काम लेने का अभ्यास पड़ा हुआ है। मन की दासता से छुटकारा पाना एक दम नहीं हो सकता। उपयोग केन्द्रित होने पर भी मन एक विषय से दूसरे विषय तक पहुँच जाता है फिर धीरे धीरे शुक्ल ध्यान के दूसरे पाये में उपयोग एक ही विषय पर केन्द्रित हो जाता है परन्तु अब भी मन की सहायता से ही कार्य होता है फिर धीरे धीरे जब उपयोग और केन्द्रित होता है और प्रतिपक्षी कर्म का आवरण हट

जाता है तो मन का कार्य बन्द हो जाता है। उपयोग अपनी माता आत्मा की गोद में आ बैठता है और स्वतन्त्रता का पूर्ण संचार हो जाता है और जो कार्य चौथे गुणस्थान में प्रारम्भ किया था आज पूर्णब्रह्म परमात्मा बन जाता है। वह अपने स्वाभाविक गुणों का बाधा रहित सुख भोगता है। फिर न कोई चिन्ता न कोई बाधा न किसी प्रकार की पराधीनता न इन्द्रियों की वासना न योग की चपलता न कषाय की उद्वेगता, अपने पूर्ण शान्त स्वभाव में आ जाता है यही है वह पूर्ण स्वतन्त्रता जिसकी प्राप्ति के लिये जैन धर्म में अनेक साधनों का विवेचन किया गया है। इससे यह स्पष्ट है कि जैन धर्म में जो धर्म के साधन बतलाये हैं वे सब स्वतन्त्र साधन हैं और स्वतन्त्रता की ही सिद्धि के लिये हैं। यहाँ पर एक शंका का निवारण अभिप्राय है कुछ लोगों को यह सन्देह होजाता है कि यदि जैन धर्म में मोक्षमार्ग पराधीन नहीं है तो फिर ईश्वर की आराधना क्यों की जाती है? संक्षेप में इसका उत्तर यह है कि जैनधर्म में भक्ति का मार्ग निषेध नहीं है आवश्यकता केवल इस बात की है कि भक्तिमार्ग का आशय ठीक ठीक समझ में आजावे। हम ईश्वर की भक्ति इसलिये नहीं करते कि भक्ति करने से ईश्वर हमें मुक्ति दे देंगे जैसे कि मुक्ति भी कोई लेने देने की चीज हो मुक्ति तो स्वतंत्रता को कहते हैं या स्वभाव की प्राप्ति को कहते हैं विभाव से हटने को कहते हैं सच्ची मुक्ति तो पर पदार्थ से मुक्त (स्वतन्त्र) होने पर प्राप्त होती है। जैन धर्मानुसार तो ईश्वर की भक्ति इसलिये की जाती है कि भगवान हमारे मोक्ष मार्ग के आदर्श हैं। हमारे सामने उन्होंने मोक्ष मार्ग का ऐसा आदर्श रक्खा है कि जिस पर चलकर हम अवश्य मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं बिना भगवान के उपदेश और आदर्श के हमारा हाल कोल्हू के बैल की तरह हो जाय कि सारा दिन चले और रहे वहीं का वहीं अथवा। बिना सच्चा मार्ग जाने हुए चाहे कितना कष्ट उठाया जावे मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। जैसे किसी को जाना है कलकत्ता और मार्ग भूलकर जाने लगे करांची की ओर तो चाहे वह कितनी तेजी से चले कलकत्ता नहीं पहुंच सकता। हर कार्य के सम्बन्ध में यही बात है हर कार्य की सिद्धि तब हो सकती है यदि उसके लिये ठीक साधन जुटाये जायें। मोक्ष प्राप्ति जैसे महान कार्य की सिद्धि के साधनों का ज्ञान हमें भगवान के उपदेश और आदेश से ही प्राप्त होता है अत हमारे ऊपर उनका इतना अनुग्रह है तो हमारा भी कर्तव्य हो जाता है कि उनकी भक्ति करें। लोक व्यवहार में भी रिवाज है कि कुशलता के विषय में जब पूछा जाता तो कह देते हैं कि मैं आपकी कृपा से कुशल से हूँ। फिर भगवान की भक्ति और भजन करना अति आवश्यक है। यह स्मरण रखना चाहिये कि जैनधर्म साधना मार्ग है याचना मार्ग नहीं किसी कार्य की सिद्धि के लिये केवल याचना से काम नहीं चल सकता क्योंकि याचना मार्ग एक प्रकार की याचना है और याचना परतन्त्रता है इसलिये जैनधर्म में आदि से अन्त तक स्वतन्त्रता का ही प्रतिपादन किया गया है।

———:o:———

जैन दृष्टि से अहिंसा तत्त्व

ले० भोगीलाल धुलीलाल पटेल "न्यायतीर्थ"

हिंसा आद्यधर्म है और मूल धर्म भी है। आद्य इसलिए कि मनुष्य ने या प्राणी ने सबसे पहिले इसे ही सीखा और मूल इसलिए कि जितने अन्य आचार हैं वे इसीलिए धर्म कहलाते हैं कि उन सबका मूल अहिंसा है। अहिंसा ही मानवता का धर्म है। इतिहास इस बात को स्वीकार करता है कि सर्व प्रथम समाज में अहिंसा थी। बच्चा अपने सहजस्वभाव से माता के स्तन से दूध पिया करता है दुग्धपान करने के लिए उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता है उसी तरह अनायास ही समाज अहिंसा का पालन करता था। एक वह समय था जब कि सारा विश्व अहिंसा देवी की छत्रछाया में विश्राम करता था। अहिंसा के सिद्धान्त पर ही समाज की रचना हुई है। यहां संपूर्ण आचार व विचार में हमारे धर्मानुष्ठान में अहिंसा क्रमशः विस्तृत थी व्यापक आत्मबोध यही था कि सबको अपना आत्मीय मानना। 'लोका समस्ता सुखिनो भवन्तु' सभी सुखी हों यही भावना भारतीय सभ्यता की नींव थी और इसीलिए भारतवर्ष विश्व के समस्त देशों के लिए आदर्शरूप था।

भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही दो संस्कृति चली आरही है (१) ब्राह्मण संस्कृति (२) श्रमण संस्कृति। अहिंसा के प्रचार में हिन्दू धर्म में जो स्थान श्री कृष्ण का है वैसा ही स्थान श्रमण संस्कृति के उपासक बौद्धधर्म में बुद्धदेव का और जैनधर्म में महावीर स्वामी का है। हिन्दु धर्म में वेदों का स्थान बहुत उच्च है। वेदों में स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है कि 'मा हिंस्यात सर्व भूतानि'–मनुस्मृति में भी कहा है कि –

पंचैतानि पवित्राणि सर्वेषाम् धर्मचारिणाम् ।

अहिंसा सत्यमस्तेयं त्यागो मैथुनवर्जनम् ॥

अर्थात् अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य त्याग ये पांच सर्व धर्मचारियों के लिए पवित्र है। श्री कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि–

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।

सुखं वा यदि वा दुःखं सयोगी परमो मतः ॥

अर्थात् जो सर्वत्र अपनी तरह देखता है जैसे कि मुझे सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय है उसी प्रकार दूसरों को भी दुःख अप्रिय और सुख प्रिय लगता है। और जो इस प्रकार मानता है वही योगी कहलाता है। पुराण में भी व्यासजी ने बताया है कि–

जीवितं यः स्वयं चेच्छत् तत्परस्यापि चिन्तयेत् ।
जीवितं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत् ॥

अर्थात्–जो अपने लिए चाहते हो वही दूसरों को भी प्रिय है। इसलिए यदि हम जीवन चाहते हैं तब अन्य का घात कैसे करें ? क्योंकि कहा है कि आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् यह ब्राह्मण संस्कृति की अहिंसा की नींव है। फिर भी वर्तमान में जब चारों ओर निहारते हैं तो मालूम पड़ता है कि ब्राह्मण संस्कृति वाले अहिंसा का कितना पालन करते हैं ? और पहले कितना करते थे ? ब्राह्मण संस्कृति के महान पुरुषों के अहिंसा सिद्धान्त पर जोरदार उपदेश हुए हैं तथापि यज्ञों में पशुओं की हत्या मांसभक्षण सर्वत्र दृष्टिगोचर हो रहा है। ये अपने अहिंसा सिद्धान्त को कहां तक पाल सके हैं यह तो स्पष्ट ही दिखाई दे रहा है।

दूसरी तरफ श्रमण संस्कृती के मानने वाले बुद्ध और महावीर थे। बुद्ध ने भी ब्राह्मण संस्कृति की प्रचण्ड हिंसा को देखकर भारत में अहिंसा का झंडा लहराया। बुद्ध ने कहा है कि—

इध सोचति पेच्च सोचति,
पापकारी उभयत्थ सोचति ॥

अर्थात्–पापी इस लोक और परलोक दोनों में दुःखानुभव करते हैं। Both now h next evil dore suffers बुद्धने यहाँ तक कहा कि अपनी प्राणरक्षा के लिए भी जान बूझकर किसी की हिंसा न करो। सब जीवों को जीने की इच्छा है मरना कोई भी नहीं चाहता इसलिए मेरी ही तरह सुख की इच्छा रखनेवाले प्राणी को मार डालें तो यह क्या अच्छी बात होगी ? इसलिए प्रत्येक मनुष्य का प्राणिघात से विरत होना चाहिए और दूसरों को घोर हिंसा से बचाना चाहिए। बुद्धने जगत् को यह भी कहा था कि सर्व प्रथम तीन ही रोग थे–इच्छा क्षुधा और बुढ़ापा। पशुहिंसा से अर्थात् मांस भक्षण से बढ़ते बढ़ते अट्ठानवे रोग हो गये। आगे इसके विषय में और भी कहते हैं कि—

' जय वेरं पसवति दुक्खं सेते पराजितो

किसी पर विजय पाई तो उसमें से वैर बढ़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि हिंसा रूप आक्रमण से और आक्रमण की चोट में फिर हिंसा खड़ी ही है। इसलिए अवैरभाव ही प्राणियों के लिए श्रेयस्कर है। यह बुद्ध का विश्वसंदेश था और अहिंसा का यह सन्देश विश्व में गूंज उठा था किन्तु आज अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए अवैर भाव रूप अमृत को पीने वाले लोग अवैर के सिद्धान्त को भूल गए हैं और सपूर्ण विश्व ने बुद्ध के अहिंसा सिद्धान्त को शून्यप्रायसा बना दिया है। अब यह बात सामने आती है कि अहिंसा सब धर्मों का मान्य है क्योंकि अहिंसा ही धर्मों की जननी है। ईसा का भी यही उपदेश है कि—

The fifth Commandment of the Bible-Thou shalt not kill anybody Bless them who curse you. इस सिद्धान्त में और वीर के अवैर भाव मे क्या विशेषता है ?

Merits which accure from non-injury can never accure from injury, lotuses which grow only in water can never have fire at their sources

From Indra down to a worm like happiness and dislike pain इस तरह ईसा प्रभु का उपदेश है ।

मुहम्मद पैगम्बर साहब कुरान के चौथे तुफके में कहते हैं कि— 'जींदरहींदें' अर्थात् खुद जीओ और दूसरों को भी जीने दो। ऐसे तो विश्व में कोई भी धर्म हिंसा करने की आज्ञा नहीं देता फिर भी जैनदृष्टि से अहिंसा पर लिखने की क्या आवश्यकता है ? यह प्रश्न भी सत्य है क्योंकि गीता की अहिंसा गौतम बुद्ध का अवैरभाव मुहम्मद साहब की अहिंसा टॉलस्टाय का अप्रतिकार का सिद्धान्त केकर का शान्तिवाद Pacism और जैनी अहिंसा इन सब में साम्य है फिर भी जैनों की अहिंसा और इसकी व्याख्या में विशेषता है इसीलिए यहाँ पर जैनदृष्टि से विचार किया जायगा :—

जैनदृष्टि से विचार करने के पहिले जैन धर्म और विश्व के अन्य धर्मों में क्या विशेषता है यह जानना जरूरी है। जैन धर्म का मौलिक सिद्धान्त अहिंसा और स्याद्वाद है। आचार में अहिंसा और विचार में स्याद्वाद यही जैन धर्म की विशेषता है। स्याद्वाद के सिद्धान्त का जैन धर्म के सिवाय अन्य किसी धर्म में स्पष्ट रूप से नहीं पाये जाते।

जैन धर्म यदि शरीर है तो स्याद्वाद और अहिंसा उसकी आत्मा है। जिस प्रकार शरीर में से आत्मा चला जाय और मिश्री में से मिठास चली जाये तो वह निस्सार मालूम पड़ती है उसी तरह स्याद्वाद व अहिंसा के चले जाने पर जैन धर्म शून्यरूप हो जाता है। प्रत्येक वस्तु को ठीक तरह से समझने के लिए उसे विभिन्न दृष्टियों से देखना उसके अलग अलग पहलुओं से विचार करना वस्तु के स्वरूप को भिन्न भिन्न अवस्था में देखना ही स्याद्वाद–अनेकान्तवाद–अपेक्षावाद कहलाता है। प्रश्न होता है कि क्या सर्वत्र स्याद्वाद का सिद्धान्त लग सकता है ? बहुतों की मान्यता है कि स्याद्वाद से किसी भी तत्त्व का पूर्ण निश्चय नहीं होता किन्तु शंका स्पद रहता है। कुछ लोग कहते हैं कि जैन धर्म का स्याद्वाद का सिद्धान्त मनुष्य को किसी भी वस्तु का ज्ञान करने के लिए आधे मार्ग तक ले जाकर शंकास्थित बनाकर ज्ञान नहीं होने देता। वस्तुतः यह गलतफहमी है । Absolute truth से शंका उत्पन्न नहीं होती किन्तु शंकास्पद स्थानों का निवारण होता है । जैसे न्यायनिष्ठ राजा के राज्य करने पर प्रजा उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकती और वैसा करने पर प्रजा की सार्वहानि होती है वैसे ही स्याद्वाद रूप राजा के राज्य

करने पर कोई भी वस्तु उसका उल्लंघन नहीं कर सकती और ऐसा करने पर अपने स्वरूप से वस्तुएं भ्रष्ट होती हैं इसलिए जैन धर्म की अहिंसा का सम्पूर्ण रीति से ज्ञान करने के लिए उस पर अनेकान्त दृष्टि से विचार करना नितान्त आवश्यक है। और वैसा करने पर अहिंसा का स्वरूप स्पष्ट तथा समझ में आजाता है।

वाचक मुख्य श्री उमास्वामी तत्त्वार्थ-सूत्र में अहिंसा की व्याख्या बताते हुए कहते हैं कि- 'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा' मन वचन और काया से प्रमादावस्था में किसी भी प्राणी का घात करना यही हिंसा है दूसरी भाषा में कहें तो कषायपूर्वक प्राणनाश को हिंसा कहते हैं इससे विरमना अर्थात् हिंसा का त्याग करना अहिंसा है। हिंसा किस कारण से होती है इसका विवेचन करने के पश्चात् ही हिंसा से निवृत्त होने का उपाय स्पष्ट होगा।

हरएक प्राणी को अपने अपने कर्मानुसार रूप गुणादि प्राप्त हैं। अब एक प्राणी दूसरे के रूपादि को देखकर ईर्ष्यापूर्वक लेने की इच्छा करता है लेकिन सामने वाले प्राणी से वह वस्तु अनायास प्राप्त नहीं होती। अतः उसे लेने के लिए उसका नाश करना पड़ता है। जैसे कि एक शिकारी को हिरन का मांस प्रिय है। अब उस हिरण का मांस उसे यों तो नहीं मिल सकता इसलिए मांस को ग्रहण करने के लिए उसका वध अवश्य करना पड़ता है। अतः हिंसा का कारण यही है कि अन्य की वस्तु को किसी न किसी प्रकार अपने आधीन करना। किन्तु न्यायप्राप्त वस्तु में संतोष रखना यही अहिंसा की संक्षेप में व्याख्या है क्योंकि संतोष होने पर कोई किसी का घात नहीं कर सकता। उपर्युक्त स्वार्थभावना होने से हिंसा अत्यन्त गर्हित है क्योंकि आचारांग में परमेश्वर कहते हैं कि-

सव्वे पाणा पियाउया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउकामा णातिवाएज्ज किंचणं ॥

अर्थात् सभी प्राणी अपने २ आयुष्य को प्रियकारी मानते हैं। सब जीवों को जीने की इच्छा है इसलिए किसी को मत मारो। अहिंसा की महत्ता के लिए इससे अधिक और क्या व्याख्या हो सकती है।

जैन धर्म ने अहिंसा का केवल उपदेश ही नहीं दिया है अपितु उसके अनुयायियों ने वैसा ही आचरण करके दिखलाया है। अन्य धर्मों में तो अहिंसा की ऐसी व्याख्याएं की हैं जिनमें उनकी अहिंसा मात्र उन उन धर्मों पर लागू हो। इस तरह यह सीमित हो गई है और उसमें भी उन्होंने उसका बिल्कुल आचरण नहीं किया लेकिन जैन धर्म में ऐसी बात नहीं है। जैन धर्म ने अहिंसा की विस्तृत व्याख्या के साथ साथ उसका आचरण करने के लिये भी उतना ही जोर दिया है और यही कारण है कि जैन धर्म अहिंसा के सिद्धान्त के कारण विश्वधर्म बन सकता है। परन्तु जैनधर्म विश्वधर्म न हो सका उसका एक मात्र कारण यह है कि जैनधर्म के इस महान् सिद्धान्त के यथार्थ स्वरूप को समझने के लिए बहुत

थोड़ मनुष्यों ने प्रयत्न किया है। जैनधर्म की अहिंसा के विषय में लोगों में बड़ी भ्रमजनक अज्ञानता फैली हुई है। कोई उसे अव्यवहार्य कहते हैं कोई अनाचरणीय बताते हैं कोई आत्मघाती का दोष देता है कोई राष्ट्र नाशिनी का कलंक लगाता है। इसलिए यहां पर संक्षेप से इन बातों पर विचार करना आवश्यक है। इस अज्ञानता के निवारण के लिए ही जैन धर्म ने पद पद पर विचार करके अनेकान्तवाद का समर्थन किया है। जैन धर्म का अहिंसा सिद्धान्त केवल बाह्याचार पर ही निर्भर नहीं है किन्तु बाह्याचार के भीतर रहने वाले परिणाम और उसके ध्येय पर निर्भर है। आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरिजी ने अहिंसा के स्वरूप का स्पष्टीकरण उत्तम रीति से किया है। वे कहते हैं कि—

१ कोई हिंसा न करके भी हिंसा का फल प्राप्त करता है।
२ कोई हिंसा करके भी हिंसा का फल नहीं पाता। किसी की हिंसा का स्वरूप थोड़ा मालूम पड़ता है किन्तु फल बड़ा होता है।
३ किसी की हिंसा महा हिंसा के समान मालूम पड़ती है और फल थोड़ा होता है।
४ एक ही हिंसा किसी को तीव्र फल देती है किसी को मन्द फलदायक होती है। एक हिंसा अन्य हिंसा से तीव्र परिपाकवाली या मन्द फलस्वरूप होती है। इसलिए हिंसा-हिंसा में अन्तर है।

हिंसा क्या है? हिंसा किसकी की जा रही है? हिंसक कौन है? उसका फल क्या होने वाला है? इन सब बातों का अच्छी तरह तत्वदृष्टि से विचार करके हिंसा का त्याग करना चाहिए। इससे मालूम होता है कि जैन धर्म में हिंसा अहिंसा के चार भेद हैं—अहिंसा रूप अहिंसा हिंसा रूप अहिंसा अहिंसा रूप हिंसा हिंसा रूप हिंसा। प्रथम दो भेद अहिंसा के हैं जो कि कर्तव्य याने उपादेय हैं और अन्य दो भेद हिंसा के त्याज्य हैं। पापस्वरूप हैं।

जैन धर्म की अहिंसा क्या है? वह कितनी व्यापक और व्यवहार्य है? इसका पता इसीसे मिल जाता है। समास से हम कह सकते हैं कि जैन दृष्टि से इन चारों अंगों में ही अहिंसा की व्याख्या समाविष्ट हो जाती है।

१—हिंसा अहिंसा फल—न्यायरक्षा के लिए की गई प्राणिघात रहित सूक्ष्म हिंसा का फल हमें महान् हिंसा के फल के समान नहीं मिल सकता। बाह्यदृष्टि से वह हिंसा मालूम होती है किन्तु वह हिंसा नहीं कही जा सकती। क्योंकि वह हिंसा हिंसा समझ के नहीं होती किन्तु न्याय रखने के लिए की जाती है। न्याय के लिए की गई हिंसा न अहिंसा सदृश मानी जा सकती है। यदि उसमें निस्वार्थ भावना हो।

अहिंसा हिंसा फल—

इससे विपरीत अन्याय-अत्याचार के सामने अहिंसा का सिद्धान्त पकड़

कर निर्माल्य होकर रहना। जैसे किसी स्त्री पर कोई अत्याचार करता हो और उसे देखते हुए भी हिंसा के भय से स्त्रीरक्षण के लिये शत्रु का सामना न करे यह अहिंसा हिंसा की ही पोषक है। बाह्यदृष्टि से यह भले ही अहिंसा कही जाय, किन्तु यह अन्याय की पोषक होने से हिंसा ही कही जा सकती है।

अहिंसा से अहिंसा फल —

जो बाह्य और आभ्यंतर दृष्टि से अहिंसा मालूम होती है वह अहिंसा अहिंसा फलदायी है।

हिंसा हिंसा—अहिंसा से विपरीत-दोनों दृष्टियों से हिंसा मालूम हो वह हिंसा रूप हिंसा है।

इस तरह जैन धर्म की अनेकान्तरूप अहिंसा को भूलकर आज लोक की नजर सिर्फ द्रव्य हिंसा अर्थात् बाह्य हिंसा अहिंसा पर है। अहिंसा की ओट में छिपी हुई हिंसा और हिंसा के पीछे रही हुई अहिंसा को लोग देख नहीं सकते हैं क्योंकि वे अपने मस्तिष्क की विचार शक्ति को तिलांजलि दे बैठे हैं।

यद्यपि जैनधर्म की अहिंसा अत्यन्त विस्तृत है इसलिए इस समय अल्पवीर्य होने के कारण उसका पूर्ण रीति से पालन करना अशक्य है, फिर भी उसे अव्यवहार्य या आत्मघातिनी कहना उचित नहीं है। क्योंकि इसे सभी विचारक स्वीकार करते हैं कि इस अहिंसा तत्त्व के प्रवर्तकों ने इसका आचरण अपने जीवन में पूर्णतया किया था। फिर भी इससे किसी को आत्मघात करने का अवसर नहीं मिला। साथ ही साथ हमें यह भी स्मरण करना चाहिए कि सत्सिद्धान्त सर्व साधारण को सुलभ और सुपालनीय हो सकता है ! सिद्धान्त एक आदर्श है और आदर्श जितना उच्च होगा उतना ही उससे प्राणियों का अधिक विकास होगा। यदि हमारा आदर्श ही शुद्ध होगा तब तो फिर विकास के लिए कोई मार्ग ही न रहेगा इसलिए जो अपने अत्यन्त विकास की अभिलाषा करते हैं आत्मा को समस्त प्रकार के दुःखों से मुक्त कर परम सुख को प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए अहिंसा का महान् आदर्श होना आवश्यक है। इस प्रकार अहिंसा न तो अव्यवहार्य हो सकती है और न आत्मघातिनी ही। उपर्युक्त व्याख्या सर्वसाधारण द्वारा पालन नहीं की जा सकती। वह तो महान् पुरुषों के द्वारा ही पालन योग्य है। सर्व साधारण के लिए अहिंसा की व्याख्या यह की जा सकती है कि जिस हिंसा के बिना व्यवहार हो सकता है ऐसी हिंसा का आचरण नहीं करना चाहिए। यह तो अहिंसा की संक्षेप में व्यावहारिक व्याख्या हुई।

हिंसा और अहिंसा भावना पर ही अशुभ और शुभ फलदायिका होती है ऐसा कहें तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। अहिंसा के प्रचारकों ने हिंसा की व्याख्या करते समय बाह्यदृष्टि से होने वाली हिंसा को ही दोष रूप न बतलाते हुए हिंसा के लिये होनेवाली भावना के अनुसार उसे दोष या अदोष रूप बतलाई। और यह

भावना है रागद्वेष की विविध ऊर्मियां तथा असावधानता जिसको आगम भाषा में प्रमाद कह सकते हैं। अगर ऐसी दशा में प्राणनाश हुआ हो तो वहीं हिंसा कहलाती है।

शास्त्रों में भी बाह्यदृष्टि से दिखती हुई हिंसा को द्रव्य हिंसा कही गई है। और अशुभ भावनापूर्वक होनेवाली हिंसा को भाव हिंसा कहा है। मनुष्य अगर निम्नोक्त बातों को ध्यान में लेकर उन्हें अपने जीवन में स्थान दे तो वह अहिंसा का पालन कर सकता है।

१ जीवन को सादा बनाले और अपनी आवश्यकताओं को कम करदे।

२ मनुष्य अज्ञान होने पर भी ज्ञान का पुरुषार्थ के अनुसार स्थान तो है ही इसलिए प्रतिक्षण सावधान रहना और कहीं भूल न हो जाय इस बात को ध्यान में रखना। स्थूल जीवन की तृष्णा और उसके कारण पैदा होने वाले रागादि दोषों को कम करने का सतत प्रयत्न करना।

तात्पर्य यह है कि जिससे चित्त की कोमलता घटे कठोरता पैदा हो स्थूल जीवन की तृष्णा बढ़े वह हिंसा है और उससे विपरीत अहिंसा है। इसलिए वह अव्यवहार्य नहीं हो सकती।

अब हमें यहां देखना है कि यह अहिंसा राष्ट्रघातक सिद्ध हो सकती है या नहीं। अहिंसा कभी राष्ट्र घातक नहीं हुई है और न हो ही सकती है। अहिंसा से भारत आज गुलामी के बंधनों में जकड़ा हुआ है इस प्रकार की भ्रान्ति को आज हम सुनते हैं सो निरी अज्ञानता ही है। भारत की पराधीनता का कारण अकर्मण्यता अज्ञानता और असहिष्णुता है, अहिंसा नहीं। भारत का पुरातन इतिहास बतला रहा है भारत में जबतक अहिंसा प्रधान धर्मों का अभ्युदय रहा तब तक प्रजा में शान्ति-शौर्य-सुख और संतोष का साम्राज्य रहा। अहिंसा धर्म के महान् उपासक और प्रचारक भूपति श्रेणिक, चेटक और मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त तथा अशोक थे। क्या इनके समय में भारत पराधीन हुआ? इतिहास तो स्पष्ट बतला रहा है कि इनके समय में भारत सब देशों का शिरोमणि था और कला व विद्या में सर्वोच्च शिखर पर था। इनसे मालूम पड़ता है कि जिस अहिंसा के प्रचारक महान् पुरुष थे स्वयं शूरवीर और पराक्रमशाली थे उस धर्म से भारत पराधीन कैसे हो सकता है? इस तरह अहिंसा से भारतवर्ष कभी पराधीन नहीं हुआ है। वास्तव मैत्री भावना के अभाव में जबकि दुर्भेद बढ़ गया स्वार्थ असहिष्णुता आदि से हिंसा का विस्तार हुआ और इसीसे भारत दूसरे लोगों के हाथों में आकर पराधीन बन गया। बहुत से यह यह भी मान्यता रखते हैं कि हिंसा से ही भारत आजाद होगा। यह मान्यता बिल्कुल भ्रमजनक है। इस बात का पता इसी से मिल जायगा कि रोमन साम्राज्य जो अत्यन्त क्रूर नृशंस और खूनी जिसका प्रधान भोजन है वह क्या शांति और सुख पूर्वक रह सका है? उसका तो दुनिया की गिनती से भी ७ ०० दशा भारत की भी आज हम देखते हैं। जब हम शान्ति और

भावनापूर्वक रहते हैं तब हमारे ऊपर आक्रमण करने का दूसरों के लिए कारण ही नहीं हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि अहिंसा से देश पराधीन नहीं होता है।

संक्षेप में लिखने का तात्पर्य यह है कि जैनधर्म का आसन अहिंसा धर्म के मानने वाले धर्मों में सबसे प्रथम है और इसका जैनधर्म का 'अहिंसा परमो धर्म' सिद्धान्त है।

जैनधर्म की यह आज्ञा कभी नहीं है जब सबल निर्बल को सतावे या कष्ट पहुंचावे तो उदासीन होकर बैठे रहना चाहिये। गृहस्थों के लिए यह अर्थ नहीं है कि जैनधर्मानुयायी गृहस्थ पदलोलुप-आततायी, धनमाखों गुरुओं, विषय लम्पट पुरुषों अबलाओं के सतीत्व और धर्म को नष्ट भ्रष्ट करने वाले अधर्मियों लुटेरे और डाकुओं के द्वारा होने वाले अन्यायों और अत्याचारों को चुपचाप बैठे २ किसी भी प्रकार सहन करें वरन विरोध करें। इसी प्रकार अहिंसा दृढ़ हो सकती है।

जैनियों की अहिंसा-व्यक्तिगत स्वाभिमान और आत्मसम्मान के मार्ग में कभी बाधक नहीं हो सकती और न इससे साहस-वीरता जातीय गौरव की कभी हानि ही हो सकती है। जैनधर्म की अहिंसा अन्यायों के धर्म को दबाने को देवियों के सतीत्व की रक्षा करने को, बिलखते हुए बच्चों को अपनी माता की गोदी से अलग न होने देने को अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझती है। जैनधर्म की अहिंसा केवल निषेधात्मक-उपदेश मात्र ही नहीं है उसमें गूढ़ विधायकतत्त्व भी है। जैनधर्म की अहिंसा हमें वास्तविक नैतिक शिक्षा का सन्मार्ग दिखाती है। हमें अन्य की सेवा के लिए उत्साहित करती है स्वार्थ की संकुचित वृत्ति से हटाकर 'वसुधैव कुटुम्बक' के विश्वव्यापक मंडल में मिला देती है यह हमें प्राणि मात्र की सेवा करने का सुन्दर बल प्रदान करती है और गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी आत्म कल्याण का सुगम मार्ग दिखाती है। अगर भव आरत आज़ाद हो सकता है तो हिंसा रहित अहिंसा शस्त्र के द्वारा ही हो सकता है।

देश के अनमोल रत्न पूज्य महात्मा गांधी इसी अहिंसा के पालन से ही विश्व वंद्य हुए हैं। वे इसी बात पर ज़ोर देते हैं कि अहिंसा ही स्वतंत्रता लाने के लिए परम और अमोघ शस्त्र है फिर चाहे वह देर से प्राप्त हो किन्तु अगर होगी तो इससे होगी। उन्होंने स्व. ला. लाजपतरायजी को अहिंसा के संबंध में अपने विचार दर्शाते हुए लिखा था:—

Our Shastras seem to teach that a man who really Practises Ahimsa its fullness has the world at his feet, he so affects surroundings that even the snakes do him no harm.

अब अन्त में अहिंसा की साधना के उपाय बताकर अपना लेख समाप्त करूँगा। अहिंसा की साधना के मार्ग प्रकार हैं:—

भावना है रागद्वेष की विविध ऊर्मियां तथा असावधानता जिसको आगम भाषा में प्रमाद कह सकते हैं। अगर ऐसी दशा में प्राणनाश हुआ हो तो वहीं हिंसा कहलाती है।

शास्त्रों में भी बाह्यदृष्टि से दिखती हुई हिंसा को द्रव्य हिंसा कही गई है। और अशुभ भावनापूर्वक होनेवाली हिंसा को भाव हिंसा कहा है। मनुष्य अगर निम्नोक्त बातों को ध्यान में लेकर उन्हें अपने जीवन में स्थान दे तो वह अहिंसा का पालन कर सकता है।

१ जीवन को सादा बनाले और अपनी आवश्यकताओं को कम करदे।

२ मनुष्य अज्ञान होने पर भी ज्ञान का पुरुषार्थ के अनुसार स्थान तो है ही इसलिए प्रतिक्षण सावधान रहना और कहीं भूल न हो जाय उस बात का ध्यान में रखना। स्थूल जीवन की तृष्णा और उसके कारण पैदा होने वाले रागादि दोषों को कम करने का सतत प्रयत्न करना।

तात्पर्य यह है कि जिससे चित्त की कोमलता घटे कठोरता पैदा हो स्थूल जीवन की तृष्णा बढ़े वह हिंसा है और उससे विपरीत अहिंसा है। इसलिए वह अव्यवहार्य नहीं हो सकती।

अब हमें यहां देखना है कि यह अहिंसा राष्ट्रघातक सिद्ध हो सकती है या नहीं। अहिंसा कभी राष्ट्र घातक नहीं हुई है और न हो ही सकती है। अहिंसा से भारत आज गुलामी के बंधनों में जकड़ा हुआ है इस प्रकार की भ्रान्ति को आज हम सुनते हैं सो निरी अज्ञानता ही है। भारत की पराधीनता का कारण अकर्मण्यता अज्ञानता और असहिष्णुता है अहिंसा नहीं। भारत का पुरातन इतिहास बतला रहा है भारत में जबतक अहिंसा प्रधान धर्मों का अभ्युदय रहा तब तक प्रजा में शान्ति-शौर्य-सुख और संतोष का साम्राज्य रहा। अहिंसा धर्म के महान् उपासक और प्रचारक भूपति श्रेणिक जैसा और मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त तथा अशोक थे। क्या उनके समय में भारत पराधीन हुआ? इतिहास तो स्पष्ट बतला रहा है कि उनके समय में भारत सब देशों का शिरोमणि था और कला व विद्या में सर्वोच्च शिखर पर था। इससे मालूम पड़ता है कि जिस अहिंसा के प्रचारक महान् पुरुष थे स्वयं शूरवीर और पराक्रमशाली थे उस धर्म से भारत पराधीन कैसे हो सकता है? इस तरह अहिंसा से भारतवर्ष कभी पराधीन नहीं हुआ है। लेकिन मैत्री भावना के अभाव में जबकि फुसंग बढ़ गया स्वार्थ असहिष्णुता आदि से हिंसा का विस्तार हुआ और इसीसे भारत दूसरे लोगों के हाथों में आकर पराधीन बन गया। बहुत से यह यह भी मान्यता रखते हैं कि हिंसा से ही भारत आज़ाद होगा। यह मान्यता बिल्कुल भ्रमजनक है। इस बात का पता इसी से मिल जायगा कि रोमन साम्राज्य जो अत्यन्त क्रूर, नृशंस और मांसाहारी जिसका प्रधान भोजन है वह क्या शांति और सुख पूर्वक रह सका है? उसको तो दुनिया की गिनती से भी बढ़ जाना पड़ा यही दशा भारत की भी आज हम देखते हैं। जब हम शान्ति और अहिंसामूलक मैत्री

भावनापूर्वक रहते हैं तब हमारे ऊपर आक्रमण करने का दूसरों के लिए कारण ही नहीं हो सकता है। इससे सिद्ध होता है कि अहिंसा से देश पराधीन नहीं होता है।

संक्षेप में लिखने का तात्पर्य यह है कि जैनधर्म का आसन अहिंसा धर्म के मानने वाले धर्मों में सबसे प्रथम है और इसका जैनधर्म का ' अहिंसा परमो धर्म सिद्धान्त है।

जैनधर्म की यह आज्ञा कभी नहीं है जब सबल निर्बल को सतावे या कष्ट पहुँचावे तो उदासीन होकर बैठे रहना चाहिये। गृहस्थों के लिए यह अर्थ नहीं है कि जैनधर्मानुयायी गृहस्थ पदलोलुप-आततायी, बदमाशों गुण्डों विषय लम्पट पुरुषों अबलाओं के सतीत्व और धर्म को नष्ट भ्रष्ट करने वाले अधर्मियों लुटेरे और डाकुओं के द्वारा होने वाले अन्यायों और अत्याचारों को चुपचाप बैठे २ किसी भी प्रकार सहन करें वरन विरोध करें। इसी प्रकार अहिंसा दृढ़ हो सकती है।

जैनियों की अहिंसा-व्यक्तिगत स्वाभिमान और आत्मसम्मान के मार्ग में कभी बाधक नहीं हो सकती और न इससे साहस-वीरता जातीय गौरव की कमी हानि ही हो सकती है। जैनधर्म की अहिंसा कन्याओं के धर्म को बचाने को देवियों के सतीत्व की रक्षा करने को, बिलखते हुए बच्चों को अपनी माता की गोदी से अलग न होने देने को अपना जन्म सिद्ध अधिकार समझती है। जैनधर्म की अहिंसा केवल निषेधात्मक -उपदेश मात्र ही नहीं है उसमें गूढ़ विधायकतत्व भी है। जैनधर्म की अहिंसा हमें वास्तविक नैतिक शिक्षा का सन्मार्ग दिखाती है। हमें अन्य की सेवा के लिए उत्साहित करती है स्वार्थ की संकुचित वृत्ति से हटाकर 'वसुधैव कुटुम्बक' के विश्वव्यापक मंडल में मिला देती है यह हमें प्राणि मात्र की सेवा करने का सुन्दर बल प्रदान करती है और गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी आत्म कल्याण का सुगम मार्ग दिखाती है। अगर अब भारत आज़ाद हो सकता है तो हिंसा रहित अहिंसा शस्त्र के द्वारा ही हो सकता है।

देश के अनमोल रत्न पूज्य महात्मा गांधी इसी अहिंसा के पालन से ही विश्व वंद्य हुए हैं। वे इसी बात पर ज़ोर देते हैं कि अहिंसा ही स्वतंत्रताप्राप्ति के लिए परम और अमोघ शस्त्र है फिर चाहे वह देर से प्राप्त हो किन्तु अगर होगी तो इससे होगी। उन्होंने स्व. ला. लाजपतरायजी को अहिंसा के संबंध में अपने विचार बतलाते हुए लिखा था:—

Our Shastras seem to teach that a man who really Practises Ahimsa its fullness has the world at his feet he so affects surroundings that even the snakes do him no harm

अब अन्त में अहिंसा की भावना के उपाय बताकर अपना लेख समाप्त करूँगा। अहिंसा की भावना के पाँच प्रकार हैं:—

आदर्शदर्शनी– अपना जीवन ऐसा निष्पाप दयालु व अहिंसामय बनाया जाय कि और लोग आकर्षित हों।

सत्याग्रही–अपनी सत्य बात के लिए प्राण देकर भी अन्याय, अत्याचार का प्रतिरोध करना।

वैकल्यदर्शनी साधना–अन्याय करने वाले के हृदय पर अपनी निर्भयता और शक्ति से मारने वाले के हृदय पर छाप लगाई जाय। जैसे किसी ने हमें एक तमाचा लगाया और हमने दूसरा गाल आगे करके कहा कि एक और मार लीजिए। यह अहिंसा की वैकल्य दर्शनी साधना हुई।

प्रेमदर्शनी साधना–पापी-दुष्ट के साथ ऐसा प्रेम दर्शाया जाय कि वह हमें अपना मित्र या उपकारी समझने लगे।

उपेक्षणी साधना–महावीर स्वामी की तरह उपसर्ग आने पर पापी की तरफ उपेक्षा भाव दर्शाया जाय।

उपदेश साधना–दूसरों को उपदेश देकर पापमार्ग से हटाया जाय।

संहारिणी साधना–अन्याय व पाप से बचने के लिए अन्यायी को दण्ड दिया जाय इस प्रकार उचित स्थानों पर उपर्युक्त साधनाओं का उपयोग करना चाहिए।

अहिंसा के प्रचार के लिए निम्नोक्त बातों को लक्ष्य में लेना आवश्यक है।

(१) जाति पाँति आदि का अनुचित भेद भाव लुप्त हो, जिससे अन्याय व पाप न बढ़े।

(२) बचपन से ही ऐसा संस्कारयुक्त शिक्षण दिया जाय जिससे कि बालक को अन्याय हिंसा अत्याचार आदि से घृणा उत्पन्न हो।

अहिंसा से क्या फल मिलता है यह भी जानना जरूरी है। प्रश्न व्याकरण सूत्र में परमेश्वर अहिंसा का विवेचन करते हुए फरमाते हैं कि इस अहिंसा भगवती के द्वारा सब कुछ प्राप्त कर सकते हैं। यहाँ तक कि मोक्ष भी हस्त गत कर सकते हैं। आज हिंसा का परिणाम हम नजरों से देखते हैं। हमें कहीं नरकादि में जाकर देखने की जरूरत नहीं। आज रणद्वेषी संग्राम भूमि को अपना सुरापान का स्थान बना रही है। भीषण जनसंहार हिंसा के फल को दिखलाने वाला मामूली दृश्य नहीं है। इसलिए जब तक विश्व में अहिंसा का प्रचार नहीं होगा तब तक विश्व में युद्ध की परम्परा चलती रहने वाली है। जैनधर्म की अहिंसा ही हमें एक मात्र श्रेय मार्ग दिखा सकती है और विश्व में फैलने पर विश्वबंधुत्व की भावना पैदा कर सकती है। इत्यलम्।

जैन धर्म की देन

लेखक राष्ट्रभक्त सेठ अचलसिंहजी, आगरा

धर्म मनुष्य के जीवन का एक मुख्य अंग है। पर केवल सत्य धर्म ही मनुष्य को शान्ति देता है और सुमार्ग पर लाता है। धर्म ने संसार में बड़ा काम किया है। पर अज्ञानी और स्वार्थी लोगों ने धर्म के नाम पर संसार में बड़े २ अत्याचार किए हैं और करते रहते हैं। धर्म के नाम पर संसार में खून की नदियाँ बही हैं। योरोप में ईसाइयों और मुसलमानों ने धर्म के नाम पर हजारों नहीं बल्कि लाखों आदमियों को मौत का शिकार बनाया है। धर्म के नाम पर लोग मांस खाते शराब पीते और व्यभिचार तक करते हैं। इससे पूर्व महावीर भगवान के समय में भारत वर्ष में धर्म के नाम पर लाखों मूक पशु ही नहीं मनुष्य तक भी बलि वेदी पर आये दिन चढ़ाए जाते थे। महावीर भगवान ने इस प्रकार की क्रूर हिंसा को मिटाने के वास्ते घोर प्रयत्न किया और एक बड़े दर्जे तक कामयाबी भी हासिल की। पर अफसोस है कि आज तक भी मनुष्य अज्ञान और स्वार्थ-वश देवी-देवताओं के नाम पर हजारों लाखों पशुओं की बलि चढ़ाते हैं। सच्चा धर्म वही है जिससे प्राणी मात्र को संतोष व तसल्ली हो। जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म नहीं है। संसार के मानव धर्मों में केवल जैनधर्म ही एक ऐसा धर्म है जिसमें हर प्रकार की हिंसा का निषेध किया गया है। जैन धर्म के आचार्यों ने हिंसा के कई भेद किए हैं। उन्होंने गृहस्थ मुनि साधु-त्यागी आदि के लिए हिंसा की मर्यादा का बड़े सरल और रोचक ढंग से वर्णन किया है। अगर संसार में मनुष्य ठीक ठीक जैन धर्मानुसार आचरण करे, तो विश्व में शान्ति व सुख स्थापित हो सकता है। महात्मा गांधी ने अहिंसा का सूक्ष्म रूप में अपनाया है।

अब तक हम लोग जैन धर्म को अर्थात् अहिंसामय धर्म को कायरों का धर्म समझते थे पर आज महात्मा गांधीजी ने सिद्ध कर दिया है कि अहिंसा-धर्म वीरों का धर्म है। धर्म की कसौटी अहिंसा और सत्य ही है। जिस धर्म में ये दोनों सिद्धान्त विद्यमान हों वही सच्चा धर्म है।

जैन-दर्शन में हिंसा व अहिंसा के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन किया गया है। हिंसा के मुख्य चार भेद कहे गये हैं, जो इस प्रकार हैं:—

(१) संकल्पी-हिंसा (२) आरम्भी-हिंसा (३) व्यवहारी-हिंसा और (४) विरोधी हिंसा।

(१) किसी भी प्राणी को संकल्प अर्थात् इरादा करके बुरे परिणामों से मारना उसे संकल्पी हिंसा कहते हैं। जैसे-कोई चींटी जा रही हो उसे स्वयम् हिंसक भावना से जान बूझकर मार डालना।

(२) गृह कार्य में स्नान में भोजन बनाने में झाड़ू देने में जल पीने आदि में जो जो अमत्यक्ष जीव-हिंसा हो जाती है उसे 'आरम्भी हिंसा' कहते हैं।

(३) व्यापार में व्यवहार में चलने में फिरने में जो हिंसा होती है उसे 'व्यवहारी हिंसा' कहते हैं।

(४) विरोधी से अपनी आत्म-रक्षा करने के निमित्त अथवा किसी आततायी अथवा हमला करने वाले से अपने राज्य देश अथवा कुटुम्ब की रक्षा करने के निमित्त जो हिंसा करनी पड़ती है उसे 'विरोधी हिंसा' कहते हैं।

इसके पश्चात् अहिंसा के भी मुख्य मुख्य भेद बतलाये गए हैं। उसको जैनाचार्यों ने ६ भागों में विभाजित किये हैं—

(१) भूल से असावधानता से अनजानपने से यह ख्याल करते हुए कि कोई जीव मर न जाय अगर किसी चलते फिरते जीव की हिंसा होजाती है तो उसे स्थूल अहिंसा कहते हैं।

(२) जान करके या अनजान में किसी भी प्रकार के प्राणी को कष्ट तक न पहुँचाने को 'सूक्ष्म अहिंसा' कहते हैं।

(३) किसी प्रकार के जीव को अपने शरीर से कष्ट देने का भाव न रखने को 'भाव अहिंसा' कहते हैं।

(४) किसी भी प्रकार की आंशिक अहिंसा की प्रतिज्ञा को 'देश अहिंसा कहते हैं

(५) सार्वदेशिक अहिंसा की प्रतिज्ञा को सर्व अहिंसा' कहते हैं।

वर्तमान समय में संसार की सारी राजनीति हिंसा व अहिंसा पर ही निर्भर है। महात्मा गांधीजी बड़े स्पष्ट शब्दों में और अपने कार्यों से यह सिद्ध करके बता दिया है कि संसार में बगैर अहिंसा के शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। अभी हाल ही में जो संसार व्यापी महायुद्ध बंद हुआ है वह हिंसा की ही देन था। कहने के वास्ते तो मित्र राष्ट्र और धुरी राष्ट्र दोनों यही घोषित करते थे कि यह युद्ध न्याय और विश्व शान्ति के वास्ते लड़ा जा रहा था। पर वास्तविक बात यह नहीं थी। यथार्थ में तो यह युद्ध स्वार्थ और एक बड़े देश द्वारा दूसरे छोटे देश को गुलाम बनाने के वास्ते ही लड़ा जा रहा था। इस युद्ध में लाखों-करोड़ों आदमी मारे गए और उसकी वजह से लाखों स्त्रियां विधवा व बच्चे अनाथ हुए। हवाई जहाज द्वारा बम गिरा कर देश के देश नष्ट भ्रष्ट कर दिए गये। इस लड़ाई के परिणाम स्वरूप कई देशों में अकाल पड़े जिस के फल स्वरूप लाखों आदमी एकर दाने के वास्ते तरसर कर व अस्थि पंजर बनकर कीड़े-मकोड़ों की मौत मरगए। यद्यपि एक ताकतने परमाणु बम डालकर एक क्षण में दूसरे देश के लाखों मनुष्य जानवर मकान आदि वस्तुओं को नष्ट भ्रष्ट करके युद्ध बंद कर दिया पर क्या यह निश्चय है कि अब भविष्य में युद्ध न होगा? नहीं-नहीं। यह निश्चित है कि अब परमाणु बम के

मुकाबले दूसरी प्रलयकारी चीज बनजायगी तब एक ताकत दूसरी पर हमला बोल देगी। महात्मा गांधीजी के शब्दों में संसार में विश्व शान्ति बिना अहिंसा के कभी नहीं हो सकती। हिंसा की प्रवृत्ति से हिंसा बजाय घटने के उसी प्रकार बढ़ेगी जिस प्रकार कि खून से सना हुआ कपड़ा खून से धोने पर खून में और सन जाता है। पर अगर आप कपड़े को स्वच्छ पानी से धोयेंगे तो अलबत्ता कपड़ा साफ हो सकता है। इस प्रकार केवल अहिंसा के मार्ग से ही संसार में शान्ति और सुख-समृद्धि स्थापित हो सकती है।

पर अफसोस इस बात का है कि हम जैन लोग भी अहिंसा के सिद्धान्त को उसके सच्चे रूप में पालन नहीं करते हैं। अगर हम लोग भगवान महावीर के बताए हुए अहिंसा धर्म का निस्वार्थ भाव से पालन करें, तो हम अपने जीवन को एक आदर्श जीवन बना सकते हैं और साथ २ संसार पर एक गंभीर छाप डाल सकते हैं। महात्मा गांधी ने अहिंसात्मक सत्याग्रह को कार्य रूप में परिणत कर संसार को चकित कर दिया है। आज समस्त संसार के बड़े २ लोग इस बात पर गम्भीरता पूर्वक विचार कर रहे हैं कि संसार में स्थायी और सच्ची विश्व शान्ति किस प्रकार हो सकती है। अंत में विद्वान लोग इस परिणाम पर आ चुके हैं कि संसार में अगर शांति स्थापित हो सकती है तो केवल अहिंसा के सिद्धान्त द्वारा ही हो सकती है, पर यह सिद्धान्त बगैर स्वार्थ-त्याग के कार्य रूप में परिणत नहीं हो सकता और इस स्वार्थ को बड़े २ ताकतें छोड़ने को तैयार नहीं हैं।

भगवान् महावीर का अपरिग्रह सिद्धान्त

मि. ष्या. मुनि श्री चन्दनमलजी महाराज

विश्ववंद्य करुणा-विभूति भगवान् महावीर ने आध्यात्मिक अभ्युदय के लिये तथा विश्व के आंगन में शान्ति-सुधा का सिंचन करने के लिए अपने श्री-मुख से बड़े ही अनुपम तत्वों का उपदेश प्रदान किया है। प्रभु महावीर के सिद्धान्त उच्च श्रेणी के हैं एक प्रसिद्ध इटालियन विद्वान टेसीटोरी लिखता है कि "जैन दर्शन बहुही उच्च श्रेणीका दर्शन है इसके सिद्धान्त विज्ञान शास्त्रके आधार पर रचे गये हैं। ज्यों ज्यों पदार्थ विज्ञान उन्नति करता जारहा है त्यों त्यों इसके सिद्धान्तों की सत्यता प्रमाणित होती जारही है"। एक और यूरोपियन विद्वान् लिखता है कि "जैन धर्म के सिद्धान्त जीवन में शान्ति का सञ्चार करने के लिए बड़े ही उपयोगी हैं"।

वस्तुतः भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के मूल में आध्यात्मिकता के साथ ही विश्व शान्ति का अनुपम पुट लगा हुआ है। अगर दुनियाँ महावीर के सिद्धान्तों को समझने और उनका अनुशीलन करने का प्रयत्न करे तो विश्व शान्ति जो आज के संघर्षमय वातावरण में आकाश कुसुमवत् असंभवसी प्रतीत होरही है— अति सुलभ हो सकती है। इन सिद्धान्तों के मूल में ही विश्वकी शान्ति सन्निहित है।

भगवान् महावीर ने आध्यात्मिक उन्नति और विश्व शान्ति के लिए पाँच व्रतों का उपदेश दिया है। वे व्रत इस प्रकार हैं— [१] अहिंसा व्रत [२] सत्य व्रत [३] अचौर्य व्रत [४] ब्रह्मचर्य व्रत और [५] अपरिग्रह व्रत। इन पाँच व्रतों में से यहाँ केवल अपरिग्रह व्रत पर ही विवेचन किया जायगा।

अपरिग्रह शब्द, परिग्रह के अभाव को सूचित करता है। परिग्रह का अर्थ-ममत्वपूर्वक वस्तु का ग्रहण करना होता है। जिन वस्तुओं पर ममत्व भाव होता है वे समस्त वस्तुएं परिग्रह के अन्तर्गत हैं। शास्त्रकारों ने परिग्रह को बन्धन का मुख्य रूप माना है। श्री सूत्रकृताङ्ग सूत्र के प्रारम्भ में ही सुधर्मास्वामी से जम्बूस्वामी प्रश्न करते हैं कि—

बुज्झिज्जाति तिउट्टिज्जा बंधणं परिजाणिया
किमाह बंधणं वीरो किं वा जाणं तिउट्टइ ॥ १ ॥

अर्थ—बन्धन को जानकर उसका छेदन करना चाहिए। ऐसा उपदेश दिए जानेपर जम्बुस्वामी प्रश्न करते हैं कि वीर भगवान् ने बन्धन का क्या स्वरूप बताया है और क्या जानकर जीव बन्धन को तोड़ता है?

इस प्रश्न के उत्तर में सुधर्मास्वामी फरमाते हैं कि—

चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झ किसामवि।
अन्नं वा अणुजाणाइ एवं दुक्खाण मुच्चइ ॥

भावार्थ—जो व्यक्ति द्विपद चतुष्पद आदि चेतन प्राणी को अथवा चैतन्य रहित सोने चाँदी आदि पदार्थों को अथवा तृणादि तुच्छ पदार्थों को भी परिग्रह रूप से रखता है अथवा दूसरे को परिग्रह रखने की अनुज्ञा देता है वह दुःख से मुक्त नहीं होता है।

इस आगमोपदेश से यह मालूम होता है कि परिग्रह बन्धन है। शास्त्रकार ने परिग्रह को मुख्य बन्धन कहा है। यह विचार करना चाहिए कि परिग्रह को मुख्य बन्धन कहने का क्या आशय है? साधारण लोग परिग्रह को पाप नहीं मानते बल्कि उनकी दृष्टि में जो जितना बड़ा परिग्रही है वह उतना ही बड़ा पुण्यात्मा और आदरणीय भी है। धन और धनवानों की महिमा से समस्त जगत का साहित्य भरा पड़ा है। बड़े बड़े सिंहासन और बड़े बड़े विद्वान भी धनवानों के इशारों पर नाचते रहते हैं। आज 'बड़ा आदमी' शब्द का बहु-प्रचलित और सुगम अर्थ

"श्रीमान्' है।" ऐसी अवस्था में परिग्रह को पाप कहने का आशय कायस्मेय विचार णीय है। इन प्रश्न पर विचार करते समय यह ध्यान में रखना चाहिए कि परिग्रह क्या है? परिग्रह कैसे बढ़ा? परिग्रह से क्या हानियाँ हैं? इन प्रश्नों का समाधान होने पर यह स्वयमेव प्रतीत हो जायगा कि परिग्रह को मुख्य बन्धन क्यों कहा गया है।

जैन शास्त्रानुसार जब मनुष्य भोग भूमि में था उस प्रकृति प्रदत्त (कल्पवृक्षों द्वारा दिये गये) साधनों द्वारा उसका जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता था। उस समय उनकी आवश्यकतायें थोड़ी थीं और प्राकृतिक सम्पत्ति अधिक थी इसलिए उस समय किसी प्रकार का संग्रह नहीं किया जाता था। आखिर इस युग का अन्त आया प्रकृति से ही अब निर्वाह नहीं होने लगा कर्मभूमिका युग उपस्थित हुआ और मनुष्य को परिश्रम करना पड़ा। साथ ही मनुष्य की आवश्यकतायें यहां तक बढ़ीं कि एक मनुष्य से सारी आवश्यकताएं पूरी न हो सकीं। इसलिए कार्य का विभाग कर दिया गया और मनुष्य पूरा सामाजिक प्राणी बन गया। सब मनुष्यों की योग्यता और शक्ति बराबर नहीं थी। कोई परिश्रमी थे, कोई आरामतलब। कोई बुद्धिमान थे कोई साधारण इसलिए यह स्वाभाविक था कि मनुष्यों के कार्यों में भेद हो। जो अधिक काम करते वे बदले में अधिक प्राप्त करते। उन्हें भोगोपभोग की सामग्री अधिक दी जाने लगी। सामग्री अधिक देने का आशय तो यह था कि वह उस सामग्री का उपभोग करले परन्तु धीरे धीरे उपभोग करने के बदले संग्रह की भावना बढ़ती गई। समाज ने उसे अधिक सामग्री केवल इसलिए दी थी कि वह अपनी सेवा के बदले सेवा ले सके न कि इसलिए कि वह सदा के लिए रखले, भले ही उसके बिना दूसरे भूखे मरते रहें। यहीं से परिग्रह बढ़ने लगा और दुनियां में अशांति का बीजारोपण हुआ। यह संग्रह बुद्धि ही समाज में विषमता उत्पन्न करने वाली हुई। इससे समाज का एक वर्ग सम्पन्न धनसंपन्न होने लगा और दूसरा वर्ग कंगाल होने लगा वह अपनी जीवनोपयोगी वस्तुओं को पाने में भी असमर्थ हो गया। यह स्वभाविक है कि अगर कहीं ढेर होगा तो अवश्य कहीं न कहीं गड्ढा होगा ही। अब जीवनोपयोगी वस्तुओं का एक जगह संग्रह होने लगा तो दूसरे व्यक्ति भूखों मरने लगे। धीरे धीरे मुद्रा का प्रसार हुआ और लोग मुद्रा का संग्रह करने लगे। मुद्रा का संग्रह करना भी जीवन की जरूरी सामग्री के संग्रह के समान ही हानिकर है क्योंकि इससे भी दूसरे लोग मुद्रा से वञ्चित रह जाते हैं तो वे क्या देकर अपनी आवश्यकताओं को पूरा करें? इसलिए संग्रह का परिणाम हुआ-सामाजिक विषमता कंगाली उत्पीड़न।

वैज्ञानिकों का कथन है कि जीवन के लिए आवश्यक समस्त पदार्थ प्रकृति इस परिमाण में उत्पन्न करती है कि जिससे सबकी आवश्यकता की पूर्ति हो सके। ऐसा होते हुए भी संसार में मंगे भूखे लोग दिखाई देते हैं इसका क्या कारण है? इसका कारण है बढ़ी हुई संग्रह बुद्धि। कुछ लोग अपने पास आवश्यकता से अधिक

पदार्थ संग्रह कर रखते हैं और दूसरे लोगों को उन पदार्थों के उपयोग से वंचित रखते हैं। इसी कारण लोगों को नंगा भूखा रहना पड़ता है। एक ओर तो कुछ लोग अपने यहां अत्यधिक अन्न जमा रखते हैं जो सड़ जाता है और दूसरी ओर कुछ लोग अन्न के बिना हाहाकार करते हैं। एक ओर पेटियों में भरे हुए वस्त्र सड़ रहे हैं और दूसरी ओर लोग ठंड से मर रहे हैं। एक ओर कुछ लोगों के पास इतनी ज्यादा भूमि है कि जिसमें कृषि करना उनके लिए बहुत कठिन है और दूसरी ओर कुछ लोगों को जमीन का इतना टुकड़ा भी नहीं मिलता जिस पर खेती करके अपना पेट पाल सकें। कई लोगों के पास रुपयों पैसों का इतना अधिक संग्रह है कि उसे जमीन में गाड़ रखा है और दूसरी ओर लोग पैसे २ के लिए तरस रहे हैं। इस विषम स्थिति की वजह से ही रूसमें बोल्शेविज्म का जन्म हुआ है। जब रूस में यह वैषम्य बहुत बढ़ गया था तब वहां के पीड़ितों ने क्रान्ति कर दी। तब से वहां साम्यवाद का प्रचार हुआ। वस्तुतः किसी भी समाज या देश के लिए यह विषम परिस्थिति असह्य ही होती है। जिस व्यक्ति ने इस पृथ्वी पर जन्म लिया है कम से कम उसे यह तो जन्म सिद्ध अधिकार होता है कि वह भरपेट भोजन पा सके, पर्याप्त वस्त्रों से अपना बदन ढंक सके उसे रहने के लिए कोई स्थान प्राप्त हो इस तरह जीवन के लिये आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करने का प्रत्येक प्राणी का जन्म सिद्ध अधिकार है। गांधीजी के 'स्वराज्य' का भी यही वास्तविक अर्थ है कि देश का प्रत्येक व्यक्ति अपनी जीवनोपयोगी वस्तु प्राप्त कर सके ऐसी सुव्यवस्था ही स्वराज्य है।

परिग्रह के वशमें पड़ा हुआ प्राणी संग्रह करके ही नहीं रुक जाता है परन्तु वह आगे भी भयंकर पाप बढ़ाता है वह नये नये अत्याचारों को जन्म देता है। इससे साम्राज्यवादरूपी राक्षस पैदा होता है। जिसके दांतों के नीचे करोड़ों मनुष्य पिस जाते हैं। करोड़ों मनुष्यों की स्वाधीनता लुट जाती है। उन्हें पशुओं की मौत मरना पड़ता है। संसार के सभ्य देश पराधीन बनाये जाते हैं और अमानुषिक अत्याचारों के बलपर उनका व्यापार नष्ट कर दिया जाता है। अफ्रिका, और भारत पर विदेशियों द्वारा ढाये गये अत्याचार इसके उदाहरण हैं। भारत के कारीगरों पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने ऐसे अमानुषिक अत्याचार किये जो सभ्य जाति के लिए घोर कलंक की बात है। भारत के व्यापार को किस प्रकार नष्ट किया गया यह कहानी बहुत लम्बी चौड़ी है। तात्पर्य यह है कि पूंजीवाद के विकास के लिए साम्राज्यवाद होता है। बड़े बड़े राज्यों का संचालन पूंजीवाद द्वारा ही हो रहा है। इस पर से यह प्रतीत हो जाता है कि परिग्रह क्यों पाप है ? यह भयंकर से भयंकर पापों को जन्म देता है। इसलिए परिग्रह पाप है और शास्त्रकारों ने इस पाप को (बन्धनका) प्रधान कारण बतलाया है।

यदि विश्वमें होनेवाले पापों-प्रपञ्चों अत्याचारों और अन्यायों का मूल खोजा जाय तो मालूम होगा कि सबके मूल में परिग्रह ही है। दुनियाके इतिहास में जितने

युद्ध लड़े गये हैं वे अधिकांश कनक और कामिनी के हेतु लड़े गये हैं। परिग्रह के लिए ही राम और रावण का युद्ध हुआ। कोणिक और चेड़ा शास्त्र प्रसिद्ध युद्ध भी परिग्रह के लिए हुआ। सर्वत्र हाहाकार मचा देने वाला योरोपीय महायुद्ध भी इसी परिग्रह के कारण हुआ। परिग्रह के कारण मनुष्य मनुष्य की हत्या करते हुए नहीं सँकुचाता। वह अपने पिता पुत्र भाई माता मामा, स्त्री, पति आदि को भी मृत्यु के हवाले कर देता है। परिग्रह के कारण व्यक्ति अपने जन्म देने वाले माता पिता के साथ भी द्रोह कर सकता है। इसके लिए कोणिक कंस और औरंगजेब के उदाहरण मौजूद हैं। कोणिक ने अपने पिता श्रेणिक राजा को कंस ने उग्रसेन को औरंगजेब ने अपने बाप शाहजहाँ को कारागार में डाला था। मनुष्य परिग्रह के पीछे अन्धा होकर क्या क्या पाप नहीं करता !! परिग्रह के कारण ही जयचन्द और अमीचन्द जैसे पामर प्राणी देशद्रोह का पातक पातक कर बैठते हैं। हा परिग्रह ! तू क्या नहीं कराता ? हिंसा झूठ चोरी कुशील, ईर्षा समाजद्रोह जातिद्रोह देशद्रोह छल कपट कलह क्रोध मान माया चापलूसी इत्यादि सभी दोषों के मूल में परिग्रह बसा हुआ है इसीलिए तो कहा गया है कि लोभ पाप का बाप है। परिग्रह सभी पापों का मूल कारण है इसीलिए सूत्रकृताङ्ग सूत्र में परिग्रह सर्व प्रथम बन्धन कहा गया है।

परिग्रह को बन्धन का कारण बतलाकर सूत्रकार यह उपदेश देते हैं कि जो प्राणी सचित्त या अचित्त अल्प मात्र भी परिग्रह रखता है या परिग्रह रखने की अनुज्ञा करता है वह दुःख से कदापि मुक्त नहीं हो सकता। शास्त्रकार जहाँ परिग्रह से दुःख का होना प्रतिपादित करते हैं वहाँ हम देखते हैं कि संसार में सर्वत्र परिग्रह को ही सुख का एक मात्र साधन समझा जारहा है। येन केन प्रकारेण धन संग्रह करने में ही मनुष्यों ने सुख समझ रखा है और इसके लिए संसार में मचा भी कड़ी मची हुई है। प्राणी दुःख की परवाह न करता हुआ धन का उपार्जन करने में मशगूल रहता है। वह धन के लिए बड़े २ पर्वतों को लाँघता है समुद्र यात्रा करता है विदेशों में भटकता फिरता है नये नये कल कारखाने खोलता है, दिनरात परिश्रम करता है भोजन पानी के कष्टों को सहन करता है और न जाने क्या क्या करता है। भयंकर यातनाओं को सहकर भी और गरीबों का शोषण करके भी प्राणी धन पात्र बनना चाहता है। आज सारे संसार को सुख का खजाना धन में ही दृष्टि गोचर होरहा है और इसीलिए सारा विश्व सब कुछ भुलाकर धन प्राप्ति के पीछे पड़ा हुआ है। धन प्राप्ति में इसे सुख का आभास हो रहा है ठीक इसी तरह जैसे मृगतृष्णा में मृग को जल का आभास होता है।

विश्व किस भूल भुलैया में फँसा है ! कल्पित सुख के पीछे कैसा व्यग्र हो रहा है ! धन की कैसी विडम्बना है ?

धन के मोह में फँसा हुआ प्राणी यह नहीं सोचता कि आखिर इस अपार

धनराशि का अन्तिम परिणाम क्या होगा। क्या उपार्जित अगणित धनराशि सदा सुख दे सकेगी? क्या यह धन अन्त तक साथ जायेगा? हे धनलिप्सु प्राणियों! बताओ कि दुनियां का कौन धनवान् धन के द्वारा सुखी हुआ है? क्या कोई ऐसा उदाहरण बता सकते हो जिसमें धन पाकर मनुष्य सदा सुखी बना हो? भूतकाल देखो वर्तमान का अवलोकन करो भावी पर नजर दौड़ाओ और बताओ कि कौन परिग्रही सुख को पासका? दुनिया में बड़े बड़े सम्राट् चक्रवर्ती धनकुबेर हो गये हैं क्या एक व्यक्ति अपनी अपार धनसम्पत्ति अपने साथ लेगया है? क्या इन धनकुबेरों ने सुख का साक्षात्कार किया है? नहीं! नहीं! इन सब प्रश्नों का उत्तर नहीं के सिवाय और नहीं हो सकता। महान् विजयी सिकन्दर मृत्यु के समय अपनी समस्त सम्पत्ति को एकत्रित करके उस पर आँसू बहाता है कि इस अपार सम्पत्ति में से एक कोडी भी मेरे साथ आने वाली नहीं है यह सब यहीं रह जायगी। जिसके लिये मैं लड़ा अनेकों देशों को तबाह किया लाखों का संहार किया आखिर वह मेरी न हुई। सिकन्दर ने अपनी भूल महसूस की और समझ लिया कि धन में सुख नहीं है। दुनिया का कोई दूसरा प्राणी इस प्रकार भूल न करे इसके लिए उसने अपने चोबदार को कहा कि मेरे मर जानेपर मेरे दोनों हाथ जनाजे से बाहर रखेजावें। ऐसा करने का कारण भी उसने उसे बतादिया। बादशाह यह कह कर मरगया। उसकी अन्तिम आज्ञानुसार उसके दो नों हाथ कफन से बाहर रखेगये। जब उसका जनाजा मुख्य रास्तेपर आया तब चोबदार ने कहा कि—आपके बादशाह ने अपनी अन्तिम इच्छा यह बतायी थी कि उनके दोनों हाथ जनाजे के बाहर खुले रखे जावें। उनकी आज्ञा का पालन करने के लिए आपके आश्चर्य के बावजूद भी ऐसा किया गया। बादशाह सिकन्दर ने ऐसा करने का कारण यह बताया कि—मैंने अनेक देशों को जीता बहुत सी सम्पत्ति एकत्रित की पर सब यहीं रहगई है। देखलो ये मेरे दोनों ही हाथ खाली हैं इसलिए जैसी गलती मैंने की वैसी गलती और कोई न करे। यह शिक्षा देने के लिए बादशाह के दोनों हाथ जनाजे के बाहर खुले रखे गये हैं। कहा है—

सिकन्दर जब गया दुनिया से दोनों हाथ खाली थे।

इस पर से यह भली भांति विदित होता है कि धन की प्राप्ति में सुख का निवास नहीं है। अगर धन में सुख होता तो सिकन्दर को पश्चात्ताप न होता। ऐसा होते हुए भी प्राणी पर मोह का नशा ऐसा चढ़ा हुआ है कि वह हिताहित का विवेक भुला बैठा है। वह इच्छाओं का दास बना हुआ है। इच्छायें उसे नाच नचाती हैं। वह प्राणी इच्छाओं की पूर्ति करने का प्रयास करता है लेकिन वह यह नहीं जानता कि सागर की असंख्य ऊर्मियों की तरह इच्छाओं का अन्त नहीं हो सकता। एक इच्छा दूसरी इच्छा को जन्म देकर लय होती है। इस तरह इच्छाओं की परम्परा अविच्छिन्न रूप से चालू रहती है। जिस प्रकार आकाश का अन्त नहीं है उसी तरह कामनाओं और इच्छाओं का भी अन्त नहीं है। आगम में कहा है— "इच्छा

हुआगास समा अणंतिया'। जिस तरह शराब पीने से शराब पीने की इच्छा नष्ट नहीं होती अपितु बढ़ती जाती है उसी तरह एक इच्छा की पूर्ति होने से इच्छा शान्त नहीं होती वरन् अनेक नवीन इच्छायें उत्पन्न हो जाती हैं। एक हिन्दी कवि ने कहा है:-

जो दस बीस पचास भये शत लक्ष करोर की चाह जगेगी।
अरब खरब लौं द्रव्य बढ़यो तो धरापति होने की आश लगेगी॥
उदय अस्त तक राज्य मिल्यो पर तृष्णा और ही और बढ़ेगी।
सुन्दर ' एक संतोष बिना नर तेरी तो भूख कभी न मिटेगी॥

चाहे जितनी सम्पत्ति क्यों न प्राप्त हो जाय तो भी तृष्णा कभी शांत नहीं होसकती। कपिल ने राजा से दो माशा स्वर्ण मांगने का विचार किया लेकिन आखिर वह सम्पूर्ण राज्य मांगने पर भी सन्तुष्ट न हुआ। ज्यों ज्यों लाभ होता है त्यों २ लोभ बढ़ता जाता है। मम्मण सेठ के पास ९९ क्रोड़ सौनैया का धन था। उसने यह धन मणि रत्न जवाहरात से जड़े हुए स्वर्ण के एक बैल की रचना में लगा रखा था। उसे इतने धन से भी संतोष नहीं हुआ। वह इस बैल की जोड़ी का एक बैल और बनाना चाहता था और उसके लिये इतने कष्ट भी उठाता था कि वर्षा रात्रि के समय श्रावण मास में पूर आई हुई नदी में से लकड़ियां लेने का काम भी करता था। इस लोभ का भी कोई अन्त है ! नहीं नहीं नहीं !!! इस पर विजय प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है- परिग्रह की भावना का त्याग ! पदार्थों के प्रति आत्मीयता का त्याग।

जब तक प्राणी पर पदार्थों में आसक्त होकर उनसे सुख पाने की आशा करता है तब तक वह शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता। दुनिया के पदार्थ आगे या पीछे अवश्यमेव अलग होने वाले हैं अतएव उनको अपने समझने की भूल कदापि न करनी चाहिये। जो व्यक्ति पर पदार्थों में ममत्व का आरोपण करता है वह उस समय अत्यन्त वेदना का अनुभव करता है जब वे पदार्थ स्वाभाविक या बलात् अलग हो जाते हैं। विनश्वर पदार्थों को प्राणी अपनाता है और चाहता है कि ये कभी मुझ से अलग न हों। कितनी अज्ञानता है ! अज्ञान के वशवर्ती हुआ प्राणी सुख को बाहर ढूंढने का प्रयत्न करता है। वह संसार के इन पदार्थों में सुख की कल्पना करता है। वह समझता है कि धन में सुख है राज्य में सुख है, पुत्रादि में सुख का निवास है, ऊँचे महलों में निवास करने में सुख है। अतएव वह इन्हें प्रयत्न करने में मशगूल हो जाता है परन्तु इन्हें पाकर भी दुःखी ही रहता है। उसे सुख का अनुभव नहीं होता। इसका कारण यह है कि वह जहां सुख समझ रहा है वहां वास्तव में सुख नहीं है। सुख का वास्तविक खजाना आत्मा में है। आत्मा में आत्मस्वरूप में- रमण करने से ही सुख का साक्षात्कार हो सकता है। आत्मरमण तबतक असंभव है जबतक बाहर की वस्तुओं के प्रति आसक्ति और कामना है। जब बाह्य पदार्थों के प्रति आसक्ति कम हो जायगी तब आत्मस्थिति का भान

होगा और आनन्द का अनुभव हो सकेगा। हे प्राणियो! अगर सुख की अभिलाषा है तो परिग्रह का त्याग करो और आत्मा के अक्षय निधान का आनन्द लूटो। भगवान् महावीर ने इसीलिए अपरिग्रह व्रत का उपदेश दिया है।

अपरिग्रह व्रत का पालन करने के लिए सर्व प्रथम लालसा का अन्त करने की आवश्यकता है। जबतक किसी भी बाह्य पदार्थ की लालसा है तबतक कोई भी व्यक्ति अपरिग्रही नहीं हो सकता। जिसमें लालसा है-उसके पास कोई स्थूल पदार्थ न हो तब भी वह परिग्रही ही है। हृदय में पदार्थों की लालसा बनी हुई है लेकिन पदार्थों के प्राप्त न होने से जो अपने आपको अपरिग्रही समझ लेता है वह बड़ी भूल करता है। एक दरिद्र व्यक्ति भी लालसा के कारण बड़ा भारी परिग्रही हो सकता है और एक सम्राट् चक्रवर्ती भी लालसा के अभाव में अपरिग्रही हो सकता है। परिग्रह का मुख्य सम्बन्ध मूर्च्छा-लालसा के साथ है। इसीलिए तत्वार्थसूत्र में 'मूर्च्छा परिग्रहः' कहा गया है। साधु भी वस्त्र रजोहरण, पात्र आदि पदार्थ रखते हैं लेकिन वे परिग्रही नहीं कहे जाते हैं। इसका कारण यह है कि उन पदार्थों पर उनका ममत्व नहीं होता है। ममत्व के अभाव से वे अपरिग्रही कहे जाते हैं। एक भिखारी के पास वस्त्र भी पूरा नहीं है और खाने को भी नहीं है फिर भी वह परिग्रही है क्योंकि उसमें लालसा बनी हुई है। इससे यह सिद्ध होता है कि परिग्रह का सम्बन्ध ममत्व भाव के साथ है अतएव अपरिग्रही बनने के लिए ममत्व का त्याग करना आवश्यक है।

यद्यपि भगवान् का उपदेश संसार के समस्त जीवों के कल्याण को लक्ष्य में रखते हुए होता है तथापि ऐसा कदापि सम्भव नहीं कि सभी प्राणी अपरिग्रही हो सकें। संसार व्यवहार में रहनेवाले प्राणी को संसार के कतिपय पदार्थों का रखना आवश्यक होता है। वे सभी पदार्थों का त्याग करके अपना संसार व्यवहार नहीं चला सकते। ऐसे व्यक्तियों के लिए भी भगवान महावीर ने व्रत का निर्देश किया है। भगवान ने फरमाया है कि सर्वथा निष्परिग्रही होने का लक्ष्य सामने रखते हुए इन व्यक्तियों को परिग्रह का परिमाण करना चाहिए। इसे परिग्रह परिमाण अथवा इच्छा परिमाण व्रत कहा गया है। इस इच्छा परिमाण व्रत में क्षेत्र (खेत आदि भूमि) वस्तु (निवास योग्य स्थान) हिरण्य (चांदी) सुवर्ण (सोना) धन धान्य द्विपद चतुष्पद और कुप्य (वस्त्र पात्र औषध) आदि की मर्यादा की जाती है। इन सब भेदों में संसार के समस्त पदार्थों का समावेश हो जाता है। इस व्रत के साथ ही सातवें व्रत भोगोपभोग के पदार्थों की भी मर्यादा करना है। इस मर्यादा का यदि विवेक पूर्वक ध्यान रखा जाय तो संसार में होने वाले रक्तपात और मार-काट का सदा के लिए अन्त आजाय। अगर परिग्रह परिमाण व्रत को दुनिया अपनाले तो विश्व की बड़ी से बड़ी समस्या हल हो जाती है। आज दुनिया की सब से बड़ी समस्या यह है कि एक तरफ करोड़ों लोगों के सामने रोटी का सवाल है जबकि दूसरी तरफ धन और साम्राज्य के विस्तार की अमर्याद महत्वाकांक्षा।

इस विषमता की चक्की में विश्व की शान्ति बुरी तरह पिस रही है। इस वैषम्य के कारण दुनिया एक भयंकर वातावरण से गुजर रही है। इस सारी समस्या का हल भगवान् महावीर के इस अपरिग्रह व्रत के पालन में है। अगर संसार चिर शान्ति की सुखमय गोद में खेलना चाहता है तो भगवान् महावीर का यह अपरिग्रह सिद्धान्त ही उसे शाश्वत शान्ति प्रदान कर सकता है।

ज्ञान की खोज में

(लेखक राव जगन्नाथसिंह, शास्त्री "विशारद")

प्रथम परमात्मा की प्रकृति (माया) के द्वारा समस्त प्राणियों की उत्पत्ति होकर उनके शरीरों की रचना हुई, एवं प्रकृति-अनुसार उनकी बुद्धि विचार इत्यादि बने। उन प्राणियों में मानव जाति " जो आज इतनी सभ्य बन चुकी है उसके मूल पुरुष स्त्री इत्यादि बने परंतु उनमें उन दूसरे प्राणियों से एक विशेषता थी, और वह थी ज्ञान की खोज " इसी प्राकृतिक महाशक्ति के द्वारा मानवजाति का विकास दिन प्रतिदिन देश काल जल वायु के अनुसार होता रहा। एवं इसी परिस्थिति में आज जो जो परिस्थितियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं वह सब परिष्कृत हुई।

मूल उस समाज के स्त्री पुरुषों की वृद्धि एवं ज्ञान के विकास से उनकी वृद्धि के साथ ज्ञान बढ़ा और एक मानव समाज की स्थापना हुई, मनुष्य जाति का उत्थान पतन समाज पर रहा। क्योंकि— मनुष्य में सामाजिकता है, याने मनुष्य सामाजिक प्राणी है। प्रकृति से वह समाज चाहता है समाज के स्थापित होने के बाद उन्हें शासन कृषि इत्यादि का ज्ञान हुआ और वह एक स्थान पर छोटे २ जन समाज स्थापित करके रहने लगा जिसमें गांव ग्राम स्थापन होकर ज्ञान का विकास हुआ। ज्ञान के विकास के बाद भिन्न२ देश की मूल प्रकृति के अनुसार बने हुवे मानवों के भिन्न २ विचारों का एकीकरण नहीं होने से लोग एक दूसरे से अपने को श्रेष्ठ समझने लगे और अपने विचारों का संघर्ष करने लगे और यह हुए संग्राम या युद्ध की पूर्व भूमिका। युद्ध में वाक्‌युद्ध के बाद शारीर युद्ध शस्त्रयुद्ध अस्त्रयुद्ध प्रारंभ हुवे। और उन समाज की विभिन्न प्रकृति के अनुसार भिन्न २ संगठित समाज बनगये।

एक दूसरे के साथ युद्ध में संघर्ष करने से जब मानव जाति को उलटा दुःख भोगना पड़ा तब उनमें जो श्रेष्ठ एवं बुद्धिमान थे उन्होंने विचार किया कि—

ऐसा कोई उपाय ढूंढना चाहिए कि जन समाज का एकीकरण सब में शांति स्थापित हो और सब एक सूत्र में बंध जाएं। इस खोज में पड़ने के बाद उन्होंने "धर्म' की स्थापनार्थ देश काल परिस्थिति के अनुसार समाज को विशाल शांत बनाकर समाज का एकीकरण करने का प्रयत्न किया। बाद में अपने विचारों को सर्वेव उस समाज में कायम रखने के लिए "रचना" का आरम्भ हुआ और धार्मिक ग्रंथों का निर्माण हुआ, और इस प्रकार मानव समाज में धर्मों का विकास फैला है।

प्राचीन धार्मिकता की खोज के बाद मूलग्रंथ "वेदों' के द्वारा धार्मिक समाज का पता लगता है और विदित होता है कि—उस समय का धार्मिक संगठन कोई खास "यज्ञ" के समय होता था। जिसे वेदों में "अश्वमेध" इत्यादि वर्णित किया है।

पता चलता है कि—जिस समय 'दुष्ट दानव' इत्यादि उत्पन्न होकर जनता को दुःख पहुंचाता था उस समय यज्ञ में जन समाज एकत्रित होकर 'प्रजापति' की स्थापना करते और संगठित "शक्ति' पैदा करके उस समय के उस दानव या राक्षस या समाज का नाश करते और उसी को धार्मिकता मानते थे। और यह श्रेष्ठ भी थी क्योंकि— उस संगठित समाज के द्वारा एक अन्यायी व्यक्ति या अन्यायी जाति का नाश करके अन्य समाजों में शांति स्थापित की जाती थी और वही उस समय योग्य माना जाता था।

मनुष्य में मूल प्रकृति के गुण के साथ अवगुण भी विद्यमान रहते हैं। मनुष्य काम, क्रोधादि अवगुणों का वशावर्ती होकर, नाश करने में संलग्न हो जाता है। और वह दुर्गुण समाज में फैलाकर सारे समाज को दूषित कर देता है।

इस मानवी दूषितता के कारण महायज्ञों में भी दोष फैला और वही यज्ञ उल्टे रक्तपात का कारण हो गये। उस समय जन समाज में शान्ति स्थापित होने के लिये मानव धर्म की अधिक खोज हुई, और 'भगवान बुद्ध' ने असीम तपश्चर्या के बाद संसार को शान्त बनाने का सब से बड़ा उपाय "अहिंसा मत" ढूंढ निकाला और उसके द्वारा विश्व में शान्ति स्थापित करके जन समाजों को विस्तृत शान्त और विशाल बनाया।

बौद्ध धर्म के प्रभाव से विश्व में भी धार्मिक जागृति हुई, अरब में एक परमेश्वर वंदना के द्वारा प्रसन्न करने वाले मुहम्मद पैगम्बर, और परमार्थ के लिये देह त्याग करने वाले ईसा इत्यादि हुवे जिनने विदेशों में धार्मिक जागृति की।

इस प्रकार मानवी धर्म का विकास होने के बाद धार्मिक जागृति पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। उस समय परमात्मा की असीम कृपा से मानवी धर्म के वास्तविक ज्ञाता 'भगवान् महावीर' का जन्म हुआ। आपने वास्तविक धर्म की अन्वेषणा के लिए अधिक परिश्रम (तपश्चर्या) करके जन धर्म "जैन धर्म" की नींव डाली—

नोट—जैन धर्म अनादि है। महावीर स्वामी ने जैन धर्म की नींव नहीं डाली बल्कि जैन धर्म का प्रचार किया था।

अत्यन्त परिश्रम करके मानवी धर्म की अधिक खोज की गई और प्राकृत शास्त्र निर्मित हुए। धर्म को समस्त वर्गों और जन साधारण को समझाने के लिये शास्त्र लोक प्रचलित प्राकृत और मागधी भाषा में लिखे गये। मानवी धर्म का वास्तविक रूप प्रत्येक व्यक्ति की समझ में आवे ऐसा प्रयत्न किया गया।

जैन धर्म इस समय के क्षत्रियों में अधिक तादाद में फैला क्योंकि—इस धर्म के आचार्य ब्राह्मण न होकर क्षत्रिय थे। बहुत से क्षत्रिय-वंश अपने साथियों के साथ जैन बने और इस प्रकार जैन धर्म की जागृति हुई।

भारतवर्ष में जिस समय धार्मिक जागृति हो रही थी उस समय दुर्भाग्य-वश मुसलमानों का आक्रमण हुआ जिससे प्रत्येक धर्म समाज के रूप में सीमा-बद्ध हो गये। और यही गति जैन धर्म की हुई। यह जैन धर्म के रूप में परिणत हुआ। तभी यह जैनधर्म कहलाने लगा। इसी का यह स्वरूप है जो वर्तमान जैन धर्म के रूप में है।

वर्तमान शिक्षा के युग में प्रायः समस्त समाजों तथा धर्मों की जागृति हो रही है और उन्हें उन्नत पथपर लाने की कोशिश की जारही है। इस शिक्षा के युग में पुनः इस मानव धर्म या जनधर्म को संसार में विकसित करने के लिये महात्मा श्री चौथमलजी महाराज का जन्म हुआ है। आपने दीक्षा ग्रहण करके पुनः इस धर्म की जागृति की है।

आपने शास्त्रों का आधार लेकर वर्तमान भाषा में ग्रंथ निर्माण किये एवं भारत वर्ष के अनेक प्रान्तों में पैदल भ्रमण करके समस्त समाज व समस्त धर्मावलम्बियों को जनमत की वास्तविक शिक्षादी आपने यह सिद्ध किया कि—" जैन धर्म जन धर्म है"

प्रत्येक समाज और प्रत्येक धर्मावलंबी का अधिकार है और वह धर्म संसार में शांति और वास्तविकता के निर्माण के लिये है। सीमाबद्ध नहीं।

परमात्मा की असीम कृपासे और महात्मा की दिव्यात्मा के द्वारा इस समय प्रतिदिन वास्तविक जन धर्म की उन्नति भारतवर्ष में हारही है। हजारों की तादाद में मनुष्य एकत्रित होकर आपके वचनामृत श्रवण करते हैं। आप प्रतिवर्ष धर्म ग्रन्थों का निर्माण करते हैं।

यह मानवी धर्म या जन धर्म जैन धर्म के रूपमें विकसित होकर सारे भारतवर्ष में ही क्या समस्त भूभाग में विकसित हो यह लेखक की हार्दिक आकांक्षा है।

जैन फिलॉसॉफी का हृदय

लेखकः मगनलाल धनजीभाई, भाटलीआ

जैन दर्शन का मूल क्या है ?

रतवर्ष में जितने भी दर्शन हैं उन सब के खास खास मौलिक तत्त्व भिन्न भिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न होने के कारण अलग अलग रहते आये हैं। जैसे कि सांख्यदर्शन का नित्यवाद और बौद्धदर्शन का क्षणिकवाद इत्यादि। जैन दर्शन भी एक आर्य दर्शन है और उसका मौलिक तत्त्व स्याद्वाद है जो कि नयें नित्वाद अनेकान्तवाद सापेक्षवाद, सप्तभंगीवाद, इत्यादि नामान्तरों से भी पुकारा जाता है। सम्पूर्ण जैनदर्शन की विचारधारा इसी तत्त्व पर अवलम्बित है। एक दृष्टिकोण से देखा जाय तो जैनधर्म का आधारभूत अहिंसा सिद्धान्त भी इस स्याद्वाद का ही भाषान्तर है।

स्याद्वाद की स्थापना और उसका विकास

वैसे तो यह सिद्धान्त बहुत प्राचीन माना गया है लेकिन आधुनिक समय में प्राप्त ऐतिहासिक साधनों पर से मालूम पड़ता है कि यह स्याद्वाद का सिद्धान्त भगवान् महावीर के पहले हुए भगवान् पार्श्वनाथ के समय का है। लेकिन आज कल पार्श्वनाथ का शास्त्र सम्बन्धी कथन वस्तुतः नहीं मिलने के कारण हम कह सकते हैं कि महावीर ने स्याद्वाद की स्थापना करके उसको सुव्यवस्थित बनाया और उनके पीछे होने वाले आचार्यों ने उसको शुद्ध तार्किक क्षेत्र में लाकर विशद रूप दिया।

भगवान् महावीर के उपदेशभूत आचारांगादि सूत्रों को देखने से मालूम पड़ता है कि उन्होंने स्याद्वाद का स्वरूप "उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा" इस प्रकार बिलकुल सरल रूप में रक्खा। उन्होंने खण्डन मण्डन का जटिल जाल नहीं बनाया। लेकिन उनके बाद जो आचार्य हुए उन्हें मीमांसकादि दर्शनकारों के साथ दार्शनिक क्षेत्र में वाद विवाद आदि करना पड़ा। अतः उन्होंने स्याद्वाद का पद्धति से विकास किया और दूसरों को परास्त करके स्याद्वाद का अधिक पोषण किया। उन्होंने दार्शनिक पुस्तकें सैकड़ों के प्रमाण में लिखीं जिनको यदि आज एकत्रित किया जाय तो एक अच्छा दार्शनिक पुस्तकालय बन सकता है।

स्याद्वाद की शोधका उद्देश्य

कोई भी व्यक्ति अपने सिद्धान्त का उद्देश्य मोक्ष से जरा भी कम नहीं मानता। कामशास्त्र और नीतिशास्त्र के कर्त्ताओं ने भी अपनी अपनी पुस्तकों में मोक्ष को ही

साध्य माना है। भगवान् महावीर ने इस सिद्धान्त के आधार पर सम्पूर्ण सत्य प्राप्त करने का मार्ग निकाला।

जैन वाङ्मय में स्याद्वाद के वाङ्मय का स्थान

जैन वाङ्मय का अर्धपर्यन्त भाग स्याद्वादी विषयक साहित्य ने रोक रक्खा है। अतः इस साहित्य का जैन साहित्य में क्या स्थान है यह समझना आसान है।

जैसा और जितना संस्कृत साहित्य में व्याकरणशास्त्र का महत्त्व है उतना ही जैन वाङ्मय में दर्शनशास्त्र विषयक ग्रन्थों का है। जैन दर्शन शास्त्रों से ही जैन वाङ्मय अनुप्राणित होता है। जैन सिद्धान्तों की चर्चा मूल दार्शनिक शास्त्रों में है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि है जैन दार्शनिक साहित्य से अनभिज्ञ मनुष्य जैन सिद्धान्तों का मर्मज्ञ नहीं हो सकता है।

स्याद्वाद का आध्यात्मिक रूप

यद्यपि आध्यात्मिक शास्त्रों में आत्मा के शुद्ध स्वरूप का वर्णन मिलता है लेकिन वह पहले शुद्ध था या अशुद्ध ? अशुद्ध किस तरह हुआ और जो शुद्ध होता है वह कभी अशुद्ध हो सकता है या नहीं ? इत्यादि बातों को जाने बिना मुमुक्षु की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। स्याद्वाद इन सब प्रश्नों का समाधान करता है। इसलिये स्याद्वाद तो मोक्ष का प्रथम सोपान है।

इसके अतिरिक्त आध्यात्मिक शास्त्र आत्मा और परमात्मा का सम्बन्ध दिखलाते हैं जब कि दर्शन शास्त्र सिद्ध करते हैं कि जीव भी ज्ञानवान् है, परमात्मा भी ज्ञानवान् है इसलिये इस दृष्टि से दोनों एक हैं। जीव की सभी ज्ञानशक्तियाँ व्यक्त नहीं हुई हैं जब वे प्रकट होंगी तब आत्मा और परमात्मा ऐसा भेद नहीं रहेगा।

व्यावहारिक जीवन में स्याद्वाद की उपयोगिता

न्यायशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है कि—

जेण विणा लोगस्सवि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स ॥

इस पर से यह प्रतीत होता है कि व्यावहारिक क्षेत्रों में जैसे इतिहास राजनीति एवं अर्थशास्त्र उपयोगी हैं वैसेही स्याद्वाद भी बहुत उपयोगी है।

राष्ट्रकी स्वतंत्रता एवं परतंत्रता के समय किस तरह रहना चाहिए और सामाजिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं को कैसे हल करना चाहिए यह स्याद्वाद ही सिखा सकता है। स्याद्वाद कोई किताबी चीज़ नहीं है। उसका क्षेत्र सर्वत्र है और इससे सम्पूर्ण विश्व की प्रत्येक समस्या पर प्रकाश पड़ सकता है।

वर्तमान जैन समाज में स्याद्वाद का अभाव

जीवनके धर्म कर्म समाज एवं राष्ट्र, इतने क्षेत्र हैं इनमें कहीं पर भी जैनियोंने स्याद्वाद को अपनाया नहीं है। मात्र पुस्तकों में भर दिया है। जैसे धर्म के क्षेत्रको लेकर देखते हैं तो जैनों के मूर्तिपूजक स्थानकवासी और दिगम्बर इस तरह तीन फिरके हैं। दिगम्बर और मूर्तिपूजकों में तो कोई खास तात्विक मतभेद न होने पर भी वे परस्पर लड़ते रहते हैं। मन्दिरों के विषयमें इतने लड़े हैं कि उसमें बहुतसे मनुष्योंने अपनी जानें गवा दी हैं। इन लड़ाइयों के इतिहास को पढ़कर रोमाञ्च हो जाता है कि यह धर्म क्या चीज़ है। एक सम्प्रदायवाले दूसरे सम्प्रदाय के विचारों को जानना भी नहीं चाहते। एक दूसरे को भी मिथ्यात्वी कहते हैं और अपने अनुयायी गृहस्थों को भी साम्प्रदायिक बन्धन में बांध लेते हैं। क्या जैन दर्शन यही सिखाता है? क्या इन बातों को देखकर जैन दर्शन का हृदय गद्गद् नहीं होता होगा।

जैन दर्शन का यही हृदय और मूलमन्त्र है कि अनेकतामें एकता करना। जिस प्रकार बिखरे हुए फूलों को एक करने के लिये उनको तोड़ मरोड़ कर एक टोकरी में रख देने की जरूरत नहीं है लेकिन उनके अस्तित्व को मिटाये बिना ही जिस प्रकार मालाकार उनको एक सूतमें पिरो कर माला बनाता है वैसे ही जैन दर्शन भी यही सिखाता है कि मालाकार की तरह तुम भी बनो। सच्चा जैन तत्ववेत्ता व सहिष्णु होता है। वह दूसरे के विचारों को सुनता है और प्रत्येक प्रश्नकी दोनों बाजुओंको देखता है। यही तो जैन फिलोसोफी का हृदय है। जैन फिलोसोफी का उद्भव भी अनेक परिस्थितियों में उत्पन्न मनुष्य के हृदय की जिज्ञासाओं का समाधान करने के प्राथमिक ध्येयको लक्ष्य में रखकर हुआ था।

कर्म के विषय में भी जैन लोग एकान्त पकड़कर बैठे हैं। सामाजिक क्षेत्र में तो स्याद्वाद को जरा भी नहीं लाया गया है। केवल धर्म स्थानकों में जब हम जाते हैं तब कुछ वहां सुनते हैं कि आत्मा नित्य भी है और अनित्य भी है।

जैन तत्ववेत्ताओं से !

सिद्धसेन समन्तभद्र हरिभद्र आदि जैन तत्ववेत्ताओं ने अपने आपको सामाजिक क्षेत्र से अलग रखकर अनेकान्त को आध्यात्मिक क्षेत्र में अधिक रूप से रक्खा और उन्होंने जो जो साहित्य लिखा उसमें सामाजिक समस्याओं पर विचार नहीं किया।

आधुनिक ज़मानेके जैन तत्ववेत्ता भी उसी पहलू पर चलते हैं और कहते हैं कि जब सिद्धसेन और समन्तभद्र जैसे समर्थ विद्वानों ने सामाजिक क्षेत्र में अनेकान्त को नहीं रखा तो फिर हम क्यों रक्खें। लेकिन मैं कहता हूं कि सिद्धसेनादि आचार्यों ने अपने आपको सामाजिक क्षेत्र से अलग रक्खा था तो वह उनके लिये

अच्छा था, क्योंकि उस समय की सामाजिक व्यवस्था अहिंसा मूलक थी। लोग एक दूसरे के प्रति प्रेमपूर्वक रहते थे अतः उस समय उन आचार्यों ने सामाजिक क्षेत्र से अलग रहकर केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में स्याद्वाद को विकसाया तो यह हानिकर नहीं था। लेकिन आजकल परिस्थिति बदल गई है। आज मानव मानव का खून चूसने को तैयार है। धनवान् जिस हाथ से लाखों का दान करते हैं उसी हाथ से बेचारे गरीब लोगों के गले पर छुरी चलाने में जरा भी अधर्म नहीं मानते। धर्मगुरु भी धर्मस्थानकों में आकर अहिंसा दया क्षमा इत्यादि विषयों पर बड़े बड़े भाषण देते हैं लेकिन आपस में इतने लड़ते हैं कि जिसकी कोई सीमा नहीं। मास्टर लोग कालेज में अच्छे अच्छे नीति के पाठ पढ़ाते हैं लेकिन घरपर आकर अनीति से चलने में जरा भी पाप नहीं समझते।

गरीब लोग रातदिन मजदूरी करते हैं फिर भी उनको खाने को नहीं मिलता उनके बच्चों को पीने को दूध खाने को घी और पहिनने को कपड़े भी नहीं मिलते बीमारों को दवाई नहीं मिलती।

एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की स्वतन्त्रता को जौरम छीन लेता है और अपने को अच्छा मानता है। चारों ओर हिंसा और शोषण का साम्राज्य फैल गया है। इस प्रकार आधुनिक समाज व्यवस्था हिंसामूलक बन गई है अतः अब स्याद्वाद को और अहिंसा को भी पुस्तकों में और उपाश्रयों में रखने से जरा भी काम नहीं चलेगा।

अब तो विश्व की नवीन समाज रचना के लिये जैन तत्ववेत्ताओं को अपना कदम पहले उठाना चाहिये। खुद भगवान् महावीर ने भी इस स्याद्वाद के सिद्धान्त द्वारा ही उस समय की सामाजिक समस्याओं को हल किया था।

आजकल के नवजवानों को धर्म के विषय में रस नहीं है उसका कारण केवल यही है। वे हमारे पास आते हैं और पूछते हैं कि क्या स्याद्वाद में समन्वय कराने की शक्ति नहीं है? अगर है तो फिर श्वेताम्बर दिगम्बर मामूली बातों पर क्यों लड़ते हैं। विधवा विवाह बाललग्न वृद्धलग्न इत्यादि समस्याओं को हल करने की ताकत यदि जैन फिलॉसॉफी में नहीं है तो केवल उसका आसरा लेकर हम क्या करें?

देखिये तो जरा, कि गांधीजी और जवाहरलाल नेहरू वल्लभभाई और राजेन्द्रबाबू इत्यादि बड़े नेताओं का आचार हमारे जैनतत्ववेत्ता साधु मुनिराजों के आचारों से अधिक ऊँचा नहीं है। मेरे खयाल से वे जैन साधुओं की आचार के विषय में बराबरी कर ही नहीं सकते, लेकिन आज सारा भारतवर्ष तो क्या सारी दुनिया भी गांधी और जवाहरलाल की ओर देख रही है। हमारे साधु मुनिराज पैदल विहार करके उपदेश देते जाते हैं लेकिन उनकी कोई नवयुवक सुनता भी नहीं। समस्त विचारशील वर्ग गांधीजी की ओर आकर्षित है। इसका कारण क्या है? इसका कारण स्पष्ट है कि आजकल जमाना बदल गया है। आज तो साइन्स का जमाना आगया है फिर भी जैन साधु और तत्ववेत्ता अपने को सामाजिक क्षेत्र से क्यों

बन सके त्यों अलग ही रखना चाहते हैं। और स्याद्वाद एवं अहिंसा को केवल पुस्तकों में ही रखने का आग्रह नहीं छोड़ते।

प्राचीन ब्राह्मण तत्ववेत्ताओं की तरफ जरा देखियेगा तो मालूम पड़ेगा कि वे राजाओं के द्वारा पूजे जाते थे। राजा के न्यायालय में उनका मुख्य स्थान था। राजा के वे विश्वासपात्र थे। राजनैतिक समस्याओं पर वे राजा को सलाह देते थे।

यूरोप की ओर चलते हैं तो सोक्रेटीज, प्लेटो और एरीस्टोटल बड़े ही फिलॉसॉफर थे लेकिन उन्होंने अपनी जिन्दगी राजनैतिक क्षेत्र में ही व्यतीत की।

फिलॉसॉफी का उपयोग व्यावहारिक क्षेत्र में नहीं होगा तो फिर कहाँ होगा! इसलिये जैन फिलॉसॉफी के हृदयभूत स्याद्वाद को व्यवहार में लाना चाहिए। वर्तमान भारतीय काँग्रेस अहिंसा और स्याद्वाद का उपयोग कर रही है। मेरी समझ से तो जैनों ने अपने स्याद्वाद रूप अमोघशस्त्र को अपने हाथ से गुमा दिया है जिसका कि दूसरे लोग उपयोग करते हैं।

अन्त में स्याद्वाद को व्यवहार में लाकर नवीन भारतीय समाज रचना में उसकी अमूल्य भेंट रखना चाहिये ताकि आज गांधीजी के प्रति जैसे विचारशील वर्ग का आकर्षण है वैसे जैनधर्म के प्रति भी हो।

प्रभु महावीर की संघ-व्यवस्था

लेखक—धीरजलाल केशवलाल तुरखिया

भु महावीर की संघ व्यवस्था बहुत व्यवस्थित और सुन्दर है। उस वक्त कितनेक राज्य भी 'गणतंत्र' से चलते थे। आज ढाई हजार वर्ष के बाद समाजवाद, साम्यवाद, प्रजासत्तावाद आदि जो उपस्थित हो रहे हैं वे भगवान् महावीर और महात्मा गौतम बुद्ध के जमाने में सफलता से कार्यान्वित थे।

प्रभु महावीर ने अपने धर्म शासन में संगठनात्मक व्यवस्था को दीर्घकालिक सुव्यवस्थित बनाए रखने के लिए 'संघ-व्यवस्था'-रचना की है तदनुसार २५०० वर्ष के बाद भी सुचारुरूप से यह संघ-व्यवस्था अविच्छिन्न रूप से धारा प्रवाह चली आ रही है।

प्रभु महावीर ने धर्म मार्ग में श्रम-यत्न-पुरुषार्थ करने वालों को 'श्रमण' कहा है। यद्यपि आज 'श्रमण' शब्द सिर्फ साधुओं के लिये रूढ़ हो गया है। जैसे कि आवश्यक छः हैं उनमें प्रतिक्रमण नाम के चौथे आवश्यक की मुख्यता लेकर सभी आवश्यकों को 'प्रतिक्रमण' के नाम से पुकारा जाता है।

'चउव्विहे समण संघे पण्णत्ते' । चार प्रकार के श्रमण संघ कहे हैं—साधु साध्वी श्रावक और श्राविका । संघ इसको 'चतुर्विध संघ' भी कहते हैं । इसको 'तीर्थ' भी कहा है । जिससे तिरा जाये अर्थात् सागर को पार किया जाये । पापकर्मों से छूटकर आत्मशुद्धि की जाये उस साधन को तीर्थ कहते हैं । बिना 'रत्नत्रय' ज्ञान दर्शन-चारित्र के पापकर्म-मुक्त होकर आत्म-शुद्धि नहीं हो सकती । इस रत्नत्रय के धारक त्यागी पुरुष को 'साधु' त्यागी स्त्री को साध्वी गृहस्थ को श्रावक' और गृहस्थिनी को 'श्राविका' कहा है ।

त्यागी और गृहस्थ के चारित्र-पालन की मर्यादा में अन्तर है जब कि ज्ञान दर्शन सबको समान हो सकते हैं । इन चार तीर्थों को (संघ) को स्थापन करते हैं इसीलिये भगवान् 'तीर्थंकर' कहलाते हैं । तीर्थंकरों ने संघ का अत्यधिक महत्व दिया है । इसीलिये कुछ आचार्यों की ऐसी मान्यता है कि प्रभु देशना (व्याख्यान) के समय 'णमो संघस्स' शब्दों से संघ' को नमस्कार करते हैं ।

'संघ' है भी ऐसी व्यवस्थित सगठित शक्ति ।

व्यवस्थित सगठित जन-समुदाय को संघ कहते हैं । सगठन की शक्ति अलौकिक अपराजित है इस को सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं । संसार के सब जड़ पदार्थ भी इसके मूर्तिमन्त उदाहरण हैं । स्वयंसिद्ध वस्तु के लिये विवेचन करना अनावश्यक है ।

रत्नत्रय के धारक जिनप्रभु के आराधक 'जैन' मात्र एक अखण्ड और अविभाज्य संघ है । चारित्र की तारतम्यता के कारण ही साधु-साध्वी और श्रावक-श्राविका, के प्रकार किये हैं । उक्त दो २ । भी परस्पर की सांकल से जोड़ दिये हैं ।

त्यागी वर्ग (साधु-साध्वी) का कर्तव्य अपने व्रतों का पालन करना सर्व शक्तिको आत्म-शुद्धि मोक्ष मार्ग की ओर लगाना और गृहस्थोंको धर्म मार्ग पर लगाना है इन त्यागी साधु-साध्वियों का स्थान संघमें 'गुरु-पद' का है ।

गृहस्थ-वर्ग (श्रावक-श्राविका) का कर्तव्य अपने देशव्रतों का पालन करना न्यायोपार्जित द्रव्य से अपने परिवार का पोषण करना साधु-साध्वियों की निर्दोष आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहना संघकी सम्पत्ति की व्यवस्था करना और साधर्मियों की हर प्रकार सेवा करना है । संघकी दृष्टि से श्रीमन्त-गरीब या उच्च-नीच जाति कुल का कोई भेद नहीं होता । साधर्मी भाई का प्रेम व संबंध निकट को रिश्ते-दारी से अधिक बताते हुए एक आचार्यने कहा है "साधु सगपण भामी माहनु

आज भी इसकी प्रतीति धर्मस्थानों में "स्वर्ग जमीन में" यात्रा में प्रत्यक्ष हो रही है । इसी प्रकार की संघ व्यवस्था पंचमकाल के अंत तक अर्थात् आगामी साढ़े अठारह हजार वर्ष तक चलती रहेगी ऐसे सर्वज्ञ वचन हैं ।

साधु वर्ग और श्रावक वर्ग के पारस्परिक संबंध की योजना प्रभु ने इस प्रकार स्थापित की है कि—

बन सके त्यों अलग ही रखना चाहते हैं। और स्याद्वाद एवं अहिंसा को केवल पुस्तकों में ही रखने का आग्रह नहीं छोड़ते।

प्राचीन ब्राह्मण तत्त्ववेत्ताओं की तरफ जरा दृष्टि देंगे तो मालूम पड़ेगा कि वे राजाओं के गुरु रूप से आते थे। राजा के न्यायालय में उनका मुख्य स्थान था। राजा के वे विश्वासपात्र थे। राजनैतिक समस्याओं पर वे राजा को सलाह देते थे।

यूरोप की ओर देखते हैं तो सोक्रेटीज, प्लेटो और अरीस्टोटल बड़े ही फिलॉसॉफर थे लेकिन उन्होंने अपनी जिन्दगी राजनैतिक क्षेत्र में ही व्यतीत की।

फिलॉसॉफी का उपयोग व्यावहारिक क्षेत्र में नहीं होगा तो फिर कहाँ होगा? इसलिये जैन फिलॉसॉफी के हृदयभूत स्याद्वाद को व्यवहार में लाना चाहिये। वर्तमान भारतीय कॉंग्रेस अहिंसा और स्याद्वाद का उपयोग कर रही है। मेरी समझ से तो जैनों ने अपने स्याद्वाद रूप अमोघशस्त्र को अपने हाथ से गुमा दिया है जिसका कि दूसरे लोग उपयोग करते हैं।

अन्त में स्याद्वाद को व्यवहार में लाकर नवीन भारतीय समाज रचना में उसकी अमूल्य भेंट रखना चाहिये ताकि आज गांधीजी के प्रति जैसे विचारशील वर्गका आकर्षण है वैसे जैनधर्म के प्रति भी हो।

प्रभु महावीर की संघ-व्यवस्था

लेखक—धीरजलाल केशवलाल तुरखिया

प्रभु महावीर की संघ व्यवस्था बहुत व्यवस्थित और सुन्दर है। उस वक्त कितनेक राज्य भी 'गणतंत्र' से चलते थे। आज दाई हजार वर्ष के बाद समाजवाद, साम्यवाद, प्रजातंत्रवाद आदि जो उपस्थित हो रहे हैं वे भगवान महावीर और महात्मा गौतम बुद्ध के जमाने में सफलता से कार्यान्वित थे।

प्रभु महावीर ने अपने धर्म शासन में संगठन और व्यवस्था को दीर्घकालिक सुरक्षित बनाये रखने के लिए 'संघ-व्यवस्था'-रचना की है तदनुसार २५०० वर्ष के बाद भी सुचारु रूप से यह संघ व्यवस्था अविच्छिन्न रूप से धारा प्रवाह चली आ रही है।

प्रभु महावीर ने धर्म मार्ग में श्रम-याने पुरुषार्थ करने वालों को 'श्रमण' कहा है। यद्यपि आज 'श्रमण' शब्द सिर्फ साधुओं के लिये रूढ़ हो गया है। जैसे कि आवश्यक छः हैं उनमें प्रतिक्रमण नाम के चौथे आवश्यक की मुख्यता लेकर सभी आवश्यकों को प्रतिक्रमण के नाम से पुकारा जाता है।

'चउव्विहे समणसंघे पण्णत्ते'। चार प्रकारके श्रमण संघ कहे हैं—साधु साध्वी श्रावक और श्राविका। संघ इसीको 'चतुर्विध संघ' भी कहते हैं। इसको 'तीर्थ' भी कहा है। जिससे तिरा जाय संसार सागर को पार किया जाय। वासनाओं से छूटकर आत्मशुद्धि की ओर उस साधन को तीर्थ कहते हैं। बिना 'रत्नत्रय' ज्ञान दर्शन-चारित्र के वासना-मुक्त होकर आत्म शुद्धि नहीं हो सकती। इस रत्नत्रय के धारक त्यागी पुरुष को 'साधु' त्यागी स्त्री को 'साध्वी' गृहस्थ को 'श्रावक' और गृहस्थिनी को 'श्राविका' कहा है।

त्यागी और गृहस्थ के चारित्र-पालन की मर्यादा में अन्तर है जब कि ज्ञान दर्शन सबको समान हो सकते हैं। इन चार तीर्थों की (संघ) की स्थापना करते हैं इसलिये भगवान् 'तीर्थंकर' कहलाते हैं। तीर्थंकरों ने संघ को अत्यधिक महत्त्व दिया है। इसीलिये कुछ आचार्यों की ऐसी मान्यता है कि प्रभु देशना (व्याख्यान) के समय 'णमो संघस्स' शब्दों से संघ को नमस्कार करते हैं।

'संघ' है भी ऐसी व्यवस्थित संगठित शक्ति।

व्यवस्थित संगठित जन-समुदाय को संघ कहते हैं। संगठन की शक्ति अलौकिक अपराजित है इस को सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं। संसार के सब जड़ पदार्थ भी इसके पूर्तिमन्त उदाहरण हैं। स्वयंसिद्ध वस्तु के लिये विवेचन करना अनावश्यक है।

रत्नत्रय के धारक जिनप्रभुके आराधक 'जैन' मात्र एक अखंड और अविभाज्य संघ हैं। चारित्र की तारतम्यता के कारण ही साधु—साध्वी और श्रावक—श्राविका, के प्रकार किये हैं। उक्त दो वर्ग भी परस्पर की सांकल से जोड़ दिये हैं।

त्यागी वर्ग (साधु—साध्वी) का कर्तव्य अपने व्रतों का पालन करना सर्व शक्तिको आत्म-शुद्धि मोक्ष-मार्ग की ओर लगाना और गृहस्थोंको धर्म-मार्ग पर लगाना है इस त्यागी साधु—साध्वियों का स्थान संघमें 'गुरु—पद' का है।

गृहस्थ-वर्ग (श्रावक—श्राविका) का कर्तव्य अपने देशव्रतों का पालन करना न्यायोपार्जित द्रव्य से अपने परिवार का पोषण करना साधु—साध्वियों की निर्दोष आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहना; संघकी सम्पत्ति की व्यवस्था करना और साधर्मियों की हर प्रकार सेवा करना है। संघकी दृष्टि से श्रीमंत-गरीब या ऊंच-नीच जाति कुल का कोई भेद नहीं होता। साधर्मी भाईका प्रेम व संबंध निकट के रिश्तेदारों से अधिक बताते हुए एक आचार्यने कहा है "साधु सगपण स्वामी सारहु"

आज भी इसकी प्रतीति धर्मस्थानों में भिन्न जीमण में यात्रा में स्पष्ट हो रही है। इसी प्रकार की संघ व्यवस्था पंचमकाल के अंत तक अर्थात् आगामी साढ़े अठारह हजार वर्ष तक चलती रहेगी ऐसे प्रभुके वचन हैं।

साधु वर्ग और श्रावक वर्ग के पारस्परिक सम्बन्ध की योजना प्रभुने इस प्रकार स्थापित की है कि—

साधु साध्वी वर्ग वैसे तो श्रावक श्राविका संघ के गुरुपद पर हैं, परन्तु साथ ही श्रावक श्राविकाओं को 'अम्मा-पिया' माता पिता भी कहा है। अर्थात् साधु साध्वी वर्ग श्रावक श्राविकाओं को पिता माता तुल्य समझें। क्योंकि निष्कंचन निरारंभी साधु साध्वियों का संयम मार्ग देह-यात्रा और धर्म प्रचार का कार्य गृहस्थों के सहयोग से ही होगा और गृहस्थ (श्रावक श्राविका) संघ साधु साध्वियों के चारित्र संयम त्याग के कारण उन्हें गुरु मानकर पूज्यभाव रक्खें और उनकी सत्प्रवृत्तियों में अपना तन मन धन शक्ति लगाते रहें।

साधुओं का कर्तव्य गृहस्थों को दुर्व्यसन कुमार्ग से छुड़ाकर सन्मार्ग धर्म मार्ग में लगाना है वैसे सुज्ञानी श्रावक श्राविकाओं का कर्तव्य साधुओं के चारित्र त्याग संयम की सार सम्हाल करने का है। छद्मस्थ दशा होने से साधु वर्ग का जहाँ प्रमाद भूल स्खलन होता हो उसे सुधार कर उचित मार्ग पर लगाने का है।

इस प्रकार चतुर्विध श्रीसंघ भिन्न २ मोतियों की एक माला है। पृथक्२ अंकोड़ों की एक सांकल है। परस्पर आधारभूत है। इसीसे श्री संघ की शोभा है संगठन-बल है और समृद्ध है।

विश्व की वर्तमान समस्याएं और जैनधर्म

लेखक—महता शान्तिचन्द्र जैन "विशारद" बगड़ी—सज्जनपुर (मारवाड़)

विश्व की वर्तमान व्यवस्था—संसार के द्वितीय महायुद्ध का पर्दा गिर चुका है। एक लम्बे समय के पश्चात् यद्यपि मशीनगन और परमाणु बम का भीषण तांडवनृत्य समाप्त हो चुका है और दुनिया के साम्राज्यवादी नाना प्रकार से अपना बाह्यरूप परिवर्तित हुआ दिखाना चाहते हैं तथापि इन मानव नामधारी दानवों की खूनी प्यास का अन्त नहीं हुआ है और पर्दे की ओट में स्थान२ पर अपने२ स्वार्थों के कारण भीषण आन्तरिक संघर्ष होरहे हैं। संसार के शान्तिप्रिय लोगों की आँखों में धूल झोंकने के लिये साम्राज्यवादी शक्तियों के द्वारा सेनफ्रांसिस्को (अमरिका) में शान्ति एवं सुरक्षा स्थापन के लिये एक अद्भुत नाटक रचागया तथा गुलाम देशों की स्वातंत्र्य भावनाओं को धोखा देने के लिये उसमें अच्छे केवल सात्विक प्रस्ताव पास किये गये। लेकिन वास्तव में जब तक साम्राज्यवादी लिप्सा का अन्त नहीं कर दिया जाता, तब तक संभव नहीं कि संसार में पूर्ण शान्ति व सुरक्षा की स्थापना हो सके। दुनिया के बड़े २ शक्तिशाली राष्ट्र चाहते हैं कि संसार की बहुसंख्यक जनता को परतंत्रता के पाश में जकड़कर अपने साम्राज्य की जड़ों को मजबूत बनाया जाय और साम्राज्यों को फूलकर भरम

देश को हड़पाया जाय। यह हीन मनोवृत्ति ही आज विश्व में अशान्ति एवं युद्ध का प्रलयंकारी वातावरण फैलाये हुए है। ईरान के तैलक्षेत्रों में रूस और ब्रिटेन दोनों ही अपना प्रभुत्व जमाना चाहते हैं तो जावा और हिन्दचीन के स्वातंत्र्य संग्राम को डच और फ्रेंच साम्राज्यवादी सरकारें निरंकुशतापूर्वक दमन कर रही हैं। इधर यद्यपि भारत की आजादी की चिनगारियों ने ब्रिटिश साम्राज्य की नींवको हिला दिया है, तथापि वह मधुर वाग्जालियों द्वारा भारतीयों को फुसलाना चाहती है और अपनी अनधिकार चेष्टा का प्रदर्शन कर रही है। संक्षेप में इस प्रकार विश्व का वातावरण महायुद्ध के समाप्त हो जाने के बावजूद भी अत्यन्त ही संकट पूर्ण एवं विषैला बना हुआ है।

जैन धर्म की क्षमता—उपरोक्त परिस्थिति का अवलोकन करने के पश्चात हमें यह विचार करना है कि जैन धर्म संसार में सच्ची शान्ति स्थापन करने की क्षमता रखता है या नहीं? इस अंधकारयुक्त विश्व में जैनधर्म के पावन सिद्धान्त प्रकाश स्तंभ का काम करते हैं। इन सिद्धान्तों का मनन एवं आचरण करने से सुदीर्घ सुख तथा शान्ति की स्थापना की जा सकती है। जनता यदि इन सिद्धान्तों के महत्वको समझे और संसार की प्रमुख शक्तियाँ अपना हृदय परिवर्तन कर संसार के कल्याणकारी सिद्धान्तों का मनन करें तो कोई शक्ति के आगमनको रोक नहीं सकती और इस कार्य से नूतन युग का निर्माण होगा जिसमें मानव की सर्वतोमुखी उन्नति दृष्टिगोचर होगी।

अहिंसा से विश्व-बन्धुत्व (Universalism)—इस दुनिया की सारी बीमारी को जैन धर्म की दिव्य बूटियाँ अल्पकाल में दफा कर सकती हैं। हिंस्य भावनाओं को विजय करने में वैसी इस अहिंसा का सिद्धान्त (Doctrine of Non violence) अनुपम ज्योति प्रदान करता है। स्वार्थों के संघर्ष को समाप्त करने के लिये इस शस्त्र का उपयोग पूर्ण सफलता सूचक होगा। जब एक व्यक्ति या राष्ट्र धन, जमीन या किसी दूसरे भौतिक स्वार्थके लिए अन्य पर आक्रमण करता है तो उसका मूल कारण स्वार्थों का संघर्ष होता है। वह अपने स्वार्थों के लिये दूसरों के स्वार्थों को कुचल डालना चाहता है। इस प्रकार सबल निर्बल को हड़प जाने की ताक में बैठा रहता है। परिणाम स्वरूप संसार में अशांति की ज्वाला धधक उठती है। इस प्रलयंकारी अग्नि को शांत करने के लिए अहिंसा के सिवाय अन्य कोई साधन नहीं। अहिंसा से तात्पर्य है कि सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख से घबराते हैं, इसलिये दूसरों के दुःखों को दूर करने में ही सुख माना जाय। अर्थात् विश्वबन्धुत्व एवं शांति का प्रचार तथा हिंसा एवं संघर्ष का त्याग—"सत्त्वेषु मैत्रीम्" की शुभ भावना का हृदय में जमा देना। जैन धर्म एक ओर प्राणियों पर दया करने का उपदेश देता है तथा दूसरी ओर अपने स्वार्थों को कम करने पर जोर देता है। मनुष्य या राष्ट्र की आवश्यकताओं को इतना सीमित कर देना चाहिए ताकि दूसरों के स्वार्थों का हनन करने का अवसर पैदा न हो। शारीरिक

ही नहीं अपितु मानसिक कष्ट देना भी जैन धर्म को मान्य नहीं। फिर कौन यह कहने का साहस कर सकेगा कि जैन धर्म संसार में शान्ति स्थापन में असमर्थ है? अहिंसा का धार्मिक ही नहीं परन् व्यवहारिक रूप अधिक महत्व रखता है। विश्व प्रेम एवं सहानुभूति का संचार कर पूर्ण स्वतंत्रतायुक्त समानाधिकार स्थापित करने में ही अहिंसा का गूढ़ अर्थ निहित है। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ के निम्न लिखित कथन से कोई भी जैनधर्म एवं अहिंसा के महत्व को सरलतया समझ सकता है—

"Mah vir proclamed in India the messag of Salvation and Non-Voil nce th t rel gion is r alty nd not mere a Social Con antion that Salvation and peace comes from t king r fuge in this religion and this religion cannot r gard a y barrier between man nd man as an eternal verity"

स्याद्वाद से विचार-समता—जैनधर्म का मौलिक सिद्धान्त स्याद्वाद अनेकान्त वाद विचारों के संघर्ष का मार्जन करने में समर्थ है। वास्तव में इस सिद्धान्त का जितना अधिक मनन एवं अध्ययन किया जायगा उतना ही विचार वैमनस्य को दूर करने का सुन्दर मार्ग दिखाई देगा। यदि यह कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा कि भगवान महावीर की अधिकांश प्रतिभा इन्हीं दो सिद्धान्तों-अहिंसा एवं स्याद्वाद में निहित है जो संसार को शान्ति पथ पर अग्रसर करने का सरल संदेश देते हैं।

अनेकान्तवाद का महत्व एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट हो जायगा। एक बार जन्मान्धों ने एक हाथी देखा- किसी ने पैर पकड़ा किसी ने सूंड किसी ने कान दांत इत्यादि। एक ने कहा—हाथी खम्बे के समान है। अन्य ने कहा- अजगर के समान है सूप के समान है भाले के समान है इत्यादि। सभी अपने २ कथन की सिद्धि के लिये आपस में झगड़ने लगे। तब तक अन्य सज्जन व्यक्ति ने कहा-आप में से प्रत्येक व्यक्ति न्यूनाधिक अंशों में ठीक है यदि सब अपने मतों को इकट्ठा करें तो पूरा हाथी बन जायगा। परन्तु एकान्त अपने ही मत को पकड़ बैठने से सभी का कथन सर्वथा असत्य गिना जायगा इस प्रकार एकान्तवाद असत्य है उलझन है और अनेकान्तवाद सत्य व सुलझन है। उस हाथी के समान सत्य एक अखंड व सनातन है परन्तु उन अंधों की तरह भिन्न २ विचार वाले व्यक्ति पूर्ण सत्य के अभाव में अपने सत्यांश को ही पूर्ण सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। एकान्तवाद से विचार वैमनस्य बढ़ता है। और अनेकान्तवाद से विचार साम्य। इस प्रकार अनेकान्तवाद एक ऐसा सांचा है जिसमे सत्य के भिन्न२ अंशों को डाल कर उन्हें पूर्ण व अखंड सत्य का रूप दिया जाता है। अवश्य ही स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) विश्व की विचारवैमनस्यता को विनष्ट करने में पूर्ण समर्थ है अनेकान्त वाद विश्व के इस अन्धकारमय वातावरण में ज्ञान की तीक्ष्ण ज्योति फैंकता है जिसके द्वारा स्पष्ट रूप से विचार साम्य एवं शान्ति का मार्गान्वेषण किया जा सकता है।

दया से शान्ति एवं सुरक्षा -(Peace and Security) अहिंसा का सहयोगी सिद्धान्त है दया या करुणा। गांधीजी के सिद्धान्तानुसार पूंजीवादी यदि अपना हृदय परिवर्तन कर गरीबों पर पूर्ण दया भाव रखें और उनके जीवनक्रम को उच्च धरातल पर ला रखें तो उनके विनाश की कोई आवश्यकता नहीं-उचित ही प्रतीत होता है। वास्तव में दया ऐसी भावना है जो हृदय को द्रवित कर देती है और प्राणियों को दुःख देना तो दूर रहा उनका दुःख देखना भी असह्य हो जाता है। यही कारण है कि जैनधर्म में दया को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। पूंजीवाद के विनाश की यही आवश्यकता है कि पूंजीवादियों ने शोषण शस्त्र के द्वारा गरीब जनता को अत्यन्त पीड़ित कर रखा है परन्तु यदि वे गरीबों पर दया रखें एवं अपने स्वार्थों को भी छोड़कर सर्व प्रथम उनकी अवस्था को सुधारने का निश्चय करें तो अन्य कोई उपाय जिससे पूंजीवादियों को मिटाना पड़े काम में न लाना पड़ेगा। साम्यवाद का स्वतः ही प्रसार हो जायगा और बिना किसी रक्तपात और हिंसात्मक कार्यों के ही संसार में शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना हो जायगी। फिर हमें महा युद्धों के विनाशकारी दृश्य न देखने होंगे और न निरीहजनता का विनाश ही होगा।

कर्मवाद से जाति बहिष्कार (Abolition of caste System) हमारे भारत में जाति प्रथा की समस्या अत्यन्त ही पेचीदी होरही है। जाति भेद के कारण प्रत्येक मनुष्य का प्रेम व सौहार्द्र स्वजाति तक ही सीमित व संकुचित रहता है। वह अन्य जाति वालों से पृथक्ता रखने और नीची नजर से देखने लगता है। जाति प्रथा जो प्राचीन समय में सम्भवतया लाभदायक रही होगी परन्तु वर्तमान में यह प्रथा अत्यधिक हानि प्रद तथा विद्वेषकारिणी प्रतीत होती है। निम्न जाति वाले सामाजिक भय से अपने आप को शिक्षित एवं संस्कारित नहीं बना सकते तथा व्यक्तिगत पूर्ण स्वतंत्रता तक भी उन्हें प्राप्त नहीं है। इस प्रकार समय की गति के अनुसार मानव मानव को समानता की दृष्टि से देखना चाहिये जाति भेद का विद्यमान होना अवश्य ही लज्जास्पद सा दिखाई देता है। जैन धर्म को जाति भेद कतई मान्य नहीं है। कर्महीन ब्राह्मण को वह सुसंस्कारित शूद्र से श्रेष्ठ नहीं मानता। जैनधर्म तो केवल कर्तव्याकर्तव्य के अनुसार ही जाति भेद मानता है। जो वास्तव में परम आवश्यक बात है और जिसे मानने से कोई इनकार नहीं कर सकता।

कम्मुणा बंभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा सुद्दो होइ कम्मुणा होइ वेसिओ ॥'

उत्कृष्ट कर्तव्य करने पर शूद्र भी ब्राह्मण के लिए पूजनीय हो जाता है। इस प्रकार जैन धर्म का यह कर्म-कर्तव्य का समर्थन प्रत्येक मनुष्य की उन्नति का रास्ता साफ करता है तथा जाति भेद के बन्धन को तोड़कर मानव समानता का सुनहला सिद्धान्त उपस्थित करता है।

संसार में ऐसी ज्योति प्रदीप्त कर सकेंगे जिसके तले संसार प्रेममय एवं शान्ति युक्त होगा तथा ज्ञान के प्रकाश में अपनी सर्वतोमुखी उन्नति करता हुआ अपने आध्यात्मिक जीवन को उच्च बना लेगा और यही सभी वादों और मतों का अन्तिम ध्येय है। अन्त में मैं लेख के कलेवर को अधिक न बढ़ा कर राधाकृष्णन् पहली वाईस चॉसलर हिन्दू यूनिवर्सिटी बनारस के एक कथितांश को उद्धृत कर लेख को समाप्त करता हूँ जिस कथन में विश्व की उन्नति का स्पष्ट पथ दृष्टिगोचर होता है— 'आज की दुनिया में महावीर का विश्वप्रेम और अहिंसा सन्देश चाहे कुछ अतीव कल्पना की सी बात लगती हो पर यदि मानवता को विनाश से बचना है और कल्याण के मार्ग पर चलना है तो महावीर के अहिंसा के सन्देश को और उनके बताये हुए मार्ग (जैन धर्म) को ग्रहण किये बिना कोई रास्ता नहीं है।"

जैन राजनीति पर विहगम दृष्टि

लेo कामताप्रसाद जैन, D L., M R.A S

योवृद्ध तपोधन श्री चौथमलजी को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जायेगा' यह जानकर मुझे हर्ष हुआ उसके लिये मैं यह पंक्तियां इसीलिये लिख रहा हूं कि श्री चौथमलजी महाराज का जो ऋण मानव समाज पर है उसके भार को हल्का कर सकूं यह तो नहीं किन्तु कृतज्ञताज्ञापन अवश्य करूं। श्री महाराज का नाम मैंने सुन रखा था। मुझे यह आभास न था कि उनकी सौम्य-सुन्दर और गंभीर प्रभावोत्पादक आनन मुद्रा के दर्शन का सौभाग्य मेरे लिए इतना सुगम होगा जितना वह हुआ। इसे मैं सौभाग्य ही कहूंगा। सन् १९३८-३९ में मैं कार्यवश जसवन्तनगर (इटावा) गया था। श्री दिगम्बरणलाल जैन ट्रस्ट-भवन के पास धर्मशाला थी। ट्रस्ट-भवन में मेरी बहन विदुषी स्व० केतकीकुमारि ने मुझे बताया कि यहां कोई श्वेताम्बर यति म० ठहरे हुए हैं। उनकी वाणी प्रभावक है—रोज़ ही मानवसमुदाय उनका वचनामृत-पान करने को बिना बुलाये चला आता है। मुझे उत्सुकता हुई कि वह कौन महाभाग हैं? किन्तु मैं इधर संकल्प करता रहा और उधर किसी ने मेरे मन की बात सेठ से कह दी। याद नहीं पड़ता किसने आकर कहा कि मेरी बुलाहट होरही है। किसकी सरलता और निस्पृहता का भाव भरा था उस बुलाहट में! महानता इसीका तो नाम है। धर्मशाला में चबूतरे पर बैठे हुए श्री चौथमलजी म० भाषण दे रहे थे। उनकी वाणी मार्मिक थी-उसमें अनुभूति की पुट भरा था मानव मन का वह भेदन कर रही थी। जीवमात्र उसको सुनकर 'अपनापन' पा रहा था। पहले मा

उनका गंभीर और धर्म का मुखचंद्र ही मानव-मनको आकर्षित करने के लिये पर्याप्त था। उनके मुख से घुसे सफेद चाँदी जैसे शिरकेश मानो उनके हृदय की निर्मलता को बता रहे थे, उसपर उनकी मीठी वाणी मन मोहक थी। पर उससे मानव मन में विवेक जगता था। वह जो कहते उसी को संगीत में गाकर साकार बना देते थे—वे पद्य उन्हींकी सुन्दर रचना थे। उनके शिष्यगण उन पद्यों को दुहरा कर एक प्रभावक स्वरलहरी उत्पन्न कर देते थे। मैं एक ओर बैठा हुआ इस धर्मामृत का रसपान करता रहा। प्रवचन समाप्त हुआ और मानव अब भी प्रसन्न थे। वह कल फिर उस अमृतपान की आशा लेकर वहां से गये। अब मैं निकट ही था महाराज श्री ऐसे बोले मानो वह चिर परिचित हों। साहित्यिक बातें हुईं ज्ञान की भी हुईं और साम्प्रदायिक मान्यताओं पर भी। पर चौथमलजी तो सागर के समान विशाल थे। उनसे बात करके मुझे संतोष हुआ इतना ही नहीं मैंने एक 'निधि' को पाया। वह मानव की नहीं लोक की निधि हैं। वह सच्चे जैन हैं—सज्जन और जितेन्द्रिय साधु। लोकोपकार में निरत भारत में पैदल घूम २ कर वह आत्मज्ञान की गंगा बहाते हैं और श्रम नहीं मानते इसलिये वह सच्चे श्रमण हैं। नीच ऊँच गरीब अमीर—सभी तो उनके कृपापात्र हैं। गरीब की कुटिया की दरिद्रता भी उन्होंने देखी है और बड़े २ राजा नरेशों के महल भी। दुखियों के दुख दूर करने में उनको कितना आनन्द आता होगा, यह वही जानें। किन्तु हम जानते हैं कि राजशासकों को वे अहिंसा के प्रेमी बनाते हैं। उन्होंने कई राज्यों में अमारी घोषणायें कराई हैं—जीवमात्र अभय हो यही तो महानता है। मानव स्वाधीन बने यह ठीक है। किन्तु लोक का निम्नतम प्राणी भी क्यों न अभय और स्वाधीन हो? मानों इस तर्कसिद्ध सत्य को भी महाराज का पुण्य-कार्य स्पष्ट करता है। जैन राजनीति ऐसे ही साधुओं द्वारा अनुप्राणित होती आई है। अतः आइये पाठक जैन राजनीति पर यहां एक विहंगम दृष्टिपात करें।

जैनकी मान्यता है कि इस भरतक्षेत्र में कालचक्र की फिरन से पलटन होती रहती है। समय एकसा नहीं रहता और उसके साथ द्रव्य क्षेत्र भाव अब भी एकसे नहीं रहते। यहां इस युग कल्पकाल के आदि में मानव सौभाग्यशाली था—कोई फिकर न थी उसे। वह भोग भोगने में आनन्द विभल था। घर-कुटुम्ब की बाधा उसे नहीं थी। मेरे-तेरे की संकीर्ण भावना उसके हृदय में नहीं जगी थी। श्रम भी उसे नहीं करना पड़ता था। युवा रहता था मानव और युवती थी मानवी। जरा उन्हें जर्जरित नहीं कर पाती थी। पूर्ण आयुष्य होकर वह भोग भोगते थे। उनके इच्छायें थी पर आवश्यकतायें अधिक नहीं थीं। उन इच्छाओं को वे विभिन्न प्रकार के वृक्षों से पदार्थ पाकर पूरी कर लेते थे। मगन थे मानव। दैव को उनसे ईर्ष्या हुई। काल और दैव सहयोगी हैं। तब दैवी की सहायता के लिए काल आगे आया। दैव की मनचाही हुई। अब यह सुखद समय सरक चला।

सरल हृदय मानव सुखी था। दैवने उसके हृदय की सरलता का अपहरण

किया। आहार, भय मैथुन और परिग्रह-ये संज्ञायें जीवमात्र के होती हैं। आदि कालीन मानव आहार के लिये दुखी न था। युवक और युवती पूर्ण स्वस्थ्य रहकर कामपुरुषार्थ का भोग करते थे। स्वाधीन थे वे इसलिये भयकी अभिव्यक्ति उनमें नहीं-सी थी। घर-कुटुम्ब उन्होंने आदि में नहीं रक्खा, इसलिये परिग्रही भी वह अल्प थे। पर जो भी उनके पास था उसे वे अपना मानते थे और जिनवृक्षों से आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे उनसे भी उनका ममत्व होना स्वाभाविक था। कालने उनके हृदयों में इस 'अहं' की अग्नि को सुलगाया-वे वृक्षों की मालिकी पर झगड़े। प्रकृत रूपेण उन्हें आवश्यकता हुई 'कोई इस झगड़े को निबटाये'। मानव ने सब को देखा—उसने जिसे सबसे सतोगी और समीगी पाया, वह उसके पास न्याय की आशा से गया। उस महामानव ने कल्पवृक्षों की सीमायें नियत करके मानव को न्याय दिया—मानव संतुष्ट हुआ। मानव ने खुशी से सीमकर महामानव को अपना मार्ग पथप्रदर्शक नेता माना। वह 'मनु' कहलाया। ऐसे कई मनु हुए। मनु ने मानव को कुलों में बँटकर रहना सिखाया, इसलिये वह कुलकर भी कहलाये। मानव ने अपनी हितकामना से वह शासन स्वीकारा और मनु ने साथी मानव का उपकार करना अपना धर्म माना इसलिये पथप्रदर्शक और नियामक का भार सहर्ष स्वीकारा। मानव ने राजनीति का प्रारंभ इस कल्पकाल के आदि में इस प्रकार किया अतः जैनदृष्टि से राजनीति की आधार शिला लोकोपकार की शुभ भावना है जो अहिंसा में गर्भित है।

काल देव का सच्चा सखा निकला—जिसने ऐसा चक्र चलाया कि मानव महान् क्रान्ति करने के लिये बाध्य हुआ। 'महत्व' का दास जो बन चुका था वह। अन्तर से उसने अपनी स्वाधीनता स्वयं खोई। दैव यही तो चाहता था। अब मानव का वह सौभाग्य न था। वह अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्षों से करने में असमर्थ हुआ। अर्थात् मानव की इच्छा-पूर्ति होना सुगम नहीं। ये वृक्ष भी मानव की ईर्ष्या देखकर लुप्त हो गये। क्या खाये मानव? क्या पहने मानव? जीवन निर्वाह की नई समस्या मानव के आगे भयंकर रूप में खड़ी थी। यहाँ मानव भयभीत हुआ। वह अन्तिम कुलकर नाभिराय के द्वार पर दौड़ा-दौड़ा आया। नाभिराय के पुत्र ऋषभदेव को देखा वे महान थे सामान्य नहीं विशेष ज्ञानी भी थे। मानव ने अपनी जीवन-समस्या ऋषभदेव के सम्मुख प्रस्तुत की। ऋषभदेव ने स्थिति को समझा मानव को सांत्वना दी और वह जीवन-क्रान्ति के लिये तैयार हुआ। कर्म (Actions) करने का पाठ मानव को पढ़ाया और श्रम (Labour) का महत्व हृदयगम कराया। कर्मभूमि का सिरजन महा-मानव ने ही किया। इस कर्मभूमि में कोई भी मानव श्रम किये बिना जीवित नहीं रह सकता। कृषिकर्म करो और चाहे कोई अन्य कर्म, पर कर्म करना अवश्य होगा। जीवन-निर्वाह के लिये यह आवश्यक 'दास' हुए। स्वाधीन मानव कर्म के जुए में जोत दिया गया। जिससे स्वाधीनता सीमित होगई। ऋषभ

देव ने कुलकरों के प्रभावों को पूरा किया। इन्होंने महान् 'मानवराष्ट्र' की स्थापना की। जो मानव उद्दण्ड रहे और षट्कर्मोपजीवी नहीं हुए, व इस मानव राष्ट्र से बहिष्कृत रहे। वनों में-कन्दराओं में-गुफाओं में-व लुके छिपे फिरते रहे। नव जीवन के संस्कारों की छाया भी अपने पर नहीं पड़ने दी। सुसंस्कृत मानव ने असंस्कृत मानव को 'अनार्य' कहा। वह स्वयं 'आर्य' कहलाया। यह हुई महान् जीवन क्रान्ति।

ऐसी क्रान्ति से ऋषभदेव ने आर्य-संस्कृति और सभ्यता का जन्म देकर 'महा-मानव-राष्ट्र' की स्थापना की। अब राजनीति को अपना करतब दिखाने का अवसर हाथ आया। राष्ट्र और राजनीति साथ साथ चलते हैं। इसका कारण है। एक महामानवराष्ट्र को अपने आसपास के अनार्य मानव से सावधान रहना पड़ता था। अहंकार विरोध सिरजता है। इस विरोध का परिहार तो करना ही होता है इस विरोध परिहार में जिस नीति का अवलम्बन किया जाता है वही राजनीति है। ऋषभदेवजी ने आर्यों के महामानवराष्ट्र की राजनीति अहिंसा पर अवलम्बित रक्खी थी। इन्होंने मानव को बताया "स्वयं जीओ और दूसरों को जीवित रहने दो, बल्कि सबके जीवन सफल बनें ऐसे परस्पर सहायक बनो।" इस शिक्षा में समष्टि का हित गर्भित था इसलिये राजनीति जनहित को आगे रखकर चली।

राष्ट्र की रक्षा और उत्थान के लिये सेना (Army) अर्थ (Finance) और श्रम (Labour) का वर्गीकरण समुचित होना आवश्यक है। राष्ट्र में नैतिक भावना जागृत रखने का अर्थ साहस और त्याग की मात्रा का सजीव रखना आवश्यक है इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि मानव अपने पड़ोसी कमज़ोर मानव को धर दबावे। सेना अर्थ और श्रम का निर्माण अहिंसा के सिद्धान्त पर होना चाहिये। राष्ट्र के अङ्ग-अङ्ग में इन तीनों की समता और सामञ्जस्य होनाही चाहिये। ऋषभदेवने मानव राष्ट्र को तीन वर्गों में अलग-अलग इसीलिये बांटा कि राष्ट्र का रक्षण और वर्द्धन समुचित हो। मानव रागद्वेष या वृथा भेद में भूलकर राष्ट्रीयता का अन्त न करदे इसलिये मानव के इस राष्ट्रीय वर्गीकरण में गुण प्रधानता को ही महत्त्व दिया। मानव में जहां २ वीर्य और तेज रहा और देखा दूसरे की रक्षा करने का वीरभाव वहां वहां वहां सैनिक का सच्चा आदर्श पाया। यह वर्ग क्षत्रिय कहलाया-राष्ट्रका यह भुज था। जिनमानवों में ऋषभदेवने साहस और बुद्धि के साथ संचय भावना पाई वहीं पर अर्थ-सम्पन्नता का भार डाला गया। और वे वैश्य कहाये न्यायपूर्वक अर्थ संचय करके राष्ट्रको समृद्धिशाली बनाना जिनका कर्त्तव्य था। शेष मानव श्रम भार वहन करने के लिये स्वतंत्र था वह महान् सेवा भावी बना। इस प्रकार राष्ट्रका वर्गीकरण राजनीति को शक्तिशाली बनाने के निमित्त हुआ। ऋषभदेव की आज्ञा से भरतक्षेत्रमें कई जनपदों की स्थापना हुई। प्रत्येक जनपद का एक शासक भी नियत हुआ। शासनाधिकारी सैनिकवृत्तिके मानव हुए। जनपद

ऐसके एक सौ पुत्र थे-वे भी विभिन्न जनपदों के शासक हुये। उन शासकों से ही इक्ष्वाकु कुरु हरि यादव सूर्य, चन्द्र आदि राजवंशों की उत्पत्ति हुई।

उस समय की राजनीतिने शासक की शक्ति को मंत्रिमंडल के आधीन रख कर सीमित बना दिया था- शासक अनीति का अवलम्बन न ले, इसीलिये यह प्रतिबन्ध था। एक कुटुम्बमें पिताको सर्वाधिकार इसीलिये प्राप्त है कि वह सारे ही कुटुम्बीजनों का समान रूप से हितचिन्तक होता है। राष्ट्र के लिए शासक भी पिता-तुल्य है। यदि यह अपने कर्तव्यसे च्युत होता है और अनहित में मस्त हो जाता है तो वह धर्मच्युत हो जाता है। जैन राजनीति कहती है कि धर्मच्युत शासक 'राजा' कहलाने के अयोग्य है। शास्त्रों में ऐसे कई प्रसंग मिलते हैं जिनमें धर्मच्युत शासकों के स्पष्ट उल्लेख है। अमरदत्त सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट भी धर्मच्युत होने पर भ्रष्ट होता है। आवश्यकता पड़ने पर मंत्रीमंडल जनताके समक्षमें नवीन शासक को चुनने का भी अधिकारी था। चम्पाके अज्ञात राजकुमार करकंडु इसी तरह तो कलिङ्ग के अधिपति चुन लिये गये थे। अहिंसा ही तो जैन राजनीति का आधार है और शासकों को अहिंसा पर आरूढ़ रखने के लिये जैन आचार्य सदा सतर्क रहे हैं।

ऋषभदेव के पुत्र भरत हुये-वह पहले सार्वभौम सम्राट थे। भरतक्षेत्र के आर्यों का महाराष्ट्र विभिन्न अनेकवंशीय शासकों में बंटा हुआ था और बहुतसे अनार्य भी उद्दण्ड थे। यदि उस समय शक्ति को केन्द्रीभूत न किया जाता तो राजनीति सम्भवतः कभी एकत्रित हो जाती—अहिंसाधिष्ठ निति तब पनप न पाती। भरत ने राष्ट्रोत्थान के लिये शक्ति को अयोध्या-नरेश में केन्द्रीभूत किया। वैसे सभी स्वाधीन थे, परन्तु अहिंसा संस्कृति की अभिवृद्धि के लिये प्रत्येक शासकको सम्राट की सत्ता स्वीकार करना ही होती थी। भरत ने राष्ट्रहित के लिये ससैन्य सारे देश का भ्रमण किया। उनकी दिग्विजय धर्मपूर्ण थी। वह लोकोपकार भावना से अभिप्रेत थी। भरत ने लोक को अहिंसा-नीति का पुजारी बनाया। सब स्वाधीन रहें, परन्तु उद्दण्ड बनकर अहिंसा को लोपने की लोभी मानव का अधिकार हड़पने के लिये स्वतंत्र न थे।

भरत के भाई बाहुबलि दक्षिण भारत में शासनाधिकारी थे। भरतकी राजनीति को वह समझ नहीं या उसको समझने का प्रयास उन्होंने नहीं किया-यह हम स्पष्ट नहीं जानते। एक बात स्पष्ट है। बाहुबलि में स्वाभिमान की मात्रा अतिरूप में थी—उसमें अहंकार आ जमा था। वह भाई-भाई थे और थे अपने २ क्षेत्र के स्वाधीन शासक। बाहुबलि क्यों भरतका सत्ताधिकार मानें ! राजनीति की बात उनके मन चढ़ी। भाइयों का युद्ध ठना। व्यक्तित्व और समष्टित्व एक दूसरे के आड़े आये। राजमंत्रियों में मंत्रणा की। यह तै हुआ कि दोनों भाई की सेनायें मात्र दर्शक रहें-अकारण रक्त न बहायें। दोनों भाई अहिंसक युद्ध लड़े। नेत्र युद्ध हुआ, जल युद्ध हुआ। बाहुबलि के बल ने भरत को निष्प्रभ किया। यह मूल मंत्र अहिंसा के आदर्श की। क्रुद्ध से क्रुद्ध हुये भरत ने भाई पर सुदर्शनचक्र का वार किया। किन्तु

प्रेम पर पशुबल विजयी नहीं हो सकता। चक्रप्रहार व्यर्थ हुआ। बाहुबलि का बाल भी बांका न हुआ। क्या भरत ने यहां भी अहिंसा-संस्कृति की महत्ता प्रदर्शित करने के लिये चक्रप्रहार की विडम्बना की थी? सर्वज्ञ हो तो ठीक जाने। अहिंसक राजनीति कहनी-सी लगती है कि भरत अहिंसक राजनीति के ही आदर्श थे। बाहुबलि राजभार का जुआ उतार कर फेंक देते हैं। वह शरीर बन्धन से मुक्त होने के लिये योगी होते हैं और पूर्ण स्वाधीन बनते हैं। समाधिहित के लिये भरत आये बाहुबलि उनसे चार कदम आगे समाधिहित के लिये बढ़ गये। जैन की अहिंसक राजनीति का यही तो महत्व था। उसमें अपने लिये कोई नहीं लड़ता था-सब के लिये यदि लड़ना भी पड़ता था तो खून नहीं गिरता था। कैसी भी वह स्वर्गिक राजनीति।

राजनीति का संरक्षण दण्डविधान में निहित है। अहिंसक राजनीति का दण्ड भी अहिंसक ही हो सकता है। प्रेम से ही तो बालक सुधरता है। बढ़के हुवे मानव को प्रेम ही सुधारता है। मानव मानव में प्रेम होना स्वाभाविक है। अहंकार का विभाव-विष मानव-मनको मैला न करे तो कभी भूल बढ़े ही न। अतः अहिंसक राजनीतिक राष्ट्रके प्रत्येक मानव के हृदय में विश्वप्रेम की निर्मल गंगा बहाना कभी नहीं भूला। आचार्यों का कार्य ही यह था कि वे मानव को सन्मार्गी विश्वप्रेमी बनावें। फिर भी कोई सन्मार्ग से भटकता तो उस अपराधी के लिये तीन बड़े-से दण्ड थे। आज का मानव उन्हें बड़ा भले ही न मानें, परन्तु अहिंसक जैनयुग में उन तीन शब्दों की अमोघ शक्ति थी। 'हा'-'मा धिक्' जैन राजनीति का प्रारंभिक दण्ड विधान इन तीन शब्दों में ही ओत-प्रोत था। जैनयुग का मानव 'धिक्कार' में अपना मरण समझता था। आज का दण्डविधान अति कठोर है वह मानवके अमूल्य प्राणों की कीमत लगाता है। पर मानव को वह सुधार नहीं सका है। प्रतिशोध विद्वेष का दूसरा रूप ही तो है। आग से आग नहीं बुझती-पाप से पाप नहीं मिटता। तब दण्ड के हिंसाजन्य अपराध से अन्य अपराध कैसे मिटे? जैन राजनीति की विचारसरणी देखी ही यही है। उसमें आततायी को प्रोत्साहन नहीं मिला। कभी २ किसी जैन राजा ने उस भी रक्खा परन्तु उसका प्रहार शायद ही हो पाया। दयालु जैनाचार्यों ने हस्तक्षेप करके उसे आजन्म देश-निर्वासन में पलट दिया। मनुष्य की उद्दण्डता ने दण्डविधान को कठोरता का बाना पहनाया है। जैन राजनीति फिर भी अहिंसा को न भूली। अपराधी को मानव की दृष्टि में लज्जित बनाना और उसके हृदय में अपराध के प्रति घृणा उत्पन्न करना जैन राजनीति का ध्येय रहा है।

अहिंसक जैन राजनीति सदा सर्वदा सफल रही-मानव उसकी गोद में खूब फूला-फला। श्रेणिक बिम्बसार ने मगधसाम्राज्य की नींव इसीलिये डाली कि भारतीय संस्कृति केन्द्रीभूत हो। मगधपरम् न ईरानियों को भगाकर उस पुष्ट किया। अन्ता मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त और उसके वंशजों द्वारा भारत का एकीकरण हुआ और

अहिंसक राजनीति का विकास। श्री भद्रबाहु सदृश जैनगुरुओं ने राजा और प्रजा का पथ प्रदर्शन किया। उनके अहिंसक आदर्शों का सिक्का सबके हृदयों पर अङ्कित हुआ। चाणक्य की राजनीति अहिंसाको भूली नहीं-चाणक्य भी तो श्रमणोपासक हुआ था। देश की समृद्धि हुई-लोक को उन्नति करने का अवसर मिला। विश्वप्रेम और विश्व शान्ति का सन्देश लेकर जैनगुरु विदेशों को भी गये। उस समय का स्वर्ण अवसर फिर समष्टि ने देखा इतिहास शायद यह बतावे। परन्तु बृहद्रथ ने मौर्य्य साम्राज्य का ही अन्त कर दिया। हिंसक पशुबलिमय क्रियाकाण्ड को प्रोत्साहन मिला। हिंसा में शान्ति और ऐक्य कैसे रहे? देश में विक्षेप फैला। देश की शक्ति केन्द्रित नहीं रही-सब छिन्न भिन्न हो गये। फिर जैन राजनीति को यह सौभाग्य ही न मिला कि वह भारतीय मानवों को एक राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ाती और उन्हें विश्वशान्ति का अग्रदूत बनाती यद्यपि यह सच है कि जैनाचार्यों ने अहिंसक राजनीति को बलवती बनाने के लिये सतत उद्योग किये-समय समय पर उन्हें सफलता भी मिली, पर वह आंशिक और अस्थायी थी। श्री सिद्धसेन दिवाकर ने सम्राट् विक्रमादित्य को प्रभावित किया तो कालकाचार्य ने धर्मनीति की रक्षा के लिये शकशाही शासन की नींव भारत में जमाई। श्री सिंहनन्दि आचार्य ने गङ्ग-साम्राज्य को जन्म देकर चाहा कि अहिंसक राजनीति समष्टि का पथ-प्रदर्शन करे और यही बात आचार्य सुदत्तजी ने होयसल राज्य को स्थापित करके करनी चाही। श्री हेमचन्द्राचार्य ने कुमारपाल को इसीलिये प्रतिबोधा था। श्री जिनसेनाचार्य ने विश्वविख्यात सम्राट् अमोघवर्ष को अहिंसा द्वारा समष्टिहित साधने को ही सम्बोधा। किन्तु दैवको यह इष्ट न था। वह हिंसक मानव को उसकी काली करतूत का पाठ पढ़ाने पर तुला था। ज्यों ज्यों मानव स्वार्थ लिप्सा में अन्धा हुआ हिंसक पशु होता गया त्यों त्यों वह गृहकलह और विश्व कलह की धधकती आग में जलता रहा। गत महायुद्ध और अब ही युद्ध मानवकी दुर्भावना के दुखद दुष्परिणाम हैं। मानव यदि सुख और शान्ति चाहता है तो उसे अहिंसा नीति को अपनाना आवश्यक है। श्री चौथमलजी म. के आदर्श को अपना कर यदि साधुजन देश विदेश की राजनीति को अहिंसा से अनुप्राणीत करें तो लोक का कल्याण हो। क्या यह संभव है?

राज्य का जैन आदर्श

ले० ज्योतिप्रसाद जैन, विशारद, एम ए. एल-एल बी

गवान महावीर से पूर्व तथा उनके पश्चात् भी लगभग ६-७ सौ वर्ष पर्यन्त जैन साधु प्रायः वनवासी, संसार देह भोगों से विरक्त ध्यान तपशील होते थे। ये मुनिपुंगव बस्ती और गृहस्थियों से दूर ही रहने का प्रयत्न करते थे। दुनियादारों के साथ उनका सम्पर्क होता अवश्य था किन्तु वह सम्पर्क केवल पारमार्थिक दृष्टि से स्वपर कल्याण कर होता था। जो कोई गृहस्थी राजा या रंक स्त्री या पुरुष उनके पास आता उसे मोक्षमार्ग का उपदेश देते। अतः राजाओं राज्यों और राज्य शासन से ये प्रारंभिक जैनाचार्य कोई वास्ता नहीं रखते थे। इन संस्थाओं में उनकी उन्नति अवनति में भी कोई रुचि नहीं रखते थे।

अतएव राज्य शासन में ब्राह्मण वर्ग का ही हाथ प्रधानतया रहता रहा राजनीति विज्ञान संबंधी जो विधान नियम विचारधारायें व्यवस्थायें ब्राह्मण विद्वानों ने धीरे धीरे स्थापित करली थीं वही सर्वत्र व्याप्त होगईं। भारतीय राजनीति के सर्व प्रसिद्ध गुरु चन्द्रगुप्त मौर्य के राजमन्त्री चाणक्य थे। सम्राट् चन्द्रगुप्त की ही भांति वे भी जैन धर्मानुयायी थे ऐसा विश्वस्त अनुमान करने के पर्याप्त कारण हैं। किन्तु राजगुरु कौटिल्य के रूप में वे गृहस्थ ही थे साधु नहीं थे। अपने "अर्थ शास्त्र" में उन्होंने किसी धर्म विशेष की छाया नहीं पड़ने दी और विषय का प्रतिपादन विशुद्ध वैज्ञानिक ढंगपर तथा पूर्णतया वस्तुपरक (Maolical) किया। अतः उक्त ग्रंथ पर से यह अनुमान करना कि उसका प्रणेता जैन था अथवा अन्य ही किसी धर्म का अनुयायी था अत्यन्त कठिन है। उत्तरकालीन ब्राह्मण विद्वानों ने इन्हें ब्राह्मण धर्मानुयायी ही माना और कुछ बृहस्पति कामन्दक, वात्स्यायन भृगु भागुरि भारद्वाज पराशर, विशालाक्ष आदि सभी राजनीतिज्ञों ने उनके सिद्धान्तों का अनुकरण एवं अनुसरण किया। इन ब्राह्मण विद्वानों ने नीति सम्बंधी अनेक ग्रंथ रचे और वह भी कौटिल्य के अर्थशास्त्र के साथ साथ ही मान्य हुए।

बौद्ध भिक्षुओं ने प्रारम्भ से ही अपने धर्म का उत्कर्ष साधन करने के लिये विभिन्न राजाओं को प्रभावित करना नाना प्रकार की कूटनीति द्वारा राज्य और शासन कार्यों में दखल देना राजपुरुषों और राज्य कर्मचारियों को अपने वश में रखना इत्यादि कार्यों को अपने संघ का एक खास लक्ष्य बनाया। राजनीति में इस प्रकार दिलचस्पी रखने के कारण इन्होंने तद्विषयक कुछ साहित्य भी रचा।

किन्तु जैनाचार्यों ने भारतीय राजनीति साहित्य एवं विधान को जो अनुपम देन दी है वह बौद्धों की अपेक्षा कहीं अधिक विशाल विशद एवं महत्त्वपूर्ण है। जैनाचार्यों ने कौटिल्य तथा अन्य ब्राह्मण विद्वानों द्वारा प्रतिपादित प्रचलित मूल मान्यताओं को अधिकांशतः स्वीकार किया अनेक विषयों में पूर्व नीतिकारों के मत का अनुसरण भी किया। और ऐसा करना आवश्यक भी था, इनका उद्देश्य किसी कल्पित मनोराज्य को चित्रित करना तो था नहीं उन्हें तो प्रचलित राजनैतिक सिद्धान्तों में और उक्त सिद्धान्तों के कारण वास्तु प्रथाओं व्यवस्थाओं और विधानों में जो दोष आगये थे, समय की मांग के अनुसार उनका ही संस्कार करना था, उनमें ही समुचित सुधार करके एक नवीन और विशिष्ट दृष्टिकोण प्रदान करना था। ब्राह्मण राजनीतिज्ञों के मतानुसार राजा पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि होता था प्रजावर्ग के लिये वह पिता ही नहीं स्वामी भी था एक नेता नहीं वरन् देवता था। अपनी प्रजा के साथ सर्व प्रकार मनमानी करने का उसे अधिकार था। चाहे वह कितना मूर्ख अन्यायी उच्छृंखल अत्याचारी दुराचारी क्यों न हो प्रजा उसकी सत्ता के विरुद्ध अंगुली भी न उठा सकती थी, राजद्रोह महा भय दूर पाप था, राजा का उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र होता था। उत्तराधिकार के विषय में भी प्रजा की कोई आवाज नहीं थी। वास्तव में राजा ही राष्ट्र था। राजा का यदि कोई कर्त्तव्य था तो केवल ब्राह्मण की रक्षा करना। ब्राह्मण वर्ग उसके लिये भी पूजनीय था उनके अधिकार भी विशेष थे। ऐसी मान्यता और प्रथा के दुष्परिणाम भी यत्र तत्र लक्षित होते ही थे। तत्कालीन राजनीतिज्ञ भी इनसे बेखबर न रह सके प्रचलित राजनीति में सुधार की भारी आवश्यकता थी और इस आवश्यकता की पूर्ति जैन विद्वानों ने की।

जैनाचार्यों के हाथों राज्य के स्वरूप उत्पत्ति तथा आदर्श संबंधी प्रचलित सिद्धान्त एक स्वतन्त्र एवं उदार दृष्टिकोण से नवीन रूप में ढाल गये और अनेक नीय विकास एवं विस्तार को प्राप्त हुए। साहित्य के रूप में उनके राजनीति संबंधी विचार उनकी काल की उपज हैं जबकि हिंदु स्मृतियें तथा पुराण ग्रंथ रचे जा रहे थे। जैन पुराण एवं चारित्र ग्रंथों में प्रायः प्रसंगवश नीति का उपदेश तथा राजनैतिक सिद्धान्तों की सुन्दर व्याख्या मिलती है। और भगवत् जिनसेनाचार्य के आदि पुराण में तो जैन राजनैतिक सिद्धान्तों की सर्वोत्तम व्याख्या है। आचार्य हेमचन्द्र भी अन्य अनेक गुणों के साथ साथ एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ भी थे।

किन्तु राजनीति विषय पर एक स्वतन्त्र सर्वप्रकार पूर्ण सांगोपांग ग्रंथ रचने का श्रेय १० वीं शताब्दी ईस्वी के जैनाचार्य सोमदेवसूरि का है ये देव संघ के आचार्य थे और चालुक्य के उत्तर कालीन चालुक्य वंश के राजमान्य गुरु थे और राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय के समकालीन थे इनका 'नीतिवाक्यामृत' संस्कृत सूत्र शैली में होते हुए भी विषय विवेचन तथा प्रवाह प्रसाद गुण के लिये अनुपम है। यों तो उनके यशस्तिलक में जो चम्पू शैली के काव्य का ग्रन्थ है

सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है, उन्होंने राजा यशोधर को उपदेश देने के मिस राजनीति का अच्छा व्याख्यान किया है, और उनका एक अन्य, अब अनुपलब्ध ग्रंथ 'त्रिवर्ग-महेन्द्र मातलिसंजल्प' भी नीति विषयक ही था ऐसा प्रतीत होता है। किन्तु 'नीति-वाक्यामृत' के रूप में तो उन्होंने अपने समय तक के सर्व प्राचीन अर्वाचीन नीति ग्रंथों, नीतिज्ञों के विचारों, प्रचलित राजनैतिक सिद्धान्तों और प्रथाओं रूप नीति सागर का मन्थन करके प्रस्तुत नीतिवाक्यात्मक अमृत प्रदान किया है। उन्होंने राजनीति के व्यवस्थित ढांचे को मूलरूप में स्वीकार किया पूर्वकालीन विद्वानों के अनेक विचारों को भी अपनाया किन्तु जहाँ जैसी आवश्यकता समझी उनमें सुधार और संशोधन भी किया, कितने ही नवीन विचार भी प्रस्तुत किये और वस्तुतः अपने दृष्टिकोण की नवीनता और ताजगी द्वारा राजनीति में क्रान्ति पैदा कर दी और संसार के राजनीतिज्ञों में अपना विशिष्ट स्थान अमर कर लिया।

आचार्य सोमदेव का उद्देश्य राज्य को सच्चा सुराज्य बनाना था, अस्तु राजनीति में जो दोष एवं विचार आगये थे उन्हें दूर करने पर और राजा तथा राज्य कर्मचारियों के कर्तव्य पर उन्होंने भरपूर जोर दिया। राज्य तथा राज्य संचालन सम्बंधी प्रायः सभी विषयों पर उन्होंने अपने अमूल्य विचार प्रकट किये। उनकी दृष्टि में राजा ही राष्ट्र नहीं था वरन् राजा प्रजा, देश सब ही राष्ट्र के एक से अंग थे। राष्ट्र इन सब से ऊपर था। उसके प्रति प्रजा का कर्तव्य था तो राजा का भी कर्तव्य उससे कहीं अधिक था।

ग्रंथारंभ में प्रथम सूत्र में ही उन्होंने 'राज्य' संस्था को नमस्कार किया और वह इस हेतु से कि उसके द्वारा ही एक नागरिक के धर्म अर्थ और काम इन पुरुषार्थ त्रय की सिद्धि होती है। सामान्यतया मनुष्य की सारी शक्ति और समय इस त्रिवर्ग के साधन में ही सतत व्यय होती रहती है। एक दुनियादार की कोई भी क्रिया–मन वचन अथवा काय की–ऐसा नहीं होती जो कि इन तीनों उद्देश्यों में से किसी एक या दूसरे की पूर्ति के अर्थ न की जाती हो। आहार भय मैथुन और परिग्रह जीवमात्र की चार प्रकृतिगत संज्ञाए हैं और ये संज्ञाएं ही मनुष्य में भोगेषणा लोकेषणा पुत्रैषणा और वित्तैषणा नामक चार मूल एषणाओं के रूप में प्रकट होती है। सर्व प्रथम प्रत्येक व्यक्ति जीवन की रक्षार्थ भोजन, वस्त्र स्थान इन तीन शारीरिक अन्यन्तावश्यकताओं की पूर्ति में उद्यमशील होता है इन की पूर्ति होते न होते क्योंकि वह पंचेन्द्रिय सम्बन्धी विषय पोषण में एक प्रकार का सुख अनुभव करता है उसकी भोग लिप्सा जागृत हो जाती है और वह नाना प्रकार के विषय भोगों में मग्न हो जाता है। मन शरीर रसना नासिका नेत्र और कान रूप इन्द्रियों की तुष्टि करते रहना ही उसका काम पुरुषार्थ है।

(1) अथ धर्मार्थ काम फलाय राज्याय नमः। नीतिवाक्यामृत पृ० ●

इस काम पुरुषार्थ की सिद्धी में सर्वप्रधान साधन निमित्त द्रव्य है। क्योंकि द्रव्य के होने से ही सर्व प्रकार की आवश्यकताओं इच्छाओं भोगों और उपभोगों को परितुष्टि हो सकती है, यहां तक कि धर्मसाधन में भी एक गृहस्थ के लिये द्रव्य आवश्यक होता है। दूसरे मनुष्यों के सम्पर्क में रहने और आने वाले एक सामाजिक प्राणी के एक नागरिक के लिये अर्थ प्राप्ति का प्रयत्न एक अत्यन्तावश्यक पुरुषार्थ है। उसके सर्व प्रयोजनों की सिद्धि अर्थ द्वारा ही सम्भव है (२) अतएव उसकी प्राप्ति के लिये मनुष्य मात्र उद्यमशील होते हैं नाना प्रकार के उद्योग धन्धों और व्यवसायों में अपनी इच्छा प्रवृत्ति शक्ति साधन एवं परिस्थितियों के अनुसार संलग्न होते हैं। यही मानव का अर्थ पुरुषार्थ है।

किन्तु चूंकि मनुष्य की भोगलिप्सा और अर्थ तृष्णा का कोई अन्त ही नहीं एक इच्छा पूरी हुई कि दस नवीन इच्छायें उसके स्थान में उत्पन्न होगईं उसकी इच्छायें निरन्तर परिवर्धित होती चली जाती हैं, और यह यदि कोई बन्धन न हुआ तो उनकी पूर्ति करने के प्रयत्न में विवेकहीन होकर सर्व प्रकार के दुराचार अनाचार, अत्याचार कर सकता है और करता है जिसके फलस्वरूप समाज की व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जाती है न्याय अन्याय का प्रश्न नहीं रह जाता, शील संयम सहृदयता आदिगुण तिरोहित हो जाते हैं और जिस की लाठी उसकी भैंस का नियम चरितार्थ होने लगता है। अध्यात्म और मोक्ष प्राप्ति का प्रश्न तो दूर की बात है विशुद्ध लौकिक दृष्टि से अर्थात् सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से भी ऐसे बन्धनों की परम आवश्यकता है कि जिनके कारण इस प्रकार की उच्छृंखल प्रवृत्ति को प्रोत्साहन न मिले। अपनी इच्छाओं की पूर्ति और उनके लिये अर्थोपार्जन में सब व्यक्ति समान रूपसे स्वतन्त्र अवश्य रहें किन्तु उसी हद तक जहाँ तक कि वे दूसरों के भी इसी प्रकार के अधिकारों में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचाते। राज्य के दण्डविधानानुसार अपराधियों को अर्थात् दूसरों की शारीरिक मानसिक, आर्थिक हानि करके अपना स्वार्थ साधन करने वालों को न्यायालयों में उपयुक्त दण्ड देनेसे इस दुष्प्रवृत्ति में रोक अवश्य होती है किन्तु यह मात्र एक बाहिरी उपाय है रोग के हो जाने पर उसका इलाज मात्र है सो भी अचूक नहीं और रोग को न होने देने में तो विशेष कार्यकारी है ही नहीं। दूसरे, राजकर्मचारी भी मनुष्य ही होते हैं और मानवी दुर्बलताओं से अभिभूत उनके ज्ञान और न्याय की पहुँच सभी प्रकार के अपराधों और सभी अपराधियों में प्रायः नहीं होती।

ऐसी परिस्थिति में धर्म मनुष्य का सहायक होता है। वह अपनी उच्छृंखल प्रवृत्तियों को अपनी इन्द्रियों का तथा उनके विषयों को संयत करने का उपदेश देता है। इच्छाओं को परिमित रखने न्याय्य आचरण करने दूसरों के प्रति वैसा ही व्यवहार करने जैसा कि हम चाहते हैं वह हमारे साथ करें अहिंसा सत्य

(१) "यं भिमानिकर मानुविद्धा यतः सर्वेन्द्रिय प्रीति स काम" —नी वा, पृ ११

(२) 'यतः सर्व प्रयोजन सिद्धि सा अर्थः' —नी वा, पृ १०

अचौर्य सन्तोष शील क्षमा मृदुता सरलता निर्लोभ संयम आदि के पालन दुर्व्यसनों के सेवन से बचना इत्यादि धर्माचरण द्वारा अभ्युदय एवं निःश्रेयस रूप ऐहलौकिक पारलौकिक सुख प्राप्ति का आश्वासन देता है। (४) साथ ही, अधर्माचरण करने वालों को इस लोक में भी नाना प्रकार का दुःख दारिद्र्य तथा मृत्यु के पश्चात् परलोक में नरक निगोदादि के अनिर्वचनीय भयङ्कर दुःखों का भय दिखाता है। इतना ही नहीं धर्म मनुष्य में आत्मा की सत्ता एवं शक्ति के प्रति विश्वास उत्पन्न करता है। उसकी आत्म जागृति कर देता है। इसप्रकार जो मनुष्य स्वभाव से ही अथवा कुल जाति आदि के संस्कार वश भी धार्मिक नहीं होते उनकी प्रवृत्ति भी धर्मोपदेशादि द्वारा धार्मिक हो जाती है। अतः धर्मोपदेशित आचार के पालन एवं देवपूजा गुरूपास्ति, स्वाध्याय संयम तप दानादि धर्मकार्यों को भी वह आवश्यक और अपना परम कर्तव्य समझने लगता है। धार्मिक क्रियायें भी उसकी दैनिक सांसारिक क्रियाओं का अङ्ग बन जाती हैं। यही उसका धर्म पुरुषार्थ है।

उपर्युक्त पुरुषार्थ त्रय की सिद्धि के लिये उपयुक्त साधन जुटाने में मनुष्य के आध्यात्मिक मानसिक शारीरिक आर्थिक उत्कर्ष के लिये आवश्यक सुशासन न्याय शिक्षा विचार और कार्यस्वातन्त्र्य भेदभाव रहित समभाव से गुणों का आदर इत्यादि ये सब ही बातें आजाती हैं जो आज का कोई भी सभ्य से सभ्य प्रजाजन अपने शासक वर्ग से चाहे वह राजतन्त्र हो या जनतन्त्र डिक्टेटरशिप हो या समूह शासन चाह सकता है अथवा चाहता है। और जैन राजनीतिज्ञ सोम देव सूरि के राज्य का आदर्श यही राज्य है जो धर्म अर्थ काम रूप त्रिवर्ग की सिद्धि और उनके सामञ्जस्य से उद्भूत पूर्ण फल प्रजाजनों को प्राप्त करा सके। उनके अनुसार, धर्म और सदाचार सुख सम्पत्ति एवं सर्व प्रकारकी सफलता का आधार तथा जनक राज्य है। राज्य का यह कर्तव्य है कि वह ऐसी परिस्थितियें उत्पन्न करदे ऐसा वातावरण बनादे और ऐसे साधन जुटादे कि प्रजाजन बाह्य शत्रुओं तथा आन्तरिक अपराध प्रवृत्त दुष्टों से निर्भय निश्चिन्त होकर अपने आप को पूर्ण तथा सुरक्षित अनुभव करें अपनी अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार लौकिक एवं पारलौकिक उत्कर्ष अधिक से अधिक साधन कर सकें सब प्रकार सुखी हो सकें। उसी के एवज में वे भी अपने गाढ़े पसीने की कमाई का छटा भाग करस्वरूप में राज्य को देते हैं (५) उसके विधानानुसार न्याय्य आचरण करते हैं उसकी व्यवस्थाओं को स्वीकार करते हैं सब प्रकार राज्य भक्त रहने का प्रयत्न करते हैं।

गत शताब्दी में जर्मनी के राजनीतिक दार्शनिक हेगल ने राज्य की एक सर्वोपरि संस्था प्रतिपादन की थी। उसके अनुसार राष्ट्र अथवा समस्त संस्थाओं की समष्टि है इन सबसे ऊपर है राष्ट्र में ही मानवीय जीवन की पूर्णता परिलक्षित होती है राष्ट्र का अङ्ग होने में ही व्यक्ति की सार्थकता है अतः राष्ट्र प्रधान और व्यक्ति

(४) यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः —नी वा सू ८

पीछे। इस क्रान्तिकारी सिद्धान्त का पाश्चात्य संसार पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि प्रायः सब ही आधुनिक राष्ट्रों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में इस राष्ट्रीय आदर्शवाद को अपना लिया, और यह वर्तमान युग एक राजनैतिक आविष्कार कहलाता है। किन्तु हेगेल से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व एक जैन राजनीतिज्ञ ने इसी सिद्धान्त की कितनी स्पष्ट व्याख्या की थी और तत्कालीन राज्यों के ऊपर भी उसका क्या कुछ प्रभाव नहीं पड़ा था !

राजा के गुणों और कर्तव्यों की व्याख्या करते हुए आचार्य सोमदेव यहाँ तक कह गये कि यदि कोई राजा मूर्ख या दुराचारी है तो ऐसे राजा के राज्य की अपेक्षा अराजकता कहीं अधिक श्रेयस्कर है। (६) वह कहते हैं कि एक दुराचारी हुए राजा के राज्य में रहना जितना भयङ्कर है इतना भयङ्कर संसार में अन्य कोई कार्य नहीं। कितना क्रांतिकारी सिद्धान्त है। किसी अन्य भारतीय नीतिकार का साहस अराजकता की प्रशंसा करने का नहीं हुआ सबही ने एक मत से अराजकता का घोर विरोध किया। सोमदेव ने इस सिद्धान्त द्वारा परोक्ष रूप से अत्याचारी राजा को राज्यच्युत तक करदेने तक का उपदेश देदिया। उस समय पाश्चात्य देशों की भाँति भारतवर्ष में भी 'राजा के दैवी अधिकार' का सिद्धान्त जड़ जमाये हुए था। इस विचारधारा ने उस सिद्धान्त की जड़ में कुठाराघात किया। जो कमी थी उसकी पूर्ति उनके एक दूसरे सिद्धान्त ने करदी कि यदि राज्य का वास्तविक उत्तराधिकारी मूर्ख और अयोग्य हो तो उसके स्थान में वह पद किसी अन्य योग्य व्यक्ति को दिया जाय चाहे वह व्यक्ति उत्तराधिकार के नियम की दृष्टि से उक्त पद का अधिकारी न भी हो। (७)

वास्तव में इन जैन राजनीतिकारों का उद्देश्य तो राज्य को एक सर्वरूपेण सच्चे सुराज्य के रूप में देखने का था। इस आदर्श की प्राप्ति में यदि कोई परम्परागत प्रथा अथवा रूढ़ि बाधक हो तो उसकी अवहेलना करने में उन्हें कोई संकोच न था। राज्य अपने प्रधान अङ्ग, प्रजाजनों को धर्म अर्थ काम रूप फल त्रय की यथा शक्य पूर्ण सिद्धि करानेवाला होना ही चाहिये और तद्रूप ही उसका कार्यक्रम होना आवश्यक है। इसी दृष्टि से राजा का राजकुमारों शिक्षकों उसके मंत्रियों अमात्यों कर्मचारियों तथा अन्य राजपुरुषों का चुनाव होना चाहिये। इसी उद्देश्य से उपयुक्त राजकीय संस्थाओं का निर्माण होना चाहिये।

अस्तु जैनसिद्धान्तों के अनुसार राज्य का आदर्श प्रजा जन की दृष्टि से एक अच्छा सुराज्य था उसका रूप चाहे कुछ भी रहे इससे उन्हें विशेष प्रयोजन न था।

---

(५) "परिपालको हि राजा सर्वेषां धर्म षष्ठांशम् आप्नोति"–नी० वा० पृ० ८८

(६) "वरमराजकम् भुवनं न तु मूर्खो राजा"–नी० वा० पृ० ९१
तथा-"न दुर्विनीताद्राज्ञः प्रजानां विनाशादपरोऽस्त्युत्पातः" पृ० ९०

(७) "कर्मसु कृतं राज्यमिव सुखमपि राजपुत्रं न भावक पदाधामनन्ति साधवः" ।
नी० वा० पृ० ९१

जैन धर्म का सार्वभौमित्व

लेखक—५० अजितप्रसादजी जैन, एम ए एल-एल बी
रिटायर्ड जज बीकानेर हाईकोर्ट, लखनऊ

धर्म के शब्दकोप में अनेक अर्थ मिलते हैं। इसके अतिरिक्त उसके पारिभाषिक अर्थ भी हैं। धर्म शब्द का प्रयोग हर एक देश काल में समय समय पर होता रहा है और स्थानीय तथा सामयिक परिस्थिति के अनुसार उसका अर्थ भी बदलता रहा है और उस अर्थ में ऐसा गहरा उलट-फेर रहा है कि पाप-पुण्य भलाई-बुराई नेकी-बदी का भेद ही मिटता जाता मालूम पड़ता है। जिस काम को कुछ लोग पुण्य कहते हैं उसी काम को दूसरे पाप कहते हैं।

जेरोसलम तीर्थ क्षेत्र पर अधिकार जमाने के लिये जो पारस्परिक युद्ध मुसलमान और क्रिस्तान जातियों ने ११वीं शताब्दी में किये उन में मौलवियों ने मुसलमान राजा को और पोप तथा पादरियों ने क्रिस्तान नरेन्द्रों को प्रोत्साहन और आशीर्वाद दिया—और उस घोर नरसंहार को जिहाद और क्रुसेड के नाम से धर्म कर्तव्य का रूप दे दिया। मुस्लिम धर्म के संस्थापक मोहम्मद साहेब ने और उन के पीछे होने वाले खलीफाओं ने जो भमाम किये वह धर्मार्थ पुण्य कार्य समझे गए। युरोप में जितने भी पारस्परिक युद्ध क्रिस्तान और मुसलमान अधिपतियों में हुए उन सब में एक ही धर्म के अनुगामी एक ही खुदा से एक दूसरे के सर्वनाश की प्रार्थना करते थे। वैदिक पशु संहार अजमेध अश्वमेध गोमेध नरमेध हिन्दुओं में, तथा भेड़ बकरा ऊँट गौ को हलाल करके कुर्बानी अर्थात छुरी से गर्दन रगड़ रगड़ कर काट डालना मुसलमानों में पुण्य कर्म कहा गया है। यहाँ तक कि नरमेध भी उसी श्रेणी में सम्मिलित कर दिया गया। हजरत इब्राहीम ने अपने पुत्र इसहाक को खुदा के लिये कुरबान करदेने को छुरी उठाली मगर खुदा ने एक भेड़ा सहसा भेज दिया और उस की कुरबानी करदी गई। इस प्रकार पशु-पक्षी मनुष्य संहार तक को भी पुण्य कर्म बतलाया गया है। मधु माँस मदिरा की तो परवानगी धर्मशास्त्रों में स्पष्ट शब्दों में दे रखी है। अन्य दुष्कर्म भी ऋषि महर्षि ईश्वरावतारों ने पुराणों के कथनानुसार किये हैं, और उस कृत्य को कहीं भी कुकर्म नहीं कहा गया, और न ऐसे कर्म करने वालों को अधोगति प्राप्त होना लिखा है, बल्कि उन को ऐसे पाप कर्म करने पर भी सद्गति मोक्ष प्राप्ति ही बतलाया है।

श्री समन्त भद्राचार्य ने धर्म का व्यापक तथा संक्षिप्त लक्षण "या धरत्युत्तमे सुखे" कहकर बतलादिया है।

एक विचारक कवि ने फारसी भाषा में कहा है, "बहिश्त आँजा कि आजारे न बाशद" स्वर्ग उस स्थान को कहते हैं जहाँ किसी प्रकार का दुःख न हो।

धर्म का अस्तित्व सर्व विदित तथा सरल स्पष्ट पद्यरूप इस प्रकार भी है—

'धर्म करत संसार सुख, धर्म करत निर्वाण

अतः धर्म प्रत्येक प्राणी का कर्तव्य है, यह करने की चीज़ है, जीवन का उद्देश्य है, सुबह शाम रात दिन हर समय सर्वदा धर्मपूर्वक आचार-विचार ही प्रत्येक देहधारी जीवात्मा का ध्येय होना चाहिये और उसी दिशा में हर किसी को सतत प्रयत्नशील रहना उचित है। उसमें आनन्द है कष्ट नहीं।

अब विचारना यह है कि संसार सुख क्या है? सर्व प्रथम दो चीज़ें हैं= स्वास्थ्य और दारिद्र्याभाव। उस्ताद गालिबने भी कहा है- तन्दुरुस्ती अगर न हो गालिब तन्दुरुस्ती हजार नेआमत है। यह दोनों बातें धर्म साधन से सहज ही प्राप्त होती हैं। सामान्यतया मनुष्य पशु पक्षी आदि सब ही प्राणियों को जन्म से स्वस्थ शरीर प्राप्त होता है। पशु पक्षी आदि प्रायः अपनी जिन्दगी भर स्वस्थ शरीर रहते हैं, बीमार नहीं होते। यदि कभी रोगग्रस्त होते हैं तो उस का कारण प्रायः मनुष्य की निर्दयता अत्याचार या कोई आकस्मिक दुर्घटना होती है। वह प्राकृतिक नियमों का पालन करते हैं आहार-विहार में अनाचार नहीं करते। मनुष्य रोग को अपने दुर्व्यवहार से असंयम से अनियमित आचार विचार से, आमंत्रित करता है और बीमार पड़ जाने पर औषधि द्वारा रोग को दूर करने का प्रयत्न करता है या शरीर के विकृत अंग को कटवा या चिरवा देता है। किन्तु अपनी कुटेवों को बुरी आदतों को अत्याहारी को आहार विहार आचार की अनियमितता को नहीं छोड़ता। प्रायः मनुष्य समाज की देखादेखी काम करता है। आसपास के मिलने जुलने वाले जो कुछ करें वह ही करने लगता है। फैशन का गुलाम कुरीतियों का बन्दी बुरे रस्म रिवाज का पाबंद होजाता है। स्वतः अपनी विचार शक्ति अपने विवेक अपने ज्ञान को तिलांजलि देदेता है। यदि यह समझा जाय कि अमुक रीतिरिवाज अनुचित हानिकर, त्याज्य है तो कह उठता है 'लोग बुरा समझेंगे बुरा कहेंगे समाज बहिष्कार करदेगा। इस प्रकार लोकापवाद का भय बुरा है हानिकर है आत्मघातक है। दूसरा और विचारना यह है कि उचित बात हितकर अथवा क्या है? जब हितकर, श्रेयस कर्तव्य का पता चल जाय दृढ़ श्रद्धान होजाये उसको जैन धर्म में सम्यग्दर्शन कहा है। सांसारिक बातों में और आध्यात्मिक सम्बंध में हर स्थान पर हर परिस्थिति में दृढ़ श्रद्धान सम्यग्ज्ञान अर्थात् उस श्रद्धान के समर्थन में युक्तियों को जानना, और फिर उस श्रद्धान पर पूरा अमल अर्थात् आचरण सम्यक् चारित्र है। इन तीनों का एक साथ होना जीवन की सफलता की कुंजी है मार्ग प्रदर्शक है मार्ग है सीधा रास्ता है, तथा अब सांसारिक जीवन मार्ग पर फिर विचार कीजिये। एक कहावत है "जल्दी सोना

जल्दी जागो सुख सम्पत्ति सम्पन्न रहो' धर्म ग्रन्थों में सूर्योदय से पहले, ब्रह्ममुहूर्त में उठ बैठना, ध्यान सामायिक, जप योगासन करने का उपदेश दिया है किन्तु आजकल सिनेमा,देखना गाना-बजाना आदि में व्यस्त रहकर आधी रात पीछे सोना और ८-९ बजे दिन चढ़े सोकर उठना फैशन में शामिल है। रियासत का तरीका अमीरी का ढंग है।

भोजन के सम्बन्ध में धर्माचार्यों का वचन है कि मिताहारी होना मनुष्य का कर्तव्य है भोज्यपदार्थ हानिकर न हों और भोजन दिन में ही कर लिया जाय मगर फैशन का हुक्म है कि खाना बार बार हो भोजन में नाना प्रकार के व्यंजन बनें जो मसालेदार, चटपटे दिखावटी भड़कीले हों। भोजन चटनी और शराब के साथ अति अधिक मात्रा में खाया जाय। यही बिमारी और देश की दरिद्रता का कारण है इसी का परिणाम है कि भारतीय जनता भूखी आधे पेट, चौथाई पेट खाकर गुजर करती है और शक्तिहीन होती जाती है और धनिक वर्ग औषधियों के जोर से शरीर को बनाए रखते हैं। योरोपीय युद्ध के कारण भारत का अनाज और अन्य सब काम की वस्तु रेल की पटरियां तक उखाड़ कर विदेशों में भेज दी गई बंगाल में सरकारी गोदामों में अनाज गलता सड़ता रहा, मगर ३०-४० लाख आदमी भूख से मर गए, और अमीर, रईस सेठ साहुकार, अफसर, अधिकारी वर्ग पार्टियाँ खाखाकर बीमार पड़ते रहे। महात्मा गांधी ने कहा है कि यदि लोग अपनी व्यर्थ व्यय की कुटेव को छोड़दें तो जनता को कुछ थोड़ा सा आराम मिल जाय। धर्म गुरुओं ने तो अल्पाहार और परिग्रह परिमाण गृहस्थ ब्रह्मचारी साधु सब के लिये आवश्यकीय बतलाया है।

श्रावकाचार में सब प्रथम मूल गुण का ग्रहण करने ही का उपदेश दिया है जिसमें हिंसा असत्य चोरी परस्त्री परिग्रह की अधिकता का त्याग करना जरूरी है। यदि जैन मात्र पंच अणुव्रत धारी हो जायें जो कि बहुत ही सरल सीधी आसान बात है तो संसार का महान् उपकार होनेकी अच्छी सम्भावना है। त्याग में भी आनन्द का अनुभव होता है। त्याग सुखप्रद है कष्ट साध्य नहीं। त्याग हानिकर वस्तु का कराया गया है इस अज्ञान के कारण ही लोग त्याग करना कठिन समझते हैं। छोटे बच्चे में ज्ञान का प्रकाश न्यून मात्रा में होता है, वह अनादि मिथ्या संस्कारवश प्रत्येक पदार्थ को अपनाना चाहता है। वह छूरा चाकू पिन कील कांटा कुछ भी हो उस को मुंह में करके पेट में रख लेना चाहता है। वह सांप को भी पकड़ लेगा अग्नि शिखा पर हाथ मारेगा जलता कोयला उठालेगा चाकू कैंची से अपना शरीर काट लेगा। जब उस को इन हानिकर पदार्थों का अनुभव होने लगता है। तब वह उन का ग्रहण करना त्याग देता है। फिर उसे मिट्टी लकड़ी आदि के खिलौनों का शौक हो जाता है। पैसा या पैसे की चीज से पैसे का प्रेम मन में बढ़ना लगता है विशेष अनुभव होने पर वह लकड़ी मिट्टी के खिलौने छोड़ कर वास्तविक काम काज की चीजें लेना चाहता है। वास्तविक मोटर

कार, रेलगाड़ी हवाई जहाज जैसे यंत्र से चलने वाले खिलौने चाहता है। कुछ अधिक बड़ा होजाने पर ज्ञान अनुभव का अधिक प्रकाश होने पर, खिलौनों का भी त्याग कर देता है फिर असली घोड़ा गाड़ी बाइसिकिल मोटरगाड़ी आदि की इच्छा करने लगता है। जब ज्ञानोपार्जन में लिखने पढ़ने में मन लग जाता है तब तो परीक्षा में सफलता पारितोषिक छात्रवृत्ति प्राप्त करने का व्यसन पड़ जाता है और खेल कूद सब भूल जाता है। तपस्वी ब्रह्मचारी रूप त्यागवृत्ति अंगीकार करके विद्योपार्जन में मस्त हो जाता है। इसी प्रकार जितना जितना ज्ञान का आधिक्य होता जाता है उतना उतना हेय पदार्थों का त्याग बढ़ता जाता है। शारीरिक शक्ति वृद्धि का अनुभव हो जाना मनुष्य से कठिन व्यायाम आनन्द पूर्वक अहर्निश करा लेता है। अधिकार प्राप्ती विजय की कामना आधिपत्य का व्यसन मनुष्य को वीर बना देता है। वह परिश्रम आपत्ति वेदना कठिनाइ जानजोखों भय विघ्न बाधाओं को तुच्छ समझने लगता है। इस प्रकार सांसारिक बातों में भी त्याग में आनन्द सुख सम्पत्ति यश वैभव है। तरुण अवस्था में देश आगम दौलत इज्जत का त्याग कर कारागार में घोर परिषह सहकर तपस्या करके वीर जवाहर भारत का सरताज हो गया। हजारों की भीड़ उस के दर्शन करने और उसकी वीरवाणी श्रवण करने को उमड़ आती है। उसने निर्बल कायर शक्तिहीन भारत को बलिष्ट, शक्ति सम्पन्न बहादुर बना दिया। लाखों की भेट उस को अर्पण की जाती है मगर वह अपरिग्रही त्यागी उस भेट से राग नहीं करता। भेट किये हुए द्रव्य को निर्माल्य वस्तु की तरह हाथ से छूता तक नहीं, किसी न किसी प्रशस्त कार्य में लगा देता है। महात्मा गान्धी तो अपरिग्रह व्रत का साक्षात् उदाहरण हैं और इसी अपरिग्रह व्रत के परिणाम रूप भारतवासियों के वंदनीय और जगत के सम्माननीय युग प्रधान पुरुषोत्तम हो गए हैं। यह सब जैन धर्म के सिद्धान्तों पर एक अणुव्रत पर अमल करने का प्रभाव है। सांसारिक सुख ऐश्वर्य विभूति नश्वर है स्थायी नहीं है, और उस के साथ दुःख निराशा हानि हार गिरावट बराबर लगी हुइ है।

दुःख के सर्वथा सर्वदा अभाव को उत्तम सुख कहते हैं। यह परम उत्कृष्ट अमित शाश्वत स्वात्मस्थित सुख मोक्ष अवस्था में ही जीवात्मा को प्राप्त होता है। सर्व कर्म के समूल नाश से वहाँ क्षुधा तृषा निद्रा हास्य रति अरति शोक भय रोग जन्म जरा आदि कष्टों का अभाव होजाता है। सांसारिक विषय सुख बाधा-अन्तराय सहित पराश्रित भंगुर बंध कर्मबन्ध का हेतु होने से सुखाभास है। सुख नहीं है। वास्तविक पूर्ण नित्य शाश्वत सुख का अनुमान छद्मस्थ प्राणी कर ही नहीं सकता। वह सुख अतीन्द्रिय है। आत्मा का निज स्वभाव है।

उस सुख की प्राप्ति का उपाय यति धर्म साधन है राग द्वेष कषाय इन्द्रिय मन पर विजयी होकर पूर्ण तपश्चरण परिषह जय करना है। उस में आनन्द

आता है कर्मों के उपशम और क्षय से जो अनन्त शक्तियों का प्रकाश होता है, वह अनुपम अमेय आनन्द है। वह उस आनंद से अनंत गुण है जिसकी कल्पना सर्व शक्तिमान ईश्वर परमेश्वर जगत निर्माता विश्व रक्षक सर्व, संहार-कर्ता ब्रह्मा विष्णु महेश में ईश्वरवादियों ने की है।

जैन धर्माचार्यों ने संसार सुख तथा मोक्ष सुख की प्राप्ति के लिये सरल सीधे सुगम मार्ग बतला दिखला दिया है। अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्येक मनुष्य बाल जवान बूढ़ा तन्दुरुस्त बीमार, गरीब अमीर, नीच उच्च गोत्र या जाति के सब मनुष्य हर परिस्थिति में धर्म पालन कर सकते हैं। जैन धर्म का दरवाजा हर व्यक्ति के लिए खुला है।

प्रसिद्ध वक्ता पंडित मुनि श्री चौथमलजी के कथनानुसार जैन धर्म सेवन से कोई भी बहिष्कृत या वंचित नहीं हो सकता। पापी दया का पात्र है घृणा का पात्र नहीं। जैन धर्मानुयायी को पाप से घृणा रहती है पापी से नहीं।

यदि जैन धर्म का प्रचार ठीक तरीके से किया जावे यदि जैन पंडित ब्रह्मचारी मुनि मन वचन काय से आगमानुसार प्रवृत्ति करें, तो संसार का परम उपकार हो देश का उद्धार हो, पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति हो भारत स्वाधीन हो जाय, अन्य देशों को भी स्वाधीनता प्राप्त हो, जगत्व्यापी शान्ति का प्रसार हो, मार काट लड़ाई झगड़े युद्ध आक्रमण गोली-बारूद बम वर्षा मनुष्य हिंसा, नगरों को गिराना जलाना नाश करना लूट लेना नागरिकों को दासत्व में जकड़ना सब अत्याचारों, दुष्कर्मों का मूलोच्छेद हो जाय।

ऐसे शान्ति युग को फैलाने के लिए भगवान महावीर के सच्चे पक्के अनुयायियों को अपना दैनिक कार्य क्रम अपना बर्ताव अपना जीवनोद्देश्य निम्न प्रकार शीघ्रातिशीघ्र कर डालना आवश्यक है।

(१) श्वेताम्बर दिगम्बर स्थानकवासी तेरापंथी तारणपंथी आदि आम्नाय भेद गौण कर देना। वीर भगवान कथित अहिंसा आदि पांच व्रतों का प्रचार, कर्म सिद्धान्त का विश्लेषण उसकी शिक्षा और अनेकान्त स्याद्वाद मत हर काम में हर समय व्यवहृत करते रहना। हर बात में यदि वह जानबूझ कर धोखा देने ठगने नीच स्वार्थ साधनार्थ नहीं कही गई है तो आंशिक कथंचित् सत्य अवश्य है। इस का सदा ध्यान रखना और बर्ताव करना। 'माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ' पर अमल करना।

(२) शास्त्र भण्डारों की सूची तय्यार करना और धर्म ग्रन्थों को वेष्टन आदि से सुसज्जित रखना।

(३) आम्नाय भेद को गौण करके धार्मिक उत्सव मिलकर करना।

(४) पारस्परिक सामाजिक भेद मिटाकर संबन्ध प्रीतिभोज बढ़ाना।

(५) सामाजिक धार्मिक औद्योगिक शिक्षण आदि संस्थाओं में मिल जुल कर काम करना।

(६) वैयक्तिक जीवन में शक्यतः पंच अणुव्रत धारण करना सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा माध्यस्थ भावं विपरीत-वृत्तौ के साथ इस प्रकार की मनोवृत्ति वचनवृत्ति तथा कार्य में सदैव बरतना।

(७) जैन धर्म को रोजगार व्यापार न बनाना। पण्डिताई अर्थात् पूजा प्रतिष्ठा गृहस्थाचार्य का काम उसके उपलक्ष में धन वस्त्र सोना चांदी आदि रूप शुल्क न लेना।

(८) सामाजिक व्यर्थव्यय वृद्ध विवाह अनमेल विवाह आदि कुप्रथा बन्द कराना।

(९) विद्यालय गुरुकुल उद्योगशाला व्यायामशाला वाचनालय चिकित्सालय अनाथाश्रय आदि संस्था स्थापित करना तथा जो स्थापित हैं उनका सुप्रबन्ध करना।

(१०) राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित होना।

(११) समाचार पत्रों की सुव्यवस्था।

—oXo—

अछूतों के सम्बन्ध में महावीर के विचार

ले० साहित्यरत्न प० बसन्तकुमार जैन न्यायतीर्थ, जैन० सि० शास्त्री

जिस प्रकार एक विशाल भवन का टिकाव उसकी नींव पर निर्धारित है वृक्ष की स्थिति उसके मूल की दृढ़ता पर निर्भर है उसी प्रकार धर्म की गति और स्थिति भी उसके सार्वभौम सिद्धान्तों के आधार पर ही रही हुई है। संसार का कोई भी पंथ संप्रदाय या धर्म अपना अस्तित्व अपने उदारतापूर्ण विशाल मौलिक सिद्धान्तों और उसूलों पर ही कायम रखकर सर्वत्र अपना प्रभुत्व अंकित करता है। यही बात जैनधर्म और भगवान महावीर के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

जैन शास्त्रों की ओर यदि हम निष्पक्ष होकर गंभीरतापूर्वक अवलोकन करेंगे तो स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि महावीर और उनके सिद्धान्त न केवल मानव समाज के हितैषी ही हैं अपितु प्राणिमात्र के हितचिन्तक भी हैं। जिनका सिद्धान्त जगत् के समस्त चराचर प्राणियों के लिए हितकारी है और जिनका व्यवहार सबके प्रति

उदारतापूर्ण, प्रेमपूरित और अनुग्रह-भाव-प्रधान है वे यदि मानव समाज के भी कल्याणेच्छु होंतो यह स्वाभाविक ही है।

जो व्यक्ति अखिल मानव समाज के हित को ध्यान में रखकर अपने सिद्धान्तों का आदर्श संसार के सम्मुख रखता है उसके राग और द्वेष भाव का द्योतक छूत और अछूत का प्रश्न उपस्थित ही कैसे हो सकता है? महावीर ने तो स्पष्ट शब्दों में आत्मा को पतित करने वाले कर्म शत्रुओं को अछूत और आत्मा के स्वरूप को प्राप्त कराने वाले गुणों को ही छूत बतलाया है। अष्टादश पापस्थान और अष्टकर्म पुद्गल रूप अछूतों के स्पर्श से ही आत्मा मलीन और अधःपतन की ओर झुकती है। ज्योंही इनका स्पर्श दूर हुआ कि आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। जिस प्रकार शक्कर और गुड़ का स्वाद बिना किसी भेद भाव के सबको ही मीठा लगता है उसी प्रकार भक्ति और धर्म में भी कुल एवं जाति विशेष का तारतम्य मानना आवश्यक नहीं है। *छुआछूत का संबंध धर्म के साथ नहीं है किंतु* कर्तव्य विशेष के आधार पर ही है। यही बात जयघोष मुनि विजय घोष ब्राह्मण को ब्राह्मणत्व आदि चातुर्वर्ण व्यवस्था का यथावत् स्वरूप समझाते हुए उत्तराध्ययन सूत्र के अध्याय २५ गाथा ३३ में कहते हैं कि —

कम्मुणा बंमणो होइ कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वेसिओ होइ कम्मुणा होइ सुद्दओ॥

अर्थात्— वर्ण व्यवस्था और छुआछूत को जातीयता से संबंधित बतलाना विचारशून्यता ही कही जा सकती है। वास्तव में ब्राह्मणत्व के योग्य पवित्र आदर्श और उत्तम कार्य करने से ही ब्राह्मण क्षत्रिय के योग्य दीन हीन अनाथों की रक्षा और उनके दुःखों को दूर करने से ही क्षत्रिय निष्कपट वृत्तिपूर्वक वाणिज्यादि व्यवसाय करने से ही वैश्य और घृणित निन्दित तथा उपालंभ पूर्ण कर्तव्य के करने से ही शूद्र कहा जा सकता है।

महावीर के इन उदात्त पूर्ण विचारों के आधार पर उनकी मानव समाज के प्रति कल्याण भावना का अनुमान लगाया जा सकता है। इतना ही नहीं उन्होंने अपने इन विचारों को विशेष स्पष्ट करने के लिये इसी अध्ययन में और भी कहा है कि—

न वि मुंडिएण समणो न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रण्ण वासेण, कुस चीरेण न तावसो॥

अर्थात्—केवल मस्तक को मुंडवा लेने (लोच करने) से ही श्रमण (साधु) नहीं हो सकता है और न केवल ॐ ॐ इस प्रकार तोता रटन्त करने से ही ब्राह्मण। दुर्भावनाओं पर विजय प्राप्त किये बिना केवल वन में रहने से ही कोई मुनि पदका अधिकारी नहीं हो जाता है और न वल्कलादि के वस्त्र धारण से ही तपस्वी हो

सकता है इससे स्पष्ट लक्षित होता है कि भगवान् महावीर गुण (भाव) विहीन थोथी क्रियाओं के पक्षपाती न थे और न गुणहीन कर्तव्यों को ही महत्व देते थे। सर्वत्र गुणसम्पन्न क्रियाओं का ही उन्होंने सम्मान किया है और भाव हीन द्रव्य को "अनुयोगद्वार-सूत्र" में जगह २ शून्यरूप बतलाया है। उपरोक्त गाथा से भी यही प्रमाणित होता है कि यद्यपि वर्ण व्यवस्था कर्तव्यों के आधार पर है किंतु फिर भी भावों की विशुद्धि और त्रिगुण वृत्ति आवश्यक है।

वास्तव में छूताछूत का प्रश्न जातीयमद से उन्मत्त बने हुए व्यक्तियों का प्रचार मात्र ही कहा जा सकता है। महान् पुरुषों ने तो कभी अपने जीवन में इन तुच्छ विचारों को स्थान नहीं दिया है। व्यवहार व धार्मिक दृष्टि से भी इसी मान्यता की पुष्टि हो जाती है कि जो अपने को उच्च कहता है वही यदि नीच कर्म करने लगेगा तो उसकी सारी उच्चता नष्ट होकर मात्र दृष्टि से देखा जाने लगेगा। इससे स्पष्ट है कि कर्तव्य की प्रधानता ही उच्चत्व नीचत्व और छूताछूत की भावनाएं पैदा करती है। भगवान् के हृदय में तो जो हित भावना छूत व्यक्तियों के लिये थी वही भावनाएं अछूतों के लिये भी अन्ततक रही है। अपने इसी कथन की पुष्टि में "आचारांग-सूत्र" अध्याय २ उद्देश ६ का निम्न पंक्ति ही पर्याप्त होगी:—

जहा तुच्छस्स कत्थइ तहा पुण्णस्स कत्थइ ॥

अर्थात्— उत्तम पुरुष मार्ग की प्ररूपणा जिस प्रकार पूर्ण व्यक्तियों के समक्ष करते हैं इसी प्रकार तुच्छ कहलाने वाले व्यक्तियों के समक्ष भी करते हैं। उसका आशय यह नहीं है कि भगवान और संयमी पुरुष मोक्ष प्राप्ति का उत्तम मार्ग जैसा राजाओं को वैसा ही प्रजा को, जैसा गरीबों को वैसाही अमीरोंको और जिस प्रकार स्वामियों को इसी प्रकार अछूत कुटियालों को भी बतलाते हैं।

जैसे चंदन अपनी सुगंध को सूर्य अपने प्रकाश को पुष्प अपनी महकको बिना किसी शत्रुमित्र का भेदभाव साथ ही समाज में फैलाता है उसीतरह भगवान महावीर ने भी अपने सिद्धान्तों का स्याद्वाद आदि रत्न लूटने के लिए मानव समाज का एक समान भाव से हक दिया है फिर चाहे कोई अपनी शक्ति विशेष से न्यूनाधिक रत्न लूटे या खाली लौट आय

महावीर के विचार छूत अछूत के सम्बन्ध में एक ही समान थे इस कथन की पुष्टि "आचारांग-सूत्र" अध्याय २ उद्देश ३ से ही हो जाती है:—

"से असई उच्चा गोए असई नीया गोए नो हीणे नो अइरित्ते नो पीहए। इति संखाए के गोयावाई के माणावाई कंसि वा एग गिज्झे! तम्हा पंडिए नो कुप्पे"

अर्थात्—इस आत्मा ने अनेक बार उच्च गोत्र और नीच गोत्र को प्राप्त किया है इसलिये मनमें उच्चगोत्र और नीच गोत्र का हर्ष शोक न लावे अर्थात् न तो

अपने को हीन समझे और न उच्चता का अभिमान ही करे। इस प्रकार जो तत्व को समझ लेता है वह गोत्र का अभिमान कर ही कैसे सकता है ? इसवास्ते ज्ञानी पुरुषों को चाहिये कि उच्च गोत्र प्राप्त होने पर प्रसन्न न हों और नीच गोत्र प्राप्त होने पर क्रुद्ध भी न हो।

इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि महावीर के विचारों से कोई अछूत नहीं है और न आत्मा अछूत हो ही सकती है। क्रोध और नीच कर्मों का सपर्क ही मनुष्यों में घृणा भाव पैदा करता है और ज्यों ही इन दुर्भावों का नाश हो जाता त्योंही आत्मा प्रशंसनीय बन जाती है कहा है—

"घृणा पाप से हो पापी से कभी नहीं लवलेश ॥

भगवान महावीर के विचारों में यदि उदारता न होती और उन्होंने पूर्व अछूत के विवाद को अपने हृदय में स्थान न दिया होगा तो वे हरिकेशी मुनि जोकि चाण्डाल कुल में उत्पन्न हुए थे और मैतार्य मुनि-जो कि मेहतर वंशज थे- को शिक्षा (संयम) न देते और न उनकी प्रशंसा ही करते इसके विपरीत जगह २ पर हरिकेशी के आदर्श त्याग संयम और तपस्वर्या की प्रशंसा से उत्तराध्ययन-सूत्र का बारहवा अध्ययन भरा पड़ा है। भगवान् गुण ग्राहक गुण समर्थक को महत्व देते थे। इसीलिये तो जाति और कुल के मदसे उन्मत्त ब्राह्मणों ने जब मुनिका अपमान किया तब भी मुनि ने अपनी सहिष्णुता का परिचय देकर उनको ब्राह्मणत्व का कर्तव्य मार्ग समझाया उस समय हरिकेशी की प्रशंसा में कही गई इस गाथा से हमारे इस कथन की पुष्टि हो जाती है —

सक्खं खु दीसइ तवो विसेसो, न दीसइ जाइ विसेस कोइ ।
सोवाग पुत्त हरिएस साहू जस्सेरिसा इड्ढि महाणुभागा ॥

अर्थात्—साक्षात् तप की ही विशेषता दृष्टि गोचर हो रही है इसमें जाति की प्रधानता का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इस चाण्डाल कुल में उत्पन्न हरिकेशी मुनि का धन्य है कि जिसने इस प्रकार महान ऋद्धि समृद्धि और लब्धि का प्राप्त किया है।

आत्मीयता की प्रधानता का महत्व देने वाले व्यक्ति के ऐसे उदार विचार नहीं हो सकते हैं। ये विचार उन्हीं हृदयों में स्थान पा सकते हैं कि जिनकी आत्मा संकुचित न हो और सदा सम समान भावना से ओत प्रोत हो। इसके विपरीत हम राय प्रश्रेणी सूत्र में देखते हैं कि प्रदेशी राजा क्षत्रिय जैसे कुल में उत्पन्न होने पर भी जब तक उसमें हिंसादि क्रूर कामों का परित्याग नहीं किया था तब तक उस उसके कर्मों के आधार पर अछूत बतलाकर जगह २ पर उसके कर्मों को निन्दा के रूप में कठोर सम्बोधन किये हैं। उदाहरणार्थ—

तएणं अणयिवाए मयरिवे एगती णाम राया होत्था। अहम्मिए अहम्मिट्ठे अहम्माणुए अहम्मेण विसिं वत्थमाण चेव गए गुरु पहर्म्मगुणय पराण्णय

मिय पसुपक्खी सिरिसवाय वाए य यह य। अर्थात्—श्वेताम्बिका नगरी में प्रदेशी राजा राज्य करता था वह अधार्मिक अधर्म को ही उत्तम समझने वाला अधर्म मार्ग का अनुगामी पापकर्म से ही वृत्ति करने वाला प्रचंड स्वभावी रौद्रस्वरूपी क्षुद्र विचारी तथा अनेक द्विपद चतुष्पद मृग पशुपक्षी आदि का घातक और हिंसक था।

राजा के लिये दिये गये इन विशेषणों से ज्ञात होता है कि वास्तव में महावीर के विचार जातीय पक्षपात से पूर्ण न थे। वे स्पष्ट तौर से अनाचरणीय कर्तव्य करने वाले को अनार्य आदि शब्दों से सम्बोधन कर अपने हृद्गत विचारों का परिचय देते थे। इतना ही नहीं जब "प्रज्ञापना-सूत्र" का हम सिंहावलोकन करते हैं वहां भी मनुष्य के दो भेद उनके कर्तव्यों के अनुसार ही किये गये पाये जाते हैं यथा—

कम्म भूमगा मणुया दुविहा पण्णत्ता—आरिया अणारिया (मिलक्खू) अर्थात्—कर्म भूमि में उत्पन्न होनेवाले मनुष्य दो प्रकार के हैं—१ आर्य मनुष्य २ अनार्य (म्लेच्छ) मनुष्य। जो अहिंसा सत्यादि उत्तम संयम गुण सम्पन्न है वही आर्य पुरुष है और जिसमें हिंसादि क्रूर कर्म रहे हुए हैं वह अनार्य है। उल्लिखित शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर जैनधर्म में अछूतों के संबंध में भगवान् महावीर के विचारों का सांगोपांग आभास मिलही जाता है। भगवान ने उत्तम कार्य में प्रवृत होनेवाले को सर्वत्र हे अज्जो और हे देवाणुप्पिय" ऐसाही संबोधन किया है जिसका तात्पर्य होता है—हे देवानुप्रिय और हे आर्य पुरुषो ! इससे महावीर के हृदय की विशालता उनके सिद्धान्तों की गंभीरता और प्रति पादन शैली की अनुपमेता का सहसा अनुमान लगाया जासकता है।

जिसको संसार अछूत कहता है उनके संबंध में जिन बुद्धिमत्ता पूर्ण विचारों का परिचय महावीरने अपने शास्त्रों में दिया है उसका गंभीरता पूर्वक उल्लेख अन्यत्र दुर्लभ है। संभव है महात्मा बुद्ध और महात्मा गांधी परभी महावीर के इन विचारों का प्रभाव पड़ा हो और इसीलिये अपने कर्तव्य क्षेत्र में उन्होंने भी अछूतों का सहयोग प्राप्त कर कतिपयांश में कार्य में सफलता प्राप्त की हो।

महावीर का स्याद्वाद रूप सिद्धान्त समस्त मत भेदों को मिटाकर सर्वत्र एकता प्रस्थापित करने का ही था। ऐसी अवस्था में अछूतों के प्रति उनकी उपेक्षा वृत्ति या असहयोग वृत्ति कैसे हो सकती थी ? भले ही हम बल बुद्धि शक्ति और क्षेत्रादि की अपेक्षा मनुष्यों में व्यवहार दृष्टि से भिन्न भाव मानलें तथापि जहां धर्म भक्ति आराधना का प्रश्न उपस्थित होता है वहां प्रत्येक व्यक्ति को समान ही भाव मानना पड़ेगा। यदि उस हक में हम दस्तन्दाजी करते हैं तो हमारा यह परम अनधिकार चेष्टा रूपही कहा जा सकता है। इसी बात को भगवान महावीर ने शास्त्रों में स्थान २ पर स्पष्टतया प्रतिपादन किया है:—

ऊँचा उदार पावन सुख शांति पूर्ण प्यारा।
यह धर्म वृक्ष सब का निज का नहीं तुम्हारा॥
रोको न तुम किसी को छाया में बैठने दो।
कुल जाति कोई भी हो संताप मेटने दो॥

* * *

जाति पाति पूछे मत कोई प्रभु को भजे सो प्रभु का होई

* * *

जाति न पूछो साधु की पूछ लीजिये ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान॥

जैन संघ में नारी का स्थान

लेखक—गणावच्छेदक वक्ता पंडित मुनि श्री रामलालजी महाराज

आज के क्रान्तिकारी स्वातन्त्र्य युग में नारी की समस्या एक नये रूप में हमारे सामने उपस्थित है। नवयुग की क्रान्ति की लहर ने सोई हुई नारी जाति में जागृति का पवन फूँक दिया है। बीसवीं शताब्दी की नारी ने अपने समानाधिकार के प्रश्न को हमारे सामने रखा है। ऐसी स्थिति में नारी की प्रतिष्ठा और उसके अधिकारों के सम्बन्ध में सही दृष्टि बिन्दु से विचार करना आवश्यक है। यह देखना चाहिये कि समाज में नारी का क्या उपयुक्त स्थान है? प्राचीन काल में नारी की क्या प्रतिष्ठा थी मध्यकाल में उसको कैसा स्थान था और वर्तमान में क्या है?

सृष्टि-प्रवाह की ओर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि सृष्टि के दो पहलू हैं, नर और नारी। सृष्टि के ये दोनों पहलू समान हिस्सा हैं। पुराणों में अर्द्धनारीश्वर भगवान् की कल्पना की गई है। उसमें भगवान् की आकृति आधी नर जैसी और आधी नारी जैसी बताई गई है। अर्द्धनारीश्वर भगवान का वामभाग नारी-रूप है और दक्षिण भाग नर-रूप है। इस पर से यह समझा जा सकता है कि सृष्टि में नर और नारी का समान स्थान है समान अधिकार है और समान सम्मान प्रतिष्ठा है।

जिस प्रकार सिक्के (मुद्रा) की दोनों बाजुओं का समान महत्व है इसी तरह नर और नारी का महत्व भी समान है जैसे रथ की गति में उसके दोनों चक्र

समान रूप से उपयोगी हैं अतः इस सृष्टि के संचालन में नर और नारी का समान भाग है। नर और नारी एक-दूसरे के पूरक हैं। नर अकेला अपने आप में पूर्ण नहीं है इसी तरह नारी भी अकेली अपने आप में पूर्ण नहीं है। दोनों अलग २ अपूर्ण हैं परन्तु जब दोनों मिल जाते हैं तो उनमें सांसारिक पूर्णता आ जाती है। पुरुष में जो कमियां हैं उन्हें नारी पूर्ण करती है और नारी में जो त्रुटियां हैं उन्हें पुरुष पूर्ण करता है। इस तरह नर और नारी एक दूसरे के पूरक हैं। ऐसी स्थिति में कौन किससे कम हो सकता है और कौन किससे श्रेष्ठ होने का दावा कर सकता है ? वस्तुतः नर और-नारी—समकक्ष हैं।

भारतीय संस्कृति की गरिमा और उन्नति का बहुत कुछ आधार नारी-प्रतिष्ठा है। प्राचीन काल में नारी का स्थान बहुत ही ऊँचा था। आर्य जाति के सब श्रेष्ठ अभ्युदय का स्वर्णमय नारी प्रतिष्ठा का स्वर्ण युग था। प्राचीन आर्यों ने नारी के सम्मान में सर्वतोमुखी-समुन्नति के प्रयत्न किये थे तभी यह कहा गया कि—

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।

जहां नारी की प्रतिष्ठा है वहां देवता—दिव्य शक्ति सम्पन्न पुरुष रमण करते हैं।

वास्तव में नारी आदि शक्ति है जनसृष्टि की अनुगामी है और संसार का पालन करने वाली अन्नपूर्णा है। नारी "काली महाकाली" है साथ ही वह कल्याणी और ज्ञानदात्री है। नारी की कोमलता में कठोरता और कठोरता में कोमलता छिपी है। नारी दुनिया के भीषण मरुस्थल में कल कल निनाद करती हुई शीतल सुधामय जल प्रवाहित करती हुई परमपावनी सरिता है। वह संसार के उपवन का सर्वोत्तम सुगन्धित सुमन है। नारी तीर्थंकरों की जननी पैगम्बरों की प्रसविनी और अवतारों की माता है। नारी जगज्जननी और जगदम्बा है। नारी लक्ष्मी है सरस्वती है सिद्धि है और नवनिधियों की निधि है। इस भीषण और कठोर संसार में प्रेम वात्सल्य क्षमा सहनशीलता आदि सुकुमार भावों को प्रकट करने वाली नारी ही है। नारी की प्रतिष्ठा में संसार की प्रतिष्ठा है।

जो संस्कृति जो देश और जो समाज नारी की प्रतिष्ठा को अपरिक्षत बनाये रखता है उसकी प्रतिष्ठा भी अक्षुण्ण रह सकती है। जिसने नारी की प्रतिष्ठा का भंग करने का प्रयास किया वह भग्न हुए बिना न रहा। जबतक भारतवर्ष में नारी की प्रतिष्ठा अभग्न थी तबतक भारत सब तरह से समुन्नत था। रोम में भी जब तक नारी का सम्मान रहा वहां तक वह अपना सिर ऊंचा उठाए रहा। परन्तु जब रोम ने नारियों की अवगणना करना आरम्भ किया त्योंही शताब्दियों से उन्नत बना हुआ रोम पतन के गर्त में गिर पड़ा।

आदिकाल में स्त्रियों का स्थान पुरुषों से श्रेष्ठ था। जैन शास्त्रों में इस बात का उल्लेख है कि युग प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव ने अपने पुत्रों का जितना

अपनी पुत्रियों-ब्राह्मी और सुन्दरी-को प्रथम शिक्षण दिया था। इस बात पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है कि भगवान् ऋषभदेव ने ऐसा क्यों किया? विचारने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने समाज-व्यवस्था में स्त्रियों का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान आवश्यक समझा था। इसका कारण भी यह कि मानवता की अमरबेल (बालक) स्त्रियों के द्वारा ही सिञ्चित-पालित होकर फलती फूलती है। अविभाविका माताओं के सुशिक्षिता एवं सुसंस्कृता होने पर ही बालकों में अच्छा संस्कार उतर सकने की सम्भावना होती है। कूप में जल होने पर ही क्यारियों में वह पहुँचाया जा सकता है। कूप ही अगर खाली हो तो उससे क्यारियों को जल कैसे मिल सकता है? बालक जिन माताओं की गोद में पलते हैं वे ही माताएँ अगर सुशिक्षिता नहीं हैं तो बालकों में अच्छे संस्कार कहाँ से आ सकते हैं? बालकों के भावी जीवन का निर्माण करने वाली माता ही होती है। आर्ज वाशिंगटन इब्राहिमलिंकन नेपोलियन बोनापार्ट इत्यादि महापुरुषों में शक्ति कहाँ से आयी? कहना पड़ेगा कि यह शक्ति का स्रोत उन्हें अपनी माता द्वारा ही प्राप्त हुआ था। प्राचीन काल में आर्यावर्त महान् धुरन्धर विद्वान्, दिग्गज दार्शनिक, प्रकाण्ड राजनीति विशारद तत्त्ववेत्ता एवं महान तपस्वियों को जन्म दे सका है इसका श्रेय भी भारत की नारी पूजा को है। एक अंग्रेजी विद्वान ने नारी महत्ता के सम्बन्ध में यहां तक लिखा है कि

"The one that Shakes the cradle rules the World"

अर्थात् जो पालना झुलाती है वह दुनियाँ पर शासन भी करती है। सचमुच यह वाक्य लिखने वाला समाज शास्त्र का जबर्दस्त विद्वान् रहा होगा।

भारतीय सभ्यता के आदिकाल में नारी प्रतिष्ठा फलस्वरूप ही भारत उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ था। लेकिन बड़े दुःख का विषय है कि मध्यकाल में नारी की अवगणना होने लगी। वह समय आया जब पुरुष वर्ग ने नारी के अधिकारों का अपहरण किया और उन पर अपना आधिपत्य जमा लिया। स्त्रियों की स्वतन्त्रता का अपहरण हुआ और वे पुरुषों की दासियाँ समझी जाने लगीं। इस प्रकार नारी जाति की अवगणना हुई। ज्यों ज्यों नारी का आसन नीचे खिसकता गया त्यों त्यों आर्य जाति भी अवनति के गहरे गर्त की ओर अग्रसर होती गई। पुरुष वर्ग ने शक्ति की मूर्ति रूप नारियों को गुलाम बना कर "अबला" कह दी। नारी को अबला बनादेने पर पुरुष सबल कैसे रह सकते थे? भला "अबला" सबल को जन्म कैसे दे सकती है? फल यह हुआ कि नारीको अबला बनाने से पुरुष निर्बल होगये और सारी आर्य जाति कमजोर और पराधीन होगई। ज्योंही नारीकी स्वतन्त्रता छीनली गई त्योंही पुरुष भी दूसरों के गुलाम होगये। पुरुषों ने नारी को खिलौना बनाया तो वे भी दूसरों के खिलौने बन गये। नारी की अवज्ञा का परिणाम अबतक भारत गुलाम बनकर भोग रहा है।

मध्यकालीन युग में एक ऐसा अनिष्टकारी समय आया जब संसार के बहुत से देशों ने नारी के साथ अन्याय किया। धार्मिक क्षेत्र में भी नारी तिरस्कृत हुई। यह आध्यात्मिक उन्नति में बाधक ही नहीं लेकिन नरक का द्वार समझी जाने लगी। बड़े बड़े नीतिकार और पण्डितों ने यहां तक कह डाला कि "ये स्वभाव से ही अविश्वासिनी चरित्रहीन, अज्ञान एवं मूर्ख होती है। इन्हें सदा डण्डे के जोर से रखना चाहिए-ये कभी स्वतन्त्र न होने पावें। किसी ने कहा इन्हें ढोल की तरह पीटना चाहिए। किसीने कहा-ये मूर्तिमती दुर्बलता हैं। किसी ने कहा ऐसी कोई बुराई नहीं जो स्त्रियां न कर सकती हों। किसी ने कहा ये सदा अशुद्ध होती हैं हैं अतएव इन्हें शास्त्र पढ़ने का हक नहीं है। "स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्" का सिद्धान्त निकल पड़ा। पुरुषोंने अपने आपको उनका स्वामी मानलिया और "न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति" कह कर उनके सब अधिकारों को छीनकर उन्हें कड़े पहरे में कैद कर लिया। यह अवस्था यह युग पुरुष वर्ग के लिए घोर कलंक का युग है। पुरुष की स्वार्थ परता ने नारी जाति पर भयंकर अत्याचार किये। फल यह हुआ कि भारत सब तरह से गारत हो गया।

उक्त प्रास्ताविक विवेचन के बाद हम इस बात पर आते हैं कि जैन संघ में नारी का क्या स्थान है? जैन धर्म नारी को क्या अधिकार देता है?

जैन संघ में नारी को पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त हैं। जैन धर्म ने स्त्री को पुरुष के बराबर योग्य मानकर उसे कैवल्य व मोक्ष की अथात् शारीरिक और आध्यात्मिक पूर्ण विकास की अधिकारिणी सिद्ध किया है। नारी जब सब श्रेष्ठ-चरम एवं परम पुरुषार्थ मोक्ष की अधिकारिणी मान ली गई है तो उसे अन्य सब अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने अपने संघ में नारी को भी स्थान दिया है। इतना ही नहीं उनके शासन में साधुओं की अपेक्षा साध्वियों की संख्या अधिक थी एवं है। गौतम बुद्ध ने अपने संघ में स्त्रियों को स्थान नहीं दिया था। प्रथम उन्होंने स्त्रीजाति का भिक्षु पद के लिए अयोग्य निर्धारित किया था परन्तु पश्चात् अपने प्रधान शिष्य "आनन्द" के आग्रह से भगवान् बुद्ध ने स्त्रियों को भिक्षु पद दिया। महावीर स्वामी ने तो प्रथम से ही उन्हें पुरुषों के समान भिक्षुपद की अधिकारिणी निश्चित किया था। प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव स्वामी ने ब्राह्मी सुन्दरी को प्रथम शिक्षा दी थी और उन्हें अपने संघ में स्थान दिया था। ये ही ब्राह्मी एवं सुन्दरी महासती अभिमान पर चढ़े हुए साधु बाहुबलि का शिक्षा देती है कि "वीरा मारा गज थकी उतरो गज चढ़यां केवल न होसीरे" ये साध्वियां अपने उपदेशों द्वारा बाहुबलि का अभिमान दूर करती हैं और इनके निमित्त से बाहुबलि केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं। मतलब यह है कि जैन संघ में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही आध्यात्मिक विकास करने का अधिकार है।

जैन संघ में इन महासतियों (साध्वियों) को इतना उच्च स्थान प्राप्त है कि प्रातः काल उठकर प्रत्येक जैन यह मंगलाचरण करता है कि—

ब्राह्मी चन्दन बालिका भगवती राजीमती द्रौपदी,
कौशल्या च मृगावती च सुलसा सीता सुभद्रा शिवा ।
कुन्ती शीलवती नलस्य दयिता चूला प्रभावत्यपि
पद्मा वत्यपि सुन्दरी दिनमुखे कुर्वन्तु नो मंगलम् ॥

इस श्लोक में परम पावनी कल्याणकारिणी सोलह महासाध्वियों का नाम निर्देश किया गया है । इन मंगलमूर्तियों से मंगल की प्रार्थना की गई है । प्रातःकाल नित्य स्मरण करते हुए इन पवित्र नारियों का कीर्तन किया जाता है इस पर से यह स्पष्ट होजाता है कि जैनसंघ में नारियों को कैसा उच्च गौरवपूर्ण स्थान दिया गया है ।

यद्यपि दिगम्बराचार्यों ने स्त्री प्रव्रज्या एवं स्त्रीमुक्ति का निषेध किया है तदपि श्वेताम्बराचार्यों ने उनका युक्तिपूर्ण सचोट खंडन किया है और यह सिद्ध करदिया कि स्त्रियों को भी मोक्ष प्राप्त होसकता है और वे प्रव्रज्या अङ्गीकार करके मोक्ष में जा सकती हैं । विचारने की बात है कि स्त्रियों में किस बात की कमी है जिससे वे पुरुषों के समान मोक्ष की अधिकारिणी नहीं होसकती ? स्त्रियों में कौनसी शक्ति नहीं है ? स्त्रियों में किस विषय की योग्यता नहीं है ? व्यवहार यह सिद्ध करता है कि यदि साधन और अवसर समान मिलें तो स्त्रियां भी पुरुषों के समान प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़सकती हैं । मातृजातिविरोधी वर्ग यह कहता है कि स्त्रियों में शक्ति नहीं है वे नाजुक हैं अबला हैं । लेकिन उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि अत्यन्त प्राचीन कालमें स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा अधिक बलवान् थीं आज भी यूरोप के असभ्य एवं आदि निवासियों की स्त्रियां पुरुषों से अधिक काम करती हैं । उनमें दो-तीन पुरुषों जितनी शक्ति हैं । वे सभी बहादुरी के कार्य करती हैं । युद्ध करना शिकार करना व्यापार करना, आवश्यक वस्तुओं का निर्माण करना इत्यादि सभी कार्य वहां स्त्रियां करती हैं । आफ्रिका के कांगो प्रदेश की स्त्रियाँ उत्तरी अमेरिका और न्यूगाइना की असभ्य जातियों की स्त्रियाँ तथा और रूस की अर्धसभ्य जातियों की स्त्रियाँ पुरुषों के समान ही सामर्थ्यवती और दृढ़ शरीरवाली होती हैं । हमारे यहां स्त्रियों में कमजोरी पाई जाती है इसका कारण यहां का पुरुष वर्ग है । पुरुषों ने उन पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए उन्हें चहारदिवारी में कैद कर रखा है और इस तरह उन्हें अबला बना दी है । स्त्रियों की स्वाभाविक शक्ति को कुचल कर उनकी कमजोरी की बात आगे करके पुरुष अपने अन्याय का इजहार करता है । वस्तुतः अगर स्त्रियों को भी शारीरिक विकास के समान अवसर दिए जांय तो वे भी पुरुषों के समान सुदृढ़ और बलवती बन सकती हैं । इसका उदाहरण कुमारी ताराबाई है । कुमारी ताराबाई शारीरिक बल में प्रसिद्ध पहलवान प्रो० राममूर्ति से कम नहीं है । शारीरिक शक्ति के अतिरिक्त अन्य बातों में भी स्त्रियाँ पुरुषों से कम नहीं हैं विदुषी पर्दा-प्रथा के विचार एवं

वक्तृत्व शक्ति में अन्य किसी विचारक से कम नहीं है। विदुषी सरोजिनी नायडू कवित्व शक्ति में किसी प्रसिद्ध पुरुष-कवि से कम नहीं है। ये सब इस बात को प्रमाणित करते हैं कि स्त्रियां भी पुरुषों के समान प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति कर सकती हैं।

आलंकारिक पंडित राजशेखर ने मध्यस्थ भावपूर्वक स्त्री जाति को पुरुष जाति के तुल्य बताया है—

"पुरुषवत् योषितोऽपि कवीभवेयुः। संस्कारो ह्यात्मनि समवैति न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमपेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो महामात्य दुहितरो गणिकाः कौतुकि भार्याश्च शास्त्र प्रतिबुद्ध कवयश्च"। काव्यमीमांसा अध्याय १०॥

अर्थात्—पुरुष के समान स्त्रियां भी कवि होती हैं। संस्कार का सम्बन्ध आत्मा से है अतएव स्त्री पुरुष का भेद इसमें नहीं रहता है। कतिपय राजकुमारियां, मंत्री पुत्रियां, गणिकायें इत्यादि शास्त्र निपुणा एवं कवयित्रियां देखी व सुनी जाती हैं।

इसी तरह कविकुल शिरोमणि महाकवि कालिदास ने कहा है कि—"गुणाः पूजा स्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः"। अर्थात्-गुणियों के गुण की पूजा होती है। लिंग और अवस्था से कोई प्रयोजन नहीं। तात्पर्य यह है कि जिस किसी व्यक्ति में गुण हो उसके गुण की पूजा होती है चाहे वह गुणवान् व्यक्ति स्त्री हो अथवा पुरुष छोटा हो अथवा बड़ा। कोई पुरुष बन जाने से निन्दनीय नहीं होसकता। लिंग और अवस्था से व्यक्ति की कीमत नहीं होती परन् उसके गुणों से उसकी कीमत होती है। स्त्रीमें सद्गुण हैं तो वह पूजनीया है और पुरुष में दुर्गुण हैं तो वह निन्दनीय है। इसी तरह पुरुष में सद्गुण हैं तो वह पूज्य है और नारीमें दुर्गुण हैं तो वह निन्दनीया है। तात्पर्य यह है कि पुरुष होने से कोई बड़ा और नारी होने से कोई छोटा नहीं हो जाता। गुणों की ठेकेदारी न तो पुरुषों की है और न स्त्रियों की ही।

प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में स्त्रियां विदुषी होती थीं। व दिग्गज विद्वानों के शास्त्रार्थ में निर्णायिका तक बनायी जाती थीं। प्रसिद्ध विद्वान् शंकराचार्य एवं मण्डन मिश्र के शास्त्रार्थ में मण्डन मिश्र की पत्नी अध्यक्षा बनाई गई थी। इन धुरन्धर विद्वानों के शास्त्रार्थ का निर्णय देने वाली कैसी विदुषी होनी चाहिए। भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों से पहले पुत्रियों को शिक्षा देकर स्त्री शिक्षा का अनुकरणीय आदर्श उपस्थित किया परन्तु बाद में लोगों ने नारी को शास्त्र पढ़ने तक का निषेध कर दिया। यह विषमता यहां तक बढ़ा कि "एक घर में दो कलम नहीं चल सकती। जैन शास्त्रों ने तो नारी को मोक्ष की अधिकारिणी मानी है वे केवल ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं तो उन्हें शास्त्र के पठनपाठन की अनुमति कैसे नहीं हो सकती है? यहां प्रश्न यह खड़ा होता है

कि दृष्टिवाद नामक बारहवां अंग स्त्रियों को पढ़ने का निषेध है ऐसा क्यों ? इस का समाधान यह है कि यह कथन प्रायिक है। प्रत्येक स्त्री के लिए निषिद्ध है ऐसा नहीं है। जो स्त्रियां समर्थ एवं योग्यतावाली हों वे इसका अभ्यास कर सकती हैं। जब स्त्री को केवलज्ञान तक हो सकता है तो क्या वजह है कि वह दृष्टिवाद का अध्ययन न कर सके। केवल ज्ञान की अधिकारिणी मानने पर दृष्टिवाद पढ़ने का निषेध करना ठीक वैसा ही है जैसे किसी को रक्षा के लिए रत्न सौंप देने के बाद कहना कि तुम कौड़ी की रक्षा नहीं कर सकते। किन्हीं २ आचार्यों ने यह कहा है कि स्त्री में तुच्छत्व अभिमान इन्द्रिय चाञ्चल्य मतिमान्द्य आदि मानसिक दोष होते हैं अतएव दृष्टिवाद के पठन का निषेध किया गया। कोई आचार्य यह कहते हैं कि शारीरिक अशुद्धि के कारण इसका निषेध किया गया परन्तु ये दोनों ही पक्ष तात्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव के फल हैं वैदिक विद्वानों ने शारीरिक अशुद्धि को प्रधानता देकर स्त्री और शूद्र जाति को वेदाध्ययन के लिए अनाधिकारी बत-लाया इन विपक्षी सम्प्रदायों का इतना असर पड़ा कि उससे प्रभावित होकर पुरुष जाति के समान स्त्री जाति की योग्यता मानते हुए भी श्वेताम्बर आचार्य उसे विशेष अध्ययन के लिए अयोग्य मानने लगे होंगे। वस्तुतः पारमार्थिक दृष्टि से इस प्रकार का निषेध नहीं हो सकता। जैन संघ स्त्रियों के प्रति उतना ही उदार है जितना वह पुरुषों के प्रति है। वह स्त्रियों को वे सब अधिकार प्रदान करता है जो वह पुरुषों को देता है।

बन्धुओं ! आप लोगों का कर्तव्य है कि अब आप नारी जाति को वे सब सुविधाएँ प्रदान करें जिनके द्वारा वे अपना विकास कर सकें। आप लोगों ने अब तक नारियों को पर्दे में बैठाकर के घर की चहारदिवारी में बन्द कर छोड़ी हैं। उन्हें अब मुक्त करिए और उन्हें उनके विकास के सभी अवसर दीजिये, यह याद रखना चाहिए कि स्त्री के विकास के बिना समाज, जाति और देश का अभ्युत्थान नहीं हो सकता। नारी जागरण के बिना किसी प्रकार की जागृति नहीं हो सकती। अगर हम कुटुम्ब समाज जाति एवं देश को उत्थान की ओर ले जाना चाहते हैं तो सबसे प्रथम महिलाओं का सुधार होना चाहिए। नारी ही जाति ही देश की नींव है। जबतक नींव बिखल-डांवाडोल एवं कमजोर है वहां तक उस पर भवन निर्माण नहीं हो सकता। जब नारी जाति रूपी सुधार की नींव दृढ़ होगी तभी उस पर उन्नति के भवन का निर्माण हो सकेगा। अतएव सुधारकों का कर्तव्य है कि नारी जागरण के लिए भरसक प्रयत्न करें। स्त्रियों में सुधार करने के लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि उन्हें शिक्षित बनाई जाँय। अबतक अपने स्वार्थ पोषण के लिए पुरुषवर्ग ने नारियों को शिक्षा से वञ्चित रखी है। इस पाप का प्रायश्चित स्त्रियों की शिक्षा के लिए अच्छी से अच्छी सुविधा करके करना चाहिए। स्त्रियाँ सुशिक्षिता होंगी तो भावी पीढ़ी का नवनिर्माण कर सकेंगी नारियों के हाथों ही में अगली पीढ़ी को सुन्दर या असुन्दर बनाने की शक्ति है। एक नारी सौ शिक्षक का काम देती है।

यह तत्व समझकर स्त्रियों में शिक्षा का प्रचार करके सर्वोदय की नींव डालनी चाहिये।

इस बीसवीं शताब्दी में पश्चिमी सभ्यता का तीव्रवेग से प्रहार होरहा है। इसका प्रभाव नारियों पर भी पड़ा है। वे भी उठकर दुनिया के साथ दौड़ना चाहती हैं। आज दुनियां जिस विनाश की ओर अग्रसर होरही है उसी ओर वे भी बढ़ना चाहती हैं परन्तु यह स्थिति भयकर है। आज की नारी बिना कुछ समझे पश्चिमी सभ्यता का अन्धानुसरण कर रही है। वह पुरुषों का मुकाबला करती हुई पश्चिमी सभ्यता के प्रवाह में बही जा रही है। इसमें नारी जाति की शोभा नहीं है। यह स्वतन्त्रता नहीं किन्तु उच्छृंखलता है। नारियों को अपने सामने प्राचीन आर्य सभ्यता के स्वर्णमय अतीत का आदर्श रखना चाहिए और उसी ओर प्रगति करनी चाहिए। नारियों को पुरुषों से प्रतिस्पर्धा नहीं करनी चाहिए लेकिन उन्हें अपना सहधर्मी मानकर काम करते रहना चाहिए। वास्तव में नर और नारी में प्रतिस्पर्धा नहीं होनी चाहिए। दोनों मित्र तुल्य हैं और उन्हें मित्रतुल्य ही रहना चाहिए। पुरुष नारी का सहधर्मी है और नारी पुरुष की सहधर्मिणी है नर पति स्वामी और मालिक रहे और नारी पत्नी स्वामिनी और मालकिन हो। ऐसा होने पर यह आर्यावर्त फिर उसी अभ्युदय को प्राप्त कर सकेगा जो उसे स्वर्णमय अतीत में प्राप्त था।

— अन्त में पुनः यह निवेदन कर देना उचित है कि शक्ति की सजीव प्रतिमा रूप नारियों की प्रतिष्ठा के बिना भारत का नव निर्माण नहीं होसकता है। अगर हम भारत की काया को पलटना चाहते हैं तो नारियों के प्रति हमें हमारा दुर्व्यवहार उपेक्षा भाव पलटना होगा। नारियों को उन सभी सामाजिक कुरीतियों से बाल-विवाहादि) मुक्त करना होगा जो उनके शारीरिक एवं आध्यात्मिक विकास में बाधारूप होरही हैं। नारियों के आदर के बिना संसार में हम आदर नहीं प्राप्तकर सकते हैं। स्वामी विवेकानन्दजी ने लिखा है कि जो जातियां जनता नारियों का आदर करना नहीं जानतीं वह कदापि उन्नत नहीं हो सकतीं। यदि हम यह चाहते हैं कि ये स्त्रियां सिंह के समान बच्चे पैदाकरें तो क्या हमें उन्हें सिंहनी नहीं बनाना चाहिए ? सियारनी सिंह के बच्चे को जन्म देसकती है ? कदापि नहीं ?

। अतएव भारत के नव निर्माण के लिए हमें नारियों की प्रतिष्ठा करनी होगी। जब भारतमें नारीपूजा होगी तो यहां पुनः देवता रमण करने लगेंगे। जैन संघमें नारीको उच्च स्थान है। जैन शास्त्रों में नारीयों के गुणों का बखान है। आवश्यकता इस बात की है कि हम उसको अपने व्यवहार में लावें। शास्त्रों में वर्णित नारी महत्व को व्यवहारिक रूप देकर हमें अभ्युदय के पथ में पदार्पण करना चाहिए।

नारी नारी मत कहो नारी नरकी खान।
नारीही के गर्भसे हुए वीर भगवान् ॥

—oxo—

जैन दर्शन में अपरिग्रह

ले० श्री चम्पालाल कर्णावट बी ए विशारद
सम्पादक 'जिनवाणी'

आज संसार में सर्वत्र अशान्ति छाई हुई है। मानव मानव का भक्षक बना हुआ है। इस छीना झपटी के दृश्य ने हमें विस्मय में डाल दिया है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को दबाने में ही अपना कल्याण समझता है। एक मनुष्य दूसरों के पास रही हुई वस्तु को किसी तरह हड़पने की ताक में लगा हुआ है। इधर हजारों प्राणी भूख से बिलबिला रहे हैं—बेचारे अपनी जठराग्नि में ही जले जा रहे हैं। उधर श्रीमन्तगण मोटर व कार में बैठे पक्की सड़कों को पार करते हुए अपने वैभव पर इठला रहे हैं।

रूस में साम्यवाद का नारा गूंजा और साथ ही उसने प्रयत्न किया कि इसका प्रचार अन्य देशों में भी हो। कहीं पूंजीवाद का आधिपत्य है—वे मजदूरों को चूसना ही चाहते हैं—सम्पूर्ण पृथ्वी पर पूंजी का अधिकार चाहते हैं। कहीं समाजवाद की देख-रेखा है तो कहीं किसी वाद की। कोई व्यक्तिवाद का उपासक है तो कोई समष्टिवाद का। तात्पर्य यह है कि विश्व एक अखिल रंगमंच बना हुआ है और उस पर नाना तरह के खेल होते दिखाई दे रहे हैं।

क्या कभी आपने सोचा है कि इस नाटक का सूत्रधार साथ ही मजबूत चाबी देता कौन है? किसके चलाने से ये सारे दृश्य चित्रपट पर आते हैं? मैंने जो जहाँ तक विचारा है एक शक्ति ही—एक वस्तु ही सबको आधीन किये हुए है—उसी की चाह में सारे दौड़ रहे हैं। वह वस्तु है परिग्रह उसे धन सम्पत्ति ममत्व मोह लोभ लालच, तृष्णा किसी भी नामसे पुकारें बात एक ही है।

एक वह जमाना था कि जब मनुष्य को अपने पेट की चिन्ता न थी। कलकी की परवाह न थी। जिस चीज की जरूरत होती वह उसे मिल जाती। कल्पवृक्ष उस समय सारी आवश्यकताओं की पूर्ति करते थे। उस समय की आवश्यकता आज की तरह असीम न थी समय ने पलटा खाया। किसी व्यक्ति के मन में दुर्भावना समाई। उसमें संग्रह वृत्ति ने अपना बीज अंकुरित किया। मनुष्य ने सोचा—रोज २ कल्पवृक्ष से कौन मांगे? ५-७ दिन की सामग्री साथ ही क्यों न लेलूं। यही भावना कुछ और व्यक्तियों के हृदयों में भी जाग उठी इधर इस प्रवृत्ति के चलते ही कल्पवृक्ष से फल मिलना बंद होगया। लोगों के सामने बड़ी विकट समस्या उत्पन्न होगई। जब मनुष्यों के झुण्ड व्यथित बनगये और हाहाकार मचगया तो आदीश्वर भगवान् ने असि मसि और कृषि कर्म का बोध जनता को कराया। मानव की आवश्यकता धीरे २ बढ़ती गई और आज उसका यह नग्न स्वच्छंदी रूप हमारे सामने है।

संभव है आप इसे काल्पनिक घटना समझें इसकी और सत्यता में संदेह करें किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत तो आपको स्वीकार करना ही पड़ेगा। उनके विचारानुसार—एक समय यह था जब मनुष्य की आवश्यकताएँ इतनी कम थी कि वह स्वतः पूरी कर लेता था। वे बिना ही परिश्रम के पूर्ण हो जाती थीं। समय ने अपना रूप बदला। परिश्रम की आवश्यकता हुई। आवश्यकताएँ बढ़ीं। उनकी पूर्ति के लिए नये २ साधन प्रस्तुत हुए और साथ ही नयी २ इच्छाओं ने अपना प्रबल रूप धारण किया। उसीका पृहद् रूप आज का विश्व है। एक ही मनुष्य को इतनी वस्तुओं की आवश्यकता है कि उसे एक देश से ही नहीं संसार के कोने २ से मंगानी पड़ती हैं।

भारतवर्ष हमेशा ही से धर्म प्रधान देश रहा है। यहां के प्राचीन पुरुषों ने कभी भी परिग्रह को वह रूप नहीं दिया जो उसे आज अनायास ही मिल गया है।

यों तो भारत के सभी धर्मों ने परिग्रह को त्याज्य कहा है। बौद्ध भिक्षुओं का त्याग किसलिए था? केवल इसी परिग्रह से त्राण पाने के लिये। हिन्दुधर्म में भी परिग्रह को धर्म का बाधक ही कहा है फिर भी इसे सर्वथा त्याज्य नहीं कहा है। जैन धर्म इसे पापों की खान कहता है और उसने अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्य के साथ अपरिग्रह को भी प्रमुख स्थान दिया है।

अब हम नीचे आधुनिक अर्थशास्त्रियों के विचार देते हुए परिग्रह की व्याख्या करेंगे।

अर्थ शास्त्री जन साधारण जनता द्वारा कहे जाने वाले परिग्रह को ही परिग्रह नहीं कहते। उनकी व्याख्या इससे बहुत विशद है। जन साधारण घर-मकानात सोना चांदी और ऐसी ही धातुओं को परिग्रह समझता है किन्तु एक अर्थ शास्त्री के लिये वह चीज भी परिग्रह का रूप धारण कर लेती है जिसे आप अमूल्य समझ कर फेंक देते हैं। उदाहरण के तौर पर एक भिखारी और एक श्रीमन्त को लीजिए। श्रीमन्त ने अपना कमीज़ फट जाने की हालत में दाग के कारण उसे फेंक दिया। उसके लिए वह परिग्रह नहीं। किन्तु एक भिखारी के लिए जो नगा भूखा है वह कमीज़ संपत्ति रूप हो सकता है। वह उसे संभाल २ कर रखेगा और समय पर ही उपयोग में लायेगा। तात्पर्य है कि वह उसे अपना सर्वस्व समझेगा। वह उसे उसी प्रकार सावधानी से रखेगा जैसे श्रीमन्त अपने जड़ाऊ सोने के हार को। अतः अर्थशास्त्रियों ने विचार कर धन (Wealth) की निम्न लिखित परिभाषा की है—

According to Marshell wealth may be said to consist of two classes of goods firstly of those material goods to which a person has by law or custom private rights of property and which are consequently transferable and possess value in exchange and secondly of those Non material

goods which belong to him are external to him and serve directly as the means of enabling him to acquir material goods

अर्थशास्त्र में धन केवल रुपये पैसे सिक्के और सोने चांदी आदि धातुओं को ही नहीं कहते परन् इसके अन्तर्गत वे सब पदार्थ समझे जाते हैं जिनसे मनुष्य की किसी प्रकार की आवश्यकता पूरी हो सकती हो या जिनको देकर बदले में दूसरी उपयोगी वस्तुएं मिल सकती हों संक्षेप में समस्त उपयोगी और विनिमय साध्य वस्तुएं धन हैं। संसार में बहुतसी वस्तुएं उपयोगी हैं किन्तु विनिमय साध्य नहीं जैसे हवा रोशनी पानी आदि। प्रकृति न ये चीजें अपरिमित परिमाण में दी हैं और सब के लिये दी हैं। किसीकी इस पर रोक नहीं लगती। अतएव यह अर्थ (धन) नहीं समझा जा सकता। परन्तु ये ही वस्तुएं क्षेत्र और समय के अनुसार धन का रूप धारण कर सकती हैं जैसे बिजली द्वारा प्राप्त रोशनी पंखे की हवा। भौतिक पदार्थों के साथ अभौतिक पदार्थ भी धन की परिभाषा में सम्मिलित हैं। किसी फर्म की ख्याति-जो उपयोगी भी है और विनिमय साध्य भी है। गवैये द्वारा संगीत का आनन्द जो पारिश्रमिक देकर प्राप्त किया जाता है-धन ही है। इससे मालूम हुआ कि धन वही चीज है:—

१ जिसकी उपयोगिता हो २ जो परिमित हो, ३ और जो विनिमय साध्य हो।

आपने आधुनिक अर्थ शास्त्र के विद्वानों का धन की व्याख्या के बारे में मत जान ही लिया है। अब जरा जैन दर्शनानुसार भी विचार करलें और फिर तुलना करें कि कौनसी व्याख्या विशद है और इनमें कितना सतुलन है?

तत्वार्थ-सूत्र में कहा है-मूर्छा परिग्रहः। अर्थात् किसी वस्तु में मूर्छा ममत्व लोभ इच्छा ही परिग्रह है। परिग्रह की व्युत्पत्ति करते हुए शास्त्रकारों ने कहा है कि "परिगृह्यते परिग्रहः" जिसे ग्रहण किया जावे वह परिग्रह है। ग्रहण उसे ही किया जाता है जिसमें ममत्व है-जिसकी हम इच्छा करते हैं-जिसको हमें चाहना है और जो हमारे लिये उपयोगी है। जिस वस्तु में हमारी मूर्छा नहीं है ममत्व नहीं नहीं है-संग्रह बुद्धि और लोभ भावना नहीं है वह पास नहीं रखी जा सकती वह अपनायी नहीं जा सकती। अतः जो ममत्व भाव से ग्रहण की जाय वही परिग्रह है।

दूसरे शब्दों में परिग्रह की परिभाषा निम्न रूप में की जा सकती है:—

"भोगोपभोग तृष्णा से उन्मत्त होकर संसार के बाह्य तथा आभ्यंतर पदार्थों के अर्जन संरक्षण तथा संवर्धन की भावनारूप मूर्छा को परिग्रह कहते हैं"

तात्पर्य यह है कि धन धान्य मकानात व अन्य वस्तुओं का संग्रह ही धन नहीं है किन्तु पास में कुछ न होते हुए भी लालसा करना-प्राप्ति की इच्छा करना भी परिग्रह है।

शास्त्रों में परिग्रह के दो भेद किये गये हैं १ आभ्यंतर और २ बाह्य। आभ्यंतर परिग्रह में अविरति प्रमाद कषाय आदि को माना है जिनकी उत्पत्ति मुख्यतः मन से है और जिनका निवास स्थान भी मन ही है। अर्थात् जो मन या हृदय से संबंध रखते हैं और विचार रूप हैं उन सबकी गणना आभ्यंतर परिग्रह में है। क्रोध मान माया और लोभ का इसी परिग्रह में समावेश है। जब तक क्रोधादि से मुक्ति नहीं तब तक कोई भी पूर्ण अपरिग्रही नहीं हो सकता।

बाह्य परिग्रह के भी दो भेद किये गये हैं—जड़ व चेतन। जड़ में वे तमाम पदार्थ आजाते हैं जो निर्जीव हैं। जैसे सोना चांदी मकान वस्त्रादि। चेतन परिग्रह में पशु, पक्षी मनुष्य पृथ्वी वृक्ष आदि सजीव पदार्थों का समावेश है।

भगवतीसूत्र में भगवान ने तीन परिग्रह मुख्य बताये हैं—कर्म शरीर और भाण्डोपकरण। ये तीनों उपरोक्त बाह्य और आभ्यंतर भेदों में आजाते हैं अतः विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं।

संसार में अनेक प्राणी हैं। प्रत्येक की रुचि भिन्न होती है। कोई किसी वस्तु का संग्रह करता है तो कोई किसी का। सबका ममत्व किसी एक वस्तु पर एकसा नहीं रहता और इसीलिये एक ही वस्तु दो सज्जनों के पास समान रूप में होनेपर भी उन्हें एकसा परिग्रह नहीं कहा जा सकता। उदाहरण के तौर पर लीजिये:—दो सज्जनों में से प्रत्येक के पास एक २ लाख रुपया नकद है। पहले का उन पर अत्यधिक राग एवं मोह है। उसकी सदैव यह इच्छा बनी रहती है कि यह संपत्ति मुझसे कभी न छूटे। दूसरे सज्जन का उस अपनी संपत्ति पर इतना मोह नहीं है। वह यह समझता है कि ये रुपये मेरी कोई निजी आत्माकी वस्तु नहीं है। वह किसी अच्छे कार्य में उसका उपयोग करने में सदैव तत्पर रहता है।

यहां दोनों के पास संपत्ति एकसी होते हुए भी उस पर ममत्व एकसा नहीं है। हम यह कह सकते हैं कि *पहला व्यक्ति अधिक परिग्रही है और दूसरा अल्प परिग्रही।* अभिप्राय केवल इतना ही है कि ममत्व मूर्छा राग चाह इच्छा तृष्णा, लोभ लालच किसी नाम से पुकारें—परिग्रह हैं। पदार्थ परिग्रह नहीं किन्तु उनमें रहा हुआ ममत्व ही परिग्रह है।

ऊपर परिग्रह की व्याख्या काफी स्पष्ट हो चुकी है। अर्थ शास्त्रियों का मत और हमारे दर्शन का मत मिलता जुलता ही है। उनमें फर्क सिद्धान्त का नहीं किन्तु परिमाण का है। जैन दर्शन की व्याख्या बहुत ही विशाल है जब कि आधुनिक अर्थ शास्त्रियों ने उसे संकुचित रूप में रख छोड़ा है और वे केवल सांसारिक समस्त जड़ पदार्थों को तथा कुछ चेतन और आभ्यंतर पदार्थों को अर्थ का रूप देते हैं। उन्होंने अर्थ की पहचान के लिये परिमित परिमाण विनिमय साध्य आदि जो कसौटियें लगा रखी हैं वे ही अर्थ के दायरे को संकुचित करती हैं नहीं तो

उनकी यह परिभाषा की आवश्यकता चाह (desire) ही परिग्रह (भय) है-जो जैन दर्शनानुसार बहुत अंशों में ठीक है वस्तु।

आपके सामने अब यह बताने का प्रयास किया जायेगा कि परिग्रह ही पाप का मूल है और संसार परिभ्रमण का कारण है।

यह हमारी भारत-भूमि ही है जिसने सब प्रथम स्वतंत्र विचारों को जन्म दिया था। बड़े २ दार्शनिक और आध्यात्मवादी इसी देश में हुए। परिग्रह को सबने ही पाप का कारण बताया है किन्तु अपरिग्रही रहने के लिये जितना जोर जैन दर्शन देता है वैसा कहीं देखने में नहीं आता। बौद्ध धर्म का प्रकट रूप भिक्षु और भिक्षुणियों के संघ के रूप में विकसित हुआ था फलतः वे सब गृह त्यागी होने के कारण जनता के आदर की वस्तु बने रहेगु इससे आगे वे न बढ़ सके। उनका सर्वथा अपरिग्रही रूप न होने पाया।

वैदिक दार्शनिकों ने संसार त्याग का उपदेश तो अवश्य दिया है किन्तु जिसके कारण *संसार से विरक्ति नहीं होती उस परिग्रह* को *हिंसा मृषा स्तेय* आदि पापों के साथ नहीं गिनाया गया। यद्यपि उन्होंने परिग्रह को उपादेय नहीं कहा है फिरभी वह विशेषण और महत्व नहीं दिया गया जो जैन दर्शन में है। इसवर्ग के आचार्यों में योग दर्शन के प्रणेता पतंजली अधिक स्पष्ट हैं क्योंकि ५ यमों में उन्होंने अपरिग्रह को स्थान दिया है।

परिग्रह ही सारे अनर्थों की खान है। परिग्रह के लिये धर्म और ईश्वर के प्रति भी विद्रोह किया जाता है। इसी के लिये छल कपट अन्याय और अत्याचार होते हैं। कुगुरु और कुदेव को परिग्रह के लिये ही पूजा जाता है। परिग्रह विश्वास घात दुर्व्यसन और दुर्गुणों का पोषक एवं संचालक है। संसार में जितनी भी हिंसा हुई है सब की जड़ में परिग्रह ही है। राम रावण का युद्ध मणिरथ द्वारा युगबाहु की हत्या कोणिक और चेड़ा का युद्ध और आज के ये सब महायुद्ध-इन सब की बुनियाद में परिग्रह के अलावा कुछ नहीं है। इसी परिग्रह के लिये पुत्र ने पिता को मारडाला। इतिहास प्रसिद्ध बादशाह औरंगजेब के चरित्र से तो दुनिया परिचित है। उसने राज्य प्राप्ति के लिये कितनी हत्याएं की थी और अपने आत्मीय जनों को मौत के घाट उतारा था। महाभारत का युद्ध हमें युग २ तक यह साक्षी देता रहेगा कि परिग्रह के कारण भाई भाई का रक्षक न होकर भक्षक हो गया। प्रजा द्रोह राज द्रोह देश द्रोह आदि द्रोह आदि सबका एक मात्र कारण यही परिग्रह है।

अब प्रश्न यह होता है कि सुख साधनों का एकत्रित करना ही यदि पाप है तो संसार में करणीय क्या रह जाता है?

ठीक ही है विचारना तो इतना ही है कि जिस जीवन के लिये सुख साधन है उसे ही मूल्य में देकर सुख साधनों का लेना क्या समझदारी होगी?

इस भीषण नर संहार, अन्याय अत्याचार, दुर्गुण और भयंकर पाप बंध से बचने का केवल एक ही रास्ता है और उसे भगवान महावीर ने सब को दिखला दिया था। मनुष्य अपरिग्रह व्रत की ओर झुके और उसे अपनाये बिना आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह दोनों का त्याग मुक्ति नहीं मिल सकती। इसीलिये साधुओं के लिए पांच महाव्रतों में इसे स्थान दिया गया है। श्रावकों अर्थात् गृहस्थों के लिये भगवान् ने परिग्रह परिमाण व्रत का निर्देश किया है।

जिसे पालन कर गृहस्थों को चाहिये कि अपनी आवश्यक वस्तुओं से अधिक अपने पास न रखें और धीरे २ उनमें भी कमी करते जावें। सारांश यह है कि गृहस्थ के लिये ममत्व भाव से सर्वथा रहित होना शक्य नहीं इसीलिये ममत्व (परिग्रह) को परिमित करने का आदेश भगवान महावीर ने दिया है।

अगर मानव समाज महावीर के बताये इस अपरिग्रह व्रत की ओर बढ़ेगा तो निश्चयही कलह झगड़ा विश्व भर में संहार अन्याय और अत्याचार इन सबका अंत होकर चिर स्थायी शान्ति हो सकेगी।

—oXo—

JAINISM AND MEAT EATING

BY SHRI M V SHAH

एवं खु नाणिणो सारं जं न हिंसइ किंचणं।
अहिंसा समयं चेव एतावंतं वियाणिया॥ सूत्रकृतांग-सूत्र

It is an indisputable fact that the very root on which the edifice of Jainism stands is *"Ahimsa"* Coming across certain phrases or sentences in the Jain scriptures some are led to believe that in the times gone by meat-eating was common among the Jains including the Jain monks In old times some people used to think the same way and in modern times too the learned Prof Hermann Jacobi and Prof Hoernle followed the same wake of belief Recently this controversy has been revived by a renowned student of Buddhism Pandit Dharmananda Kosambi In his publication 'Bhagwana Buddha this learned writer has touched this subject giving references of Jain Sutras that just as Lord Buddha and his disciples were used to meat eating Lord Mahavira and his disciples were also used to the same thing

Many scholars of Jainism have before this, tried to refute this way of thinking and this article too is nothing but an honest effort on my part to further expound this subject

In three Jain scriptures we come across a few sentences in which are used the words बहुट्ठिय मंस and मच्छ,—this is the circumstance which has given rise to so much controversy because the critics have interpreted such words in their own way and naturally the readers are led by the interpretations of these critics. But interpretations cannot be said to be infallible. Because it is almost the daily experience of a student of language that the same word admitting of different meanings can be construed in varied ways by different writers and readers according to their own understanding and knowledge not only of the language but of the subject or Sastras which they try to explain.

Though this subject has been dealt with in detail in 'जैनदर्शन अने मांसाहार' published in Gujarati and Hindi by the writer *of this articel an attempt has been made here* to publish this article in concise from in English with a view to draw the attention of Jain and Non-Jain scholars of Ardha-Magadhi and request them to evince interest in the subject and givn their learned and well considered opinion on the *in terpretations given here*

Acaranga Dasavaikalika and Bhagavati are three of the old Jain Sutras. The frist two of these are virtually the authoritative Code of Ethics for the Jain monks. The words बहुट्ठिय मंस and मच्छ above referred to are used at certain places in these two Sutras, in which the observance of certain con ditions is imposed on the monks regarding their vigilance while going out for and receiving गोचरी (food from door to door) Need it be said that those were the days when killing of animals for sacrifices at altars and meat-eating were very *common among the people And in Bhagavati* Sutra a certain mention about the medicinal use of a certain food

has been interpreted into meat-eating by some of the critics

These interpretations therefore are open to discussion and require elucidation by the language experts

आचारांगसूत्र

से भिक्खू वा (२) जाव समाणे सेज्जं पुण जाणेज्जा मंसं वा मच्छं वा भज्जिज्जमाणं पेहाए तेल्लपूयं वा आएसाए उवक्खडिज्जमाणं पेहाए नो खद्धं खद्धं उवसंकमित्तु ओभासेज्जा। णन्नत्थ गिलाणणीसाए। (६१९)

Acaranga Sutra by Prof. Ravji Devraj Page 131

Oh, monk or nun know by this that if you come to know that at a certain house meat and fish are fried and cakes or buns are also cooked in oil for the entertainments of guests you need not indiscriminately go to such a house in a hurry and ask for alms. If it be unavoidably expedient go, however only for the sake of service to a sick monk, you can" (619)

This permission to go to such a house cannot in any way mean that the author of the Sutra extends permission to receive meat in alms. The permission to go to house is only under exceptional and unavoidable circumstances of a sick monk, who may be in need of a light vegetarian food such as cakes and buns, which are not available at any other place Under normal conditions however a monk or nun has to keep away from such places even though they may be answering to certain of his or her requirements This saves them from the blame to which otherwise they can be exposed by indiscriminate critics

A household contains so many articles and things the use of some of which may be permissible to the monks and nuns and that of the others not permissible If a monk goes to such a place he goes only for the permissible ones, It is not fair and just, on the part of the critics, therefore to put wrong construction and say that he goes and receive non-permissible things too

2nd quotation under dispute—

से भिक्खू वा (२) से ज्जं पुण जाणेज्जा बहु अट्ठियं मंसं वा मच्छं वा बहुकंटगं अस्सिं खलु पडिगाहितंसि अप्पे सिया भोयणजाए, बहुउज्झियधम्मिए तहप्पगारं बहुअट्ठियं मंसं मच्छं वा बहुकंटगं लाभे संते जाव णो पडिगाहेज्जा (६२९)

से भिक्खू वा (२) जाव समाणे सिया णं परो बहुअट्ठिएण मंसेण मच्छेण उवणिमंतेज्जा "आउसंतो समणा! अभिकंखसि बहुअट्ठियं मंसं पडिगाहेत्तए ? एतप्पगारं णिग्घोसं सोच्चा णिसम्म से पुव्वामेव आलोएज्जा 'आउसो त्ति वा भइणि त्ति वा णो खलु मे कप्पइ से बहुअट्ठियं मंसं पडिगाहेत्तए। अभिकंखसि मे दाउं जावइयं तावइयं पोग्गलं दलयाहि मा अट्ठियाइं" से सेवं वदंतस्स परो अभिहट्टु अंतो पडिग्गहगंसि बहुअट्ठियं मंसं परिभाएत्ता णिहट्टु दलएज्जा तहप्पगारं पडिग्गहगं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं अणेसणिज्जं लाभ संते जाव णो पडिगाहेज्जा। से आहच्च पडिगाहिए सिया तं णो 'हि' त्ति वएज्जा णो 'अणहि' त्ति वएज्जा से त्तमायाय एगंतमवक्कमेज्जा। अवक्कमेत्ता अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडए जाव अप्पसंताणए मंसगं मच्छगं भोच्चा अट्ठियाइं कंटए गहाय से त्तमायाय एगंतमवक्कमेज्जा अवक्कमेत्ता अहे झामथंडिलंसि वा अट्ठिरासिंसि वा किट्टरासिंसि वा तुसरासिंसि वा गोमयरासिंसि वा अण्णयरंसि थंडिलंसि पडिलेहिय २ पमज्जिय २ ततो संजयामेव पमज्जिय २ परिट्ठवेज्जा। (६३)

Acaranga Sutra by Prof. Ravji Devraj Page 134- 35

The interpretation of para 629 is this: —' A monk or a nun need not accept बहुअट्ठियं मंसं वा मच्छं वा बहुकंटगं in his or her alms only for the reason that such food contain much of the non-eatable and very little of the eatable parts

The same thing has been reiterated with greater stress in details in the next para which says that if a monk or a nun happens to a certain house for alms and any inmate of the house asks him or her whether he or she will accept बहुअट्ठियं मंसं he or she should say in reply that बहुअट्ठियं मंसं is not acceptable to him or her He or she can accept only पोग्गलं and not अट्ठियाइं In spite of this if the host persistently puts बहु अट्ठियं मंस in his or her vessel against his or her will the monk or nun should be tolerant should go to an unfrequented place where he or she should use मंसगं मच्छगं the eatable part and should put away अट्ठियाइं कंटए the non eatable part in a safe place such as burnt up ground, *heap of bones* heap of scrapes iron etc. which should be devoid of insects and other small creatures

In the first instance let me try to explain the meaning and use of the words which I have used in the original

untranslated form in the above paragraph because most of the critics have taken their stand on these words and interpreting them in their own way have gone so far as to say that meat eating was common among the Jains of old

It is quite evident that in the compound बहुअट्ठियं the latter part is अट्ठियं and not अट्ठि because in the same quotation its own derivatives अट्ठियाइं and अट्ठियेण are used (see footnote *)
अट्ठ (सं अस्थि)=bone
अट्ठिय (सं अस्थिक)=As hard as bone, seed
(Apte s Sanskrit-Eng Dictionary page 103)
Jainagama Sabda Sangraha page 36)

The original writers of the Sutra are quite conscious of the difference in the meanings of अट्ठि and अट्ठिय and there-fore in the first part of the quotation under discussion where the writer intended to refer to seed the word अट्ठिय is used i e बहुअट्ठियं अट्ठियाइं अट्ठियेण and in the latter part where he inteded to refer to bone the word अट्ठि is used i e. अट्ठिरासिसि heap of bones.

The difference in the meaninges of these two words given in the above text from the literary standpoint is much convincing to the common sense also and these words are used in their respective meanings in scriptural quotations given below
अट्ठि=bone

1 अट्ठिमिंज पेमाणुरागरत्ता ।
One whose love for religion is as far deep rooted as the *marrow* of the bones.

---

* Foothote—
Derivatives of अट्ठि & अट्ठिय

Case	अट्ठि Singular	Plural	Case	अट्ठिय Singular	Plural
प्रथमा	अट्ठि	अट्ठीओ अट्ठीइं अट्ठीइं	प्रथमा	अट्ठियं	अट्ठियाइं अट्ठियाइ अट्ठियाइं
द्वितीया	"	" "	द्वितीया	"	"
तृतीया	अट्ठिणा	अट्ठीहिं अट्ठीहि,अट्ठीहिं	तृतीया	अट्ठियेण,अट्ठियेणं	अट्ठियेहि,अट्ठियेहिं

(Bhagavati Sutra, s 2 Cha. 5th)

2 अट्ठिचम्मावणद्धे ।

A skeleton of bones wrapped in skin
(Jnata sutra, Abhyayana 1st.)

3 तओ पिइअंगा पन्नत्ता तं अट्ठिमिंजकेसमंसुरोमनहे ।
The following are the paternal contributions in the constitution of a child Bones marrow hair and nails.
(Thananga Sutra 3rd thana)

अट्ठिय=Stone of a fruit. 2 seed

1 रुक्खा दुविहा पन्नत्ता तं एगट्ठिया (एगअट्ठिया) य बहुबीया य
There are two kinds of trees yielding fruits having one seed or many seeds.
(Jivabhigama Sutra, page 43)

2 पोग्गलं दलयाहि, मा अट्ठियाइं
Give me the soft pulp of a fruit but not the seeds.
(Acaranga Sutra. 630)

3 सअट्ठियं सकणयं सबीयगं
(water) containing a stone of a fruit. particle or a seed (Acaranga Sutar 5 9)

4. तत्थ से भुंजमाणस्स अट्ठियं कंटओ सिया । तणकट्ठसक्करं वावि अन्नं वावि तहाविहं ॥ ८४ ॥

while taking his meal if a monk happens to feel in his morsel a seed, a thorn a straw a bit of wood a small stone etc
(Dasavaikalika Sutra Adhyayana 5th gatha 84)

As shown above अट्ठिय means seed and बहुअट्ठिय means having many seeds The latter being adjective of मंसं, मंस cannot mean flesh because flesh dose not contain seeds, but it means only the pulp or soft part of a fruit and the use of मंस in this sense is well known

मंस=(सं मांस)= 1. Flesh. 2. Fleshy part of a fruit.
(Apte s S. E. Dictionary, page 753.)

(Paia-Sadda-Mahannavoa, page 824 & 1274)

मंस in the sense of a pulp of a fruit has been used in the Sutras, in English language, in Botany and even in the medical science as can be ascertained from the following authorities in

Sutra बिंटं मंसं कडाहं एयाइं हवंति एगजीवस्स ।

The stalk the pulp and the skin (of a fruit) have one life

Pannvana Sutra Chapter on Vegetation, gatha 12th)

English Flesh. Soft pulpy substance of fruit. (Eng Dic. by S Ogilvie, page 292)

Botany Fleshy part of a fruit.

Medical Science } स्वादु अम्लं गुरु स्निग्धं मांसं मारुतपित्तजित्

while describing the properties of a Bijora fruit the word मांस is used for the pulpy part of that fruit. (Susruta Samhita, page 327)

In this way बहुअट्ठियं मंसं means the pulp of a fruit with many seeds.

Now let us further examine the meaning of मच्छं वा बहुकंटगं which is used in the same sentence. In the sentence बहुअट्ठियं मंसं वा मच्छं वा बहुकंटगं the word वा is twice used. The word वा, according to Apte can be used in two ways,

वा=(1) as an alternative conjunction meaning *or and, also.*

(2) as a figurative attribute equivalent to इव meaning *Like* (Apte s S E. Dic., page 839

Jain-agama Sabda Sangraha, P 680.

Amarakosa, Page 288 Sloka 284)

The following examples respectively show that वा is used in both the above senses in Jain scriptures

(1) से भिक्खू वा भिक्खुणि वा से जं पुण जाणेज्जा ।

Oh monk *or* nun, again know by this.

(Acaranga Sutra, 630)

माहं रमे पक्खिणि पंजरे वा

Like a bird shut up in a cage which does not feel happy ।

(Uttradhyayana Sutra Adhyayana 14th gatha 41)

The said sentence बहु अट्ठियं मंसं वा मच्छं वा बहुकंटगं if arranged in syntactical order will run as follows—मच्छं वा बहु कंटगं वा बहुअट्ठियं मंसं (वा पडिगाहेज्जा) and which means (Do not accept) the soft pulp of a fruit containing many seeds, *or* any thing hard *like* the fish bone

Thus taking the first वा as a particale showing comparison and the second वा as a conjunction and making no change in the meaning of मच्छं and कंटग we can derive from this sentence a meaning quite consistent with the fundamental principle of Jainism viz., '*Ahimsa*'. It can be seen from the above statement that the above phrase refers to vegetarian food-only and not to fish or meat-eating as is thought by the critics

In the remaining part of the above quotation वा is used at some places and at other it is omitted. It is, therefore more befitting to translate that part also by way of supplying the ellipsis

In this sentence वा is used in its two different meanings in close proximity and this practice is not infrequent in the scriputres

इत्थी वसं गया बाला, जिणसासणपरम्मुहा ।
दासे मिए व पेसे वा पसुभूते व से न वा केइ ॥

(Suyagadanga Sutra 4th Adhyayana 2nd Uddesa 18th gatha)

One who is blind in love of a woman and who for the satisfaction of one's passions does all the sinful actions, is *like* a slave a deer a menial a dumb driven creature *or* the humblest of the humble

Our contention is not about the use of the words but the meanings or interpretations of the words used It is only the etymology and syntactical rules as well as the

common practice or usage in language and last but not the least the context which help us to arrive at the correct interpretation of a word

the following few explanations will help a great deal in interpreting and understanding the texts of the quotation under discussion

(1) A host when offering food to a monk uses the words मंस and मच्छ and the author of the text in permitting a food does not use the same words मंस and मच्छ but their forms मंसगं and मच्छगं What should be the motive in using this 'ग' ending? It is used to impart to it the idea of a simile meaning thereby something similar to flesh or fish but not flesh or fish itself

(2) The practice of giving the illustration of मत्स्य must have been frequently resorted to by writers in those days as follows–

कश्चित् मांसार्थी मत्स्यान् सशल्कान् सकण्टकान् आहरति
शल्कानिकण्टकान् स यावदादेयं तावदादाय शल्ककण्टकानि उत्सृजति ॥
(१-१ ४२)

(Mahabhasya by Patanjali)

तस्मान्मत्स्यार्थीव कण्टकान् शल्कान् मांसमरणनार्थं कण्टकशल्कसमानोऽतीनेव
मेहलान् दुष्टपुरुषैष्यिपादितार्थं सुधी मोस्त्यते ॥ (१-१-२७)

(Tatparya Mimamsa by Vacaspati Misra)

A meat-eater brings fish with its scales and thorns as they are inseparable but he eats only the flesh the eatable part and throws off the scales and the thorns the uneatable hard stuff.

3. Following are some of the many examples of vegetarian food which are acceptable to the Jain monks and which answer to the properties as described in the text by the author e g

(1) Cooked vegetables of a बोर गुँदा सीताफल, सरगवो etc.
(2) Pickles of गुँदा dates and mangoes.
(3) Small pieces of sugar cane

(4) Slice of a mango or any such fruit with skin but without seed

(5) A piece of coconaut with its shell attached to it

Some of these contain seeds or uneatable hard parts and others have skin or hard shell

(4) The author in the same quotation lays particular stress regarding the place where, the manner in which and the scrupulous care with which the seeds and the uneatable parts should be put away so that even the humblest of the sensible life may not be hurt. It is quite incomprehensible and unbelievable therefore, that the some author in the same quotation may allow a monk to accept as alms fish and fleshy food which unequivocally implies the killing of more useful lives

दशवैकालिक सूत्र

बहुअट्ठियं पुग्गलं अणिमिसं वा बहुकंटयं ।
अत्थियं तिंदुयं बिल्लं उच्छुखंडं व सिंबलिं ॥ ७३ ॥
अप्पे सिया भोयणजाए, बहुउज्झियधम्मिए ।
दिंतियं पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥ ७४ ॥
(Dasavaikalika Sutra Adhyayna 5th gatha 73rd & 74th)

These verses belong to Dasavaikalika Sutra and its subject matter is nothing but a re-echo of the precepts given in the Acaranga and hence these also admit of the meanings given above The words बहुअट्ठियं and बहुकंटयं used in Dasavaika lika are the same as those used in the Acaranga, but the word अणिमिस (सं. अनिमिष=a creature without twinkling of eyes i. e. a fish Apte's S E Dic. page 29 Paia-Sadda-Mahannavo page 40) is a synonym of मच्छ and the word पुग्गलं is another Prakrit form of पोग्गलं The word पोग्गलं is used in the quotation of the Acaranga as a synonym of मंस, and hence पुग्गलं in this quotation too can be. unhesitatingly interpreted as 'a soft pulp of a fruit

* बोर–Zizyphus Jujuba. गुंदा–Cordia-Latifolia सींगोडा–Tra pa bispinosa. सरगवो–Moringa Pterigo-sperma.

Taking it into this light the frist line of the verse favours the interpretation of the soft pulpy part of the fruit containing many seeds and uneatable hard stuff like a fish; and in the second line of the same verse the author gives for the sake of clarification the names of such fruits viz, अत्थियं तिन्दुयं बिल्लं उच्छुखंडं and सिंबलिं All these fruits contain the soft pulp and seeds or uneatable hard stuff.

In spite of such a simple and straightforward meaning and the instances of fruits, given in support of the above meaning in the same verse and the preceding and the following verses of the same chapter dealing with vegetarian food if a critic tries to misinterpret it into fish and meat food, it can only be attributed to his want of knowledge of the subject or his ignorance of the language

Some of the Jain Acaryas in their commentaries have taken बहुअट्ठियं बहुकंटयं मच्छं and अणिमिसं to be certain kinds of vegetable and have commented the word "मोच्चा" as used for external purposes but apart from that in this article the meanings of the same words have been given quite differently on the authority of dictionaries and their various uses in different places.

भगवती सूत्र

The folloing is the text in connection with the medicinal use by Lord Mahavira of a certain preparation when he was suffering from billious fever and profuse dischrage of blood in stool

> "तत्थ णं रेवतीए गाहावइणीए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं नो अट्ठो, अत्थि से अन्ने पारियासिए मज्जारकडए कुक्कुडमंसए तमाहराहि एएणं अट्ठो" ॥

Bhagavati Sutra ॥ 15 page 686

Abhayadev Suri one of the renowned and learned Jain Acaryas, who has written commentaries on the nine अंगसूत्र (main or principal Sutra) gives his comments as follows in respect of the above quotation.

"तदी गच्छ × × × × मदर्थं द्वे कूष्माण्डफलशरीरे उपस्कृते, न च ताभ्यां प्रयोजनं तथाऽन्यदस्ति तद्गृहे परिवासितं मार्जाराभिधानस्य वायोर्निवृत्तिकारकं कुक्कुटमांसकं बीजपूरक-कटाहमित्यर्थः, तदाहर तेन च प्रयोजनमिति" ॥

Thananga Sutra 691 Page 456 457

The English version of it is "you go to Mendhika where a certain mistress named Revati has cooked two pumpkins into a certain preparation for my use I cannot make use of that. However she has got the pulp of Bijora fruit which is used as a medicine for the disease of Marjara Vayu Go and get that for my use"

There are three disputable words in the above quotation कवोय मज्जार and कुक्कुडमंसए These words a e used in connection with medicinal purpose and their meanings should, therefore be determined with the aid of diotionaries of medical words and as these dictionaries are mostly written in Sanskrit we should also try to know their Sanskrit equivalents

कवोय=सं. कपोत कुक्कुड=सं. कुक्कुट

मज्जार=सं. मार्जार मंस=सं. मांस.

कपोत=1 A fruit named पारावत

Susruta Samhita page 338, Chapter on fruit

2. कूष्माण्डफल-white pumpkin

The commentator has prefrred the latter meaning because the colour of the white pumpkin is similar to that of कपोत i e a pigeon and it has been a common practice with the writers to use the same word for an animal or a vegetable if the external appearance properties or other qualities of both are almost similar e g

मत्स्यंडी =1. Eggs of a fish

2. Sugar (because its external appearance and the size of its crystals are similar to those of the eggs of a fish)

उंदुरुकर्णी=1 Ears of a mouse

2 A vegetable whose leaves resemble the ears of a

mouse in shape.

मंडूकी, कोल चिड कुम्म and many more can be cited in support of the above practice

So the commentator is right in taking कपोत as कूष्माण्डक and that is the interpretation compatible with the words दुवे and सरीरा

दुवे कवोयसरीरा = Two white pumpkin fruits

मज्जार = (1) kind of a vegetable and it is used in that sense in the Sutras also i. e.

(a) वत्थुलपोरगमज्जारपोइवल्लिपालक्का

(Pannavana Sutra Chapter on trees)

वत्थुलबोरगमज्जारपोइचिल्लिया

(Bhagavati Sutra Sataka 21st)

2. A plant named Ratna Chitraka Raja Nighantu)

3 A cat.

4. white pumpkin or gourd. (Vaidyaka Sabda Sindhu Page. 689)

5. A kind of disease.

मज्जारकडए = मार्जारकृत prepared or made from a vegetable named Marjara or treated with Marjara.

But कृत is found nowhere to have been used in the sense of killed in Ardha-Magadhi as interpreted by the critics

कुक्कुट. = 1 A vegetable having leaves with four petals. (Vaidyaka-Sabda Sindhu p. 259

2. Fruit of शाल्मलि tree (Vaidyaka Sabda Sindhu, p 259.)

3. मातुलुंग=Bijora fruit=Citron

मंस=soft pulp of a fruit (as afore said in this article)

कुक्कुटमंस=soft pulp of Bijora fruit

The reason for not adopting the first two meanings is evident as those vegetables have no medicinal use in such illness, but मातुलुंग=Bijora fruit pulp is used as a medicine for such a disease.

is therefore appropriate Let us further see as to why कुक्कुट is interpreted as Bijora (Oitron). The feminine form of कुक्कुट is कुक्कुटी and मधु कुक्कुटी or मधु कुक्कुटिका is derived from कुक्कुटी. If the adjectival prefix मधु be omitted कुक्कुट कुक्कुटी and कुक्कुटिका become synonymous.

Now मधुकुक्कुटी and मधुकुक्कुटिका = Bijora = Citron (vaidyaka Sabda Sindhu, Raja Vallabha, page 708) and कुक्कुटी also mean Bijora and therefore the commentator has adopted that meaning When the synonymous words used in connection with the animal life are used in respect of vegetable life they bear the same meaning e g

Syn. Words	Animal life	Vegetable life
कुमारी & कन्या	an unmarried girl	aloe plant
धूर्त & कितव	a rouge a cheat	Dhatura plant
कुक्कुट कुक्कुटी & कुक्कुटिका	cock or hen	Citron fruit

We have taken the disputable words as meaning vegetable plants and fruits on the authority of medical dictionaries moreover they were useful because of their medicinal properties to cure the disease from which Lord Mahavira was suffering

Even a scholarly commentator like Abhayadeva-Suri has understood the sentences to mean vegetable things, what objection can there be on our part to accept those interpretations ? A great saint like Manu says ' 'आर्य तद्वदेत्, न तु विस्मयेत्" that the words of great men should be carried on with a constructive bent of mind rather than destructive one. Accordingly we should also give interpretations which may maintain the fundamental principle of Jainism viz Ahimsa

Following are some additional arguments to support why the interpretations referring to animal life are not

applicable in this case

(1) Medical science does not advocate anywhere the use of animal flesh for the cure of such a disease

(2) It is not only impossible but incredible that a person like Lord Mahavira who raised hue and cry against animal killing would behave in a manner detrimental to the most beloved principle of his life and it is equally incredible that he himself would resort to meat-eating against his preaching to his followers that meat-eating is leading to hell

(3) Revati a wise and discreet woman was a wife of a rich man and a follower of Lord Mahavira. She gave this medicinal food as alms for Lord Mahavira and it is mentioned in Sastras that this act of hers raised her to the position of Devagati and an exalted place among the Tirthamkaras of the cycle to come Is it appealing to the common sense to believe that a woman of this tipe would cook stale meat keep it overnight give it as alms for the Lord and for all that she would attain to the eminent position mentioned above?

In this way I have attempted to give literally and logically clear explanations in keeping with the scriptural spirit of the disputable portions in Jain Sastras which have given rise to frequent discussions and controversies

Now I shall try to give the proofs on the authority of scriptures that Jainism strictly forbids meat-eating & drinking

1 The following verse occurs in the Dasvaikalika Sutra.-

"अममज्जमंसासि अमच्छरीया अभिक्खणं निव्विगइं गया य"

(Das Sutra, Culika 2nd, gatha 2th)

The writer says here that not only does a monk completely abstain from drinking and meat-eating nor feel jealous to see the happiness of others but unnecessarily and without sufficient reasons to do so he does not very often

use for his personal comforts foods like milk, curds ghee etc which stimulate the passions. In the same way, at certain places in Suyagadanga, Prasna Vyakarana and Dasavaika like Sutras the monks are addressed as 'अमज्जमंसासिणो' meaning one who abstains from drinking and meat eating How could this be justified if a monk were allowed to behave otherwise ?

(2) It has been mentioned in Sastras more often then not that

(1) undertakings on extensive scale (2) attachment for worldly things (3) killing of animals & (4) meat-eating drag a man to the lower world.

चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति तं जहा
(१) महारंभयाए (२) महापरिग्गहयाए (३) पंचिंदियवहेणं (४) कुणिमाहारेणं ।

Thananga, Bhagavati, Uvavai and Uttaradhyayana.

(3) Out of the 12 Precepts (व्रत) in regard to the conduct of a Sravaka the 7th enumerates the daily necessaries of his life and occupation No mention has been made in this about meat eggs wine etc. This goes to prove that Sravakas too, abstained from these things. This statement is further confirmed by the fact narrated in Upasakadasanga Sutra about the vows taken by Ananda Sravaka in the presence of Lord Mahavira. In the same precept there are certain observances (अतिचार) prescribed

" अप्पोलिय-ओसहि-भक्खणयाए, दुप्पोलिय-ओसहि-भक्खणयाए

(A Sravaka should not take corn food half cooked or badly cooked). The word 'ओसहि' in this connotes the corn such as Bajari Juwar and the like. (Jainagama Sabda Sangraha P 218). This further confirms our notion that the Sravakas were corn-eaters and not meat eaters Is it possible therefore that the religious sect who are corn-eaters themselves may have amongst them the Supreme Soul and monks who may be meat-eaters ?

4. The first sermon delivered by every Tirthamkara

after the attainment of Kevalajnana runs as follows:- "The Tirthamkaras of the past the present and the future all invariably say Keep away from killing सर्वपाय सर्वभूत सर्वजीव and सर्वसत्व (any and everything coming under the category of a life) and forbid an act of domination over a life of causing life mental or physical torment or of causing to sever body and soul etc.' (Acaranga Sutra Adhyayana 4th) It is equally impossible that such Tirthamkaras would ever resort to meat-eating themselves or would suffer their followers to be meat-eaters.

Other arguments of the Critics.

(1) One of the arguments proffered in support of their statement is that in those days the Brahmins used to offer sacrifices of animals at the altars the people at large used to offer the lives of animals for the propitiation of their deities meat used to be publicly sold in the market and vegetable food was not easily obtainable On such grounds the critics draw their imaginary conclusion that the monks who had to live on alms used to accept meat-food (Bhagavana Buddha, p 107). Let us go deep into the propriety of this argument

The animal sacrifices offered were from a religious standpoint and not with a view to their use as food In the present days vegetable food and nuts are offered as sacrifice to gods and goddesses and it is then distributed among the inmates of the house and others as a sort of प्रसादी. In those days the animal sacrifice used to be distributed in the same way For feeding the Yajnacharya, his assistants and other participants, however delicious preparations of rice other corns and vegetables which were in abundance were used

(Uttaradhyayana Sutra Adhyayana 12th)

This supports our view that all the people in those days were not meat-eaters only because vegetable food was also available in abundance

Even in our times we see that in the countries

where meat-eating si ni vogue on a wider scale there are men, who live only on vegetable food. So the existence of religiously vegetarian monks in the old days is not inconceivable

In an agricultural country like India, the harvest of corn was not only abandant, but was sold cheap also as no transportation or exportation was necessary in those days. It is unimaginable therefore that the people would ever think of using in daily life animal food only which evidently involved the killing of animals—animals which are the backbone of their agricultural activities—and did not make use of vegetarian food at all,—a circumstance which made it impossible for the monks too to get vegetarian food

I may also make it clear that the monks having got to maintain themselves by alms were allowed to accept acceptable alms from the richest to the poorest door and so they had no difficulty in getting the vegetarian food

In this way detailed explanations have been given of the disputable passages and it has been proved on good authority that those passages referred to vegetable food only, that is no trace has been found in the Jain Agamas to make us doubt that meat-eating was common among the Jain monks and the Jain sect of old nor has it ever been known that meat-eating has been resorted to by any one of the many sects of Jains or any serious and sincere follower of Jainism in these days

This proves beyond doubt that meat-eating was not at all prevalent among the Jains of old and is not so in these days too. *Still if a researcher will be able to prove otherwise* on the strength of his indisputable research, the question will certainly engage the attention of all for due considera tion on that It is, therefore, as futile as it is unnecessary to grope in the dark to find out a thing which d es not exist at all.

My last request is that the interpretations suggested

by me of the disputable passages and the reasonings and arguments given in support thereof may be well thought over and their propriety or appropriateness may be considered from the various standpoints of usage in language grammer, their context with reference to allied passages in the Sutras etc

In the end I bring this chapter to a close with a request to the interested readers and critics to overlook and draw my attention to the drawbacks as no one can claim to *be perfect and infallible*

—oXo—

जैन मुनियों का ग्राम प्रचार

ले० श्री गौरीलालजी गुप्ता

रत वर्ष के मध्य हजारों ग्राम ऐसे हैं जो सड़कों रेल्वे आदि से दूर तो पड़ते ही हैं पहाड़ियों की तराइयों और घाटियों में बस हुये हैं यहां यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि ग्रामीण प्रजा सीधी सादी गरीब और भोज्य पदार्थों की कमी के कारण संयमशील बनी रहती है। जिन्हें पेटभर भोजन भी न मिलता हो पहनने को पूरे वस्त्र भी नसीब न हों वह किस प्रकार अपनी धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक दशामें सुधार कर सकते हैं, यह एक प्रगट सत्य है।

उपरोक्त सैकड़ों ग्राम राजपूताना में ही ऐसे हैं जहां वर्षों में शहरी प्रजा आ पाती है। उन्हें न धर्म का ध्यान है न समाज का। ऐसे केवल अन्न पैदा करना और अपना पेट पालना ही मनुष्यता का परम कर्तव्य समझते हैं। यद्यपि उनमें न कुटनीतिज्ञता है न आलसी और न दुराचारी फिर भी वे सतसंगतिविहीन साक्षरता और धार्मिक प्रबुद्धता से कोसों दूर जा पड़े हैं। राष्ट्र हितैषियों ने प्रथम कार्य क्षेत्र में ग्राम सुधार भी रखा है सही परन्तु जबतक कष्ट सहन की शक्ति हममें पैदा नहीं होती ग्राम सुधार दुःसाध्य समस्या है।

सच पूछा जाय तो इन ग्रामों में जो कुछ भी सुधार सभ्यता और शान्ति का वातावरण दृष्टिगोचर होता है वह उस श्वेताम्बर जैन समाज के माननीय साधु और साध्वियों के सीम क पधारने और देशों की सीमा में विचरण करनेवाले मित्र

भाषणों को सुनकर ग्रामीण जनता स्तब्ध और मुग्ध होजाती है वे भाषण देश धर्म और जाति सुधार के पोषक तो होते ही हैं साथही धार्मिकता से परिपूर्ण होने के कारण चरित्र निर्माण में भी बड़े उपयोगी सिद्ध होरहे हैं। अपनी आत्मा का दमन करने वाले जैन मुनि जब केवल रूखी सूखी रोटियों से जो उन ग्रामीणों के घरों का महत्वपूर्ण भोजन है तन के साथ धन दोष टालकर अपनी आत्माको सान्त्वना देते हैं, तबतो उन अशिक्षित कहलाने वाले ग्रामीणों पर इस त्याग और तपस्या का प्रभावोत्पादक असर हुये बिना नहीं रहता। मुनियों के भाषणों म त्याग तपस्या धर्म अधर्म पाप-पुण्य, जीव-अजीव हिन्सा-अहिंसा स्वर्ग और नर्क का जो विशद वर्णन होता है वह उन ग्रामीणो के लिये अमूल्य और बड़ा उपादेय कहा जा सकता है।

एक बड़े महत्व की बात हमारे जैन मुनियों के भाषणों में यह होती है कि वे साधारण कवियों और विद्वान् पंडितों के ही वचन नहीं उच्चारते, वरन उन त्रिकालदर्शी तीर्थंकरों के मुखसे निकले हुए असंदिग्ध वाक्यों का प्रयोग करते हैं जिन्हे जगत् ज्ञानी ध्यानी सर्वज्ञ एवं महर्षि की उपमा से अलंकृत करता रहा है। उन अमृतमय वचनोंमें पांच इन्द्रियों पर विजय पाने के अद्भुत प्रयोग संयम की सतशिक्षा क्रोध मान माया, और लोभ के निवारण के अलौकिक उपाय तथा मनोभावों को अहिंसक और पवित्र बनाने की अटल साधना होती है। भलाई और बुराइके फल कुटिल और शुद्ध भावनाओं का स्वरूप चोरी झूठ ईर्षा आदि बुरी आदतों के निराकरण की उन परम मांगलिक वाक्यों में सजीव झलक दृष्टिगत होती है। सीधी सादी किसान स्त्रियाँ साधु मुनियों और साध्वियों के आचार विचार को देखकर दंग होजाती हैं। वे उन्हें बड़े प्रेम और आदर के साथ अपने घर का भोजन देती हैं और उनकी सहानुभूतिपूर्ण अभ्यर्थना करती हैं। गावों में गौरक्षा कृषि और खादी प्रचार की विशेषता के प्रचारक यदि सच पूछा जाये तो एक मात्र जैन मुनि ही कहे जासकते हैं। निसंदेह स्वार्थ रहित एक त्यागी जैन मुनि का जितना प्रभाव जनता पर पड़ सकता है उतना भोगी रागी और असंयमी गृहस्थों के एक समूह का भी नहीं पड़ता। आज हम देखते है प्रसिद्ध वक्ता श्री जैन दिवाकरजी महाराज के अद्भुत और चमत्कारिक भाषणों से हजारों नर-नारी मंत्रमुग्ध की भांति उनकी अमृतमय वाणी का रसास्वादन करते हैं उन मुनियों के पास ग्राम प्रचार और भ्रमण करने के लिये एक तालिका बनी हुई होती है जिसमें गांव उनके मार्गों का निर्देशन और प्रतिष्ठित निवासियों व साधारण प्रजाके नाम ठीक पाये जाते है। हमारे विचार म सरकार या देशी राज्यों के राजा अपनी २ सीमामें कई प्रचारक रखकर भी उतना प्रचार नहीं करा सकते जितना प्रचार हमारे जैन मुनि करते हैं। मुनियों के भाषणों का ग्रामीण जनता हृदय से अभिनन्दन करती है और परम्परा द्वारा यह धर्म घोष को प्राप्त कर अपने मानवीय जीवनको सफल बनाती रहती है। मुनिराजों की सात्विकता सजीव होकर ग्रामनिवासियों के सदाचार

का एक कारण बन जाती है और उनके चरित्र निर्माण में पूरी २ सहायक सिद्ध होती है। वीर महाप्रभु द्वारा प्रचारित जैन धर्म इसीलिये ग्रामीण जनता के लिये शहरी जनता से अधिक उपादेय और संस्कृति के निर्माण में अमूल्य निधि कहा जा सकता है।

जैनियों के धार्मिक रीति-रिवाज और पर्व-दिवस

लेखक—डाक्टर रतनलाल चोरड़िया, रतलाम

दीपावली

जैसे, दिन में चार प्रहर होते हैं, व धर्म अर्थ काम, और मोक्ष जीवन के चार पुरुषार्थ कहे गये हैं; ठीक वैसे ही रक्षा-बन्धन विजयादशमी दीपावली और होली ये चार, भारतवर्ष के राष्ट्रीय त्योहार हैं। इन में से 'दीपावली' अपना एक विशेष महत्व रखती है। जैसे शरीर में सिर के एक बार बिगड़ जाने पर भी उस की आकृति में कोई विशेष अन्तर नहीं हो पाता। पागल सिर, चाहे जीवन में मापदंड को भले ही कुछ कम कर देता होगा किन्तु एकाएक जीवन-नाश का परवाना तो वह शरीर के हाथों कभी नहीं सौंप बैठता। वैसे ही हाथों के टूट जाने पैरों के अपंग व शिथिल हो जाने पर भी शरीर-यात्रा का व्यापार येन-केन-प्रकारेण चिरकाल के लिए, चलाता ही रहता है किन्तु पेट यदि पागल हो जाय पेट बिगड़ बैठे पेट में किसी भी प्रकार की गड़बड़ी हो जाय तो सारे शरीर में, चोटी से एड़ी तक, भारी भगदड़ मच जाती है। नींद और खाना सब का-सब हराम हो जाता है। दिल दिमाग और हस्त सब-के-सब अपनी पूरी-पूरी शक्तियाँ जुटा कर, पेट महोदय की सेवा सुश्रूषा में तन्मय हो जाते हैं पेट को कुपित और परेशान देख कर सिर सुस्त हो जाता है, पैर कम्पित हो उठते हैं, हाथ लड़खड़ा जाते हैं। शरीर की सारी प्रकृति बात-की बात में बदल जाती है, और सुन्दर राजमहल चमार के टूटे-फूटे झोंपड़े से भी बदतर नजर आने लगता है। इस से सिद्ध हुआ कि पेट ही दिल दिमाग और हस्त का दिशा-दर्शक यंत्र है। उसी के बल पर शरीर के बल पर, शरीर के बल का अनुमान लगाया जाता है। उस की बढ़ती हुई पाचनशक्ति दिल दिमाग, और हस्त की उन्नगामी हुई तस्वीर है। उस की भली और बुरी स्थिति मनुष्य की मेधा शक्ति और विवेक की ईमानदारी की कमानीदार तराजू है। ठीक वैसे ही दीपावलि भी सम्पूर्ण त्यौहारों की जान और राष्ट्र के वैभव विज्ञान का विपद कला और साम्य की सारमयी धाम है। उसी दिन महासरस्वती महाकाली और महालक्ष्मी की पूजा-अर्चना के मिस राष्ट्र के तीन गुण और रूप

की उपासना का आयोजन किया जाता है। और आगामी पूरे वर्ष के लिए उपयुक्त त्रि-गुणों को अपने वक्ष-पर धारण किये रहने का व्रत लिया जाता है। इसी दिन अरिहन्त श्रमण-शिरोमणि भगवान् महावीर, मोक्ष में पधारे थे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने भी इसी दिन अपने मिशन का कार्य पूरा करके परलोक को प्रस्थान किया था। आज की सूं-अधार परम स्वार्थ-परायण और इहलौकिक सुखों को अपना एक मात्र सर्वस्व समझनेवाली दुनिया को मानव-धर्म का सुन्दर पाठ पढ़ाने वाले स्वामी रामतीर्थजी महाराज का भी इसी दिन जन्म विवाह और निधन हुआ था। अस्तु भगवान् महावीर के निर्वाण पर न केवल मानव समाज ने वरन् देववृन्द ने भी निर्वाणोत्सव मनाया। और आज भी मनाते हैं। 'वीर-संवत्' की उत्पत्ति भी दीपावली ही के दिन से हुई। भगवान् का निर्वाण विक्रमीय संवत से पूरे पूरे ४७० वर्ष पूर्व हुआ था। यूँ विक्रमाब्द में ४७० वर्ष और जोड़ देने पर वीराब्द की संख्या ज्ञात हो जाती है। इसी दिन व्यापारी लोग अपने बही-खातों को बदलते हैं और वर्ष भर का मेल मिला कर लाभ और हानि का अन्दाजा लगाते हैं। इसी दिन स्वाभिमानी राष्ट्र समूचे राष्ट्र के बल, वैभव शिक्षा सभ्यता व्यापार, विवेक बुद्धि नेकनियती सचाई स्वदेशाभिमान और राष्ट्र-हित में बलिदान की वैयक्तिक बात और बालक का व्यापार सब मिला कर राष्ट्र के उत्थान और पतन का बार-वार्षिक-पत्रक तैयार किया करते हैं। स्थावर मकानों की मरम्मत भी ऐसा अवसर पर की जाती है। और देश की दसों दिशाओं में अपनी अपनी शक्ति और सामर्थ्य के अनुसार दीपकमाला के बहाने चारों ओर उपयुक्त गुणों का चटकीला चाँदना फैलाने का संकेत किया जाता है। जैन धर्मावलम्बी व्यक्ति दीपावली को एक त्यौहार ही नहीं वरन् एक परम पावन 'पर्व दिवस' भी मानते हैं।

दूज पंचमी अष्टमी एकादशी चौदस और प्रत्येक पक्खी को जैन धर्मानुसार खाने पीने की वस्तुओं में अक्सर मर्यादा का पूरा पूरा पालन किया जाता है। और, कई लोग व्रत पौषध दया तथा आयम्बिल कर लेते हैं।

मार्गशीर्ष कृष्ण पक्ष की एकम को जैनसाधु चतुर्मास में स्थित स्थानों से विहार (गमन) कर जाते हैं। चातुर्मास-भर, व साधुलोग किसी से कार ऊनी व सूती वस्त्र तथा सुई व धागा नहीं लेते। इसमें भी उन्हें अपनी मर्यादा का तो पूरा-पूरा ध्यान रखना पड़ता है। साधु लोग जब विहार करते हैं तब उनके व्याख्यानों व त्याग भार कथा जैनेतर सभी लोग उनको दूर तक पहुँचाने को जाते हैं। मील-दो मील तक तो प्रायः सभी कोई जाते ही हैं। किन्तु कई अनुरागी भक्त लोग बीसियों मील तक उन्हें पहुँचाने को साथ हो लेते हैं। उस समय की छटा देखते ही बन आती है। समूह के आगे ? कोई जैन-मंडल या किसी सभा के सदस्य, अथवा जैन-पाठशालाओं के छात्र कतारें बाँध कर चलते हैं। इनके पीछे साधुजी या साध्वीजी होती हैं। तब श्रावमियों की कतारें होती हैं जय-धार

से आकाश-मंडल को गुंजाती जाती हैं। और, सब से पीछे माता-बहिनों और कन्याओं का समूह होता है जो समय के अनुकूल बड़े ही करुणा-पूर्ण भजनों से अपने पड़ोसी समस्त वायु-मंडल को इस नश्वर जगत् की असारता और अस्थिरता का सुन्दर सन्देश देता हुआ उसे करुणा सौहार्द त्याग और संयम की दिव्य सुगन्धियों से महका देता है।

पौष मास की कृष्ण दशम को जैनी लोग भगवान् पार्श्वनाथजी की जयन्ती बड़ी ही धूम धाम से मनाते हैं। और इसी तिथि के आस-पास देश में यत्र तत्र कई मेले भरते हैं।

फाल्गुन मास में अनेकों साधुलोग केश लोचन करते हैं। यह कार्य कभी-कभी जन साधारण के सन्मुख भी किया जाता है। इतने ही में सम्पूर्ण चर और अचर जगत् को आध्यात्मिक और बाह्य चेतना का प्रबोध करानेवाला चैत्र मास आ धमकता है। उसी मास में सन्त मुनिराजों की सेवा में देश की दसों दिशाओं से आगामी चातुर्मास में स्थान करने की विनम्र विनंतियाँ पेश होती हैं, और, देश व समाज का तत्कालीन आवश्यकताओं के आधार पर, उन आई हुई विनय विनंतियों पर, गम्भीरता-पूर्वक विचार विनिमय होता है। तब उन पर उचित स्वीकृतियों का दिया जाना भी उसी मास में प्रारम्भ होता है।

चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को यत्र-तत्र देश भर के कोने कोने में श्रमण शिरोमणी वीतराग भगवान् महावीर की जयन्ती बड़े ही समारोह और श्रद्धा के साथ मनायी जाती है। इसी दिन दश के कई दानी मानी और धर्म-प्रेमी लोग, जीव-दया का प्रचार और प्रसार करने की भी यथाशक्य चेष्टा करते हैं और यत्र-तत्र छुट्टियाँ भी मनाई जाती हैं।

वैशाख शुक्ला तीज को यों तो समस्त भारतवर्ष ही अक्षय-तृतीया का त्यौहार मनाता है; पर मारवाड़ में इसकी विशेष महत्ता है। इस दिन गुड़ या शक्कर का गेहूं का खिचड़ा प्रत्येक घर-घर में होता है। इस त्यौहार की पृष्ठ भूमि का भगवान ऋषभदेवजी हैं। मारवाड़ की भूमि ही पर इक्षु-रस के द्वारा आपने बारह माही उपवासों का पारणा किया था। तभी से इस त्यौहार की नींव लगी सुनी जाती है

आषाढ़ के लगते ही जैन साधु लोग चातुर्मास्य करने में अपने-अपने पूर्व निर्धारित और स्वीकृत स्थानों के आस-पास विचरण करने लग जाते हैं। यहाँ के श्रावक और श्राविकाएं उनका सम्मान-पूर्वक स्वागत करती हैं। आषाढ़ी-पूर्णिमा को पैदल चातुर्मासी का प्रेम-पूर्वक प्रतिक्रमण किया जाता है। इस दिन की क्रिया में श्रावकों का भी पर्याप्त मात्रा में योग-दान होता है।

श्रावण से कार्तिक तक के पूरे-पूरे चार महीनों में बिना किसी विशेष मर्यादित के साधु व साध्वी अपने वर्तमान विहार के स्थानों का कम्प्र मास

कर और अधिक से अधिक चार मील के अर्ध व्यास की दूरी से बाहर तो कभी नहीं जा सकते।

इन्हीं चार महिनों में यत्र-तत्र जैन जगत् में तपस्या की मानों बाढ़-सी आ जाती है। कई साधु लोग भी केवल गर्म पानी ही के आधार पर दो-दो तीन-तीन पाँच-पाँच और पन्द्रह-पन्द्रह दिन तक की व कई एक-एक और दो-दो महिनों की घोर तपस्या करते हैं। कई श्रावक और श्राविकाएँ भी हँसते हँसते अपनी श्रद्धा और सात्विक भावों से प्रेरित होकर महिने महिने और दो-दो महिने की घोर तपस्या आराधना कर अपने अपने घनघाती कर्मों के क्षय करने में अनुपम आत्म बल की सम्प्राप्ति करते हैं। इन्हीं दिनों कई जैन बन्धुगण पचरंगी अर्थात् पहले दिन पाँच व्यक्ति मिल कर पाँच २ दूसरे दिन पाँच व्यक्ति चार चार तपराधना करते हैं। तीसरे दिन पांच व्यक्ति तीन तीन चौथे दिन पाँच व्यक्ति दो-दो और पाँच व्यक्ति एक एक दिन के उपवास करते हैं। श्रद्धाशील श्राविकाएँ भी इसी शैली का अनुकरण कर अपने मानव-जीवन को सफल बनाना चाहती हैं। यही हाल 'नौरंगी' और 'सतरंगी' का होता है जिस में क्रमशः नौ-नौ और सात-सात व्यक्ति एक साथ बैठ कर तपाराधना के द्वारा कायिक वाचिक और मानसिक क्लेशों को शमन करने का सुदृढ़ चेष्टा करते हैं।

इन्हीं दिनों सामूहिक रूप से बहुसंख्यक श्रावक और श्राविकाएँ 'दया-पालन करते हैं। उस दिन वे अपने निमित्त नहीं बने हुए आहार-पानी को ग्रहण करते हैं सविघ कार्य नहीं करते हैं गृहस्थी सबंधी काम काज से निवृत्त हो जाते हैं और सारा दिन यातो सामायिक करने में व्यतीत करते हैं या नवकार' मन्त्र राज का जप और चिन्तन करने में बिताते हैं।

'आयम्बिल' और 'निवी' भी इन्हीं दिनों में प्रायः विशेष किये जाते हैं। आयम्बिल में दिन के चौबीस घंटों में से केवल एक बार और वह भी उसाठस करके नहीं वरन् युक्त आहार के रूप में केवल रूखी रोटी या भुने हुए चने या फूली या परमल चांवल के मुरमुरे या भात में से कोई भी धोवन के पानी अथवा गर्म पानी में भिगो कर, खा लिया जाता है। इस प्रकार 'निवी' की आराधना में घी दूध दही मीठे व तेल की वस्तुओं का सर्वथा त्याग करके, केवल रूखी रोटी बिना बघारा साग और मट्ठा-भात सेवन किया जाता है।

इन्हीं दिनों कई लोग चातुर्मास में एक या कई दिनों के लिए, एकाशन करने का व्रत लेते हैं। अर्थात् वे दिन में केवल एक बार भोजन करते हैं।

कई लोग भोजन तो एक बार करते हैं, पर धोवन का या गर्म पानी उस के कुछ देर के बाद पीते हैं। ऐसे ही कई व्यक्ति 'पहरसी' (अर्थात् सूर्योदय के के पश्चात् एक पहर के अन्त में भोजन करने का व्रत) अर्द्ध पहरसी (अर्थात् सूर्योद य के पश्चात्, आधापहर बीत जाने पर) और 'नोकारसी' (अर्थात् सूर्योदय के हो जाने के बाद पाव पहर दिन चढ़ जाने पर) का व्रत धारण करते हैं।

कई धर्म-प्रेमी व्यक्ति पौषध का पालन करते हैं। इस प्रतिपूर्ण पौषध की क्रिया में एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक के समय में आहार, पानी आदि कतई बन्द कर, एक मात्र धर्म-स्थान ही पर, ईश-चिन्तन भजन, और तत्त्व-विचार किया जाता है। एक पौषध यह भी होता है जिस में आहार, पानी तो कुछ भी नहीं किया जाता, पर पहर-भर दिन में रहते-रहते धर्म-स्थान में आकर धार्मिक कार्यों में लग जाना पड़ता है। यूँ यह पांच प्रहर का पौषध हो जाता है। इसी पौषध के पालन में कोई-कोई लोग भोजन तो कुछ भी नहीं करते, परन्तु उचित पानी (अर्थात् धोवन-धावन का अथवा गर्म पानी को ठंडा किया हुआ पानी) मात्र पीकर, दिन में रहते-रहते पौषधशाला अथवा धर्म-स्थानक में आकर, धार्मिक क्रियाओं में संलग्न हो जाते हैं।

जैन-जगत् की भक्ति का परिचय तो सब ही को है। भाद्रव कृष्णा चौदस तेरस से श्वेताम्बर सम्प्रदाय शु० पंचमी से दिगम्बर सम्प्रदाय का पर्वराज पर्यूषण प्रारम्भ हो जाता है। इस पर्व के दिनों में प्रायः सभी श्रद्धालु और धर्म-भीरु श्रावक श्राविकाएं हरी शाक-भाजी का सेवन नहीं करते। प्रसंगवश, आज के विज्ञान का मेल भी हम अपने धर्म के साथ यहाँ मिलाने की चेष्टा करते हैं। आज का विज्ञान जगत् भी उन्हें ऐसा करने से रोकता है। क्योंकि घन घोर वर्षा का समय यह रहता है। सूरज और चाँद टकटकी लगाकर दिन दिन भर देखते हुये परभी दिखते नहीं। सूरज से सम्पूर्ण प्राणी जगत् को जीवन दान मिलता है, और चन्द्रमा की अमृत वर्षा से उसकी जीवन शक्ति में अथक अभिवृद्धि होती है। किन्तु आकाश के मेघाच्छन्न रहने के कारण वर्षाकालीन शाक भाजी और फल फूलों में यह बात केवल नाम ही नाम को देखी जाती है, काम को नहीं। इसके विपरीत शारदीय और हेमन्तऋतु के फल फूलों और शाक भाजियों में, हमें बड़ी ही सरसता मधुरता और जीवनी शक्ति देखने को मिलती है। क्योंकि उस समय आकाश से खुले चँदोवे के नीचे सूरज और चाँद का विपुल प्रकाश उन्हें विशदता पूर्वक और सर्वत्र मिलपाता है। इसी शुद्ध जीवन रक्षण और शरीर पोषक विज्ञान नीति के कारण सनातन धर्मावलम्बी श्रद्धालु पुरुष भी दीपावलि के दूसर दिन अन्नकूट होजाने पर ही फल फूलों और शाक भाजियों को अपने काम में लाते हैं। इसके पहले उनका उपयोग वे नहीं करते।

मादक द्रव्यों का सेवन भी पर्यूषण पर्व के अवसर पर कोई श्रावक श्राविकाएं कभी नहीं करतीं। उन दिनों वे अपना रोजगार भी बन्द रख रखते हैं और अधिक से अधिक संख्या में अधिक से अधिक समय देकर मुनिराजों के मुखसे अपने सद्शास्त्रों का श्रवण कर उनका मनन करते हैं। उस समय साधु और साध्वियाँ अपने प्रवचनों में अन्तकृत-सूत्र और कहीं कहीं कल्पसूत्रों का वर्णन करते अथवा पढ़ते हैं। सौभाग्यवती माताएँ व बहिनें पहली बार, तीन अथवा पाँच या नौ अथवा ग्यारह या तेरह दिन की तपस्या का व्रत करने पर अपनी

तपस्या के अन्तिम दिन बाजे गाजे के साथ, धर्मस्थान में आती हैं। इधर उधर की अन्य सौभाग्यवती नारियाँ जाति बिरादरी के पुरुष भी उनके साथ वहाँ आते हैं। धर्मस्थान पर आकर साधु अथवा साध्वियों से तप व्रत पचख जाते हैं। व्रत रखने वाली माता अथवा बहिन की ओर से कुछ धर्मादा भी उस समय दिया जाता है एवं ही सजधज के साथ वे वापस अपने घर को लौटती हैं। वहाँ साथ वाले भाई और बाइयों को कुछ प्रभावना बाँटी जाती है। उसी समय उनके सम्बन्धियों की ओर से तपस्या करनेवाली बाई को कुछ वस्त्र आदि भी भेंट किये जाते हैं।

भादों शुक्ल पञ्चम को भगवान महावीर के जन्म की पावन कथा पढ़ी जाती है। शुक्ल चौथ और पञ्चमी को संवत्सरी-पर्व बड़े ही समारोह के साथ मनाया जाता है। ये दिन प्रायः पर्यूषण पर्व के अन्तिम दिन होते हैं। उस अवसर पर सात-आठ वर्ष के बालक-बालिकाओं से लगाकर बूढ़े और बूढ़ियों तक और सभी साधु तथा साध्वियाँ सभी पूरे पूरे दिन का उपवास रखते हैं। साधु-और साध्वियाँ तो उस दिन पानी का एक बूँद तक भी ग्रहण नहीं करते। कई श्रावक और श्राविकाएँ, इस दिन पौषध भी करते हैं। साधु तथा साध्वियाँ अपने अपने केशों का लोच भी संवत्सरी के पहले कर लेते हैं। उसी दिन सन्ध्या के समय सभी लोग क्या साधु और साध्वियाँ व क्या श्रावक और श्राविकाएँ वर्ष भर के कार्यों की आलोचना कर के प्रतिक्रमण करते हैं। और तब एक-दूसरे से क्षमा माँगते हैं। दूसरे दिन प्रायः जैन बन्धु एक-दूसरे के घर जा जाकर क्षमा-याचना करते-कराते हैं।

संवत्सरी पर्व के दूसरे दिन से ही सभी दिगम्बर जैन बन्धु दस लक्षणी पर्व-दिवस मनाते हैं।

प्रायः सभी जैन-बन्धु बिना छाना हुआ जल तो कभी नहीं पीते। कई जैनी लोग रात्रि में कोई भी पदार्थ नहीं खाते। कई लोग अपने मुख पर मुँहपत्ती रखते हैं।

रक्षा-बन्धन के त्योहार की उत्पत्ति भी जैन मुनियों के रक्षा करने पर हुई है। आज तो उस का प्रभाव भारतवर्ष के प्रत्येक घर घर पर छाया हुआ है।

लग्न के समय जो तोरण द्वार से पीछे फिर जाते हैं यह भगवान नेमिनाथजी के अनुकरण का स्पष्ट प्रमाण है। नेमिनाथजी जब विवाह के लिए गए थे और वहाँ जब उन्होंने बरातियों के सत्कार के हित पशुओं का वध के लिए घेरा हुआ देखा तब उन मूक और निरपराध प्राणियों के करुण क्रन्दन को सुन कर उन का हृदय काँप उठा और वे वहीं से उल्टे पैरों लौट पड़े। बस उसी काल का अनुकरण आज भारतीय समस्त जातियों में घर घर हो रहा है। इस से स्पष्ट जाना पड़ता है कि उन दिनों जैन धर्म का झंडा भारत के गगन मंडल में बड़ा ही ऊँचा उड़ रहा

फहरा रहा था। और जिस की छत्रछाया में आकर यहाँ की प्रत्येक कौम का प्राणी निश्चित शान्ति सुख और सभ्यता का सहज उपभोग करता अथवा कर्तव्य तथा धर्म मान रहा था।

दीक्षा संस्कार का महत्त्व भी जैन धर्मावलम्बियों के लिए बड़े ही महोत्सव का विषय होता है। जैनधर्म की छत्रछाया में जिस किसी भी भाई अथवा बहिन या आठ वर्ष के ऊपरवाले किसी भी बालक अथवा बालिका का मन संसार की असारता से ऊब उठा है वह अपने घर के बड़े बूढ़ों अथवा जाति के बुजुर्गों की स्वीकृति लेकर दीक्षित हो सकता है।

दीक्षाभिलाषी व्यक्ति को सर्वांग पूर्ण सजा कर दो चार दस अथवा अधिक दिनों के लिए बड़े ही समारोह के साथ बिंदोरे निकाले जाते हैं। परिवार तथा जाति बिरादरी की माताएं और बहिनें बिन्दोरियों के पीछे अनुगमन करती हुई कोकिल कंठ से बड़े ही मधुर मधुर वैराग्य को उपजाने वाले भजनों को गाती जाती हैं ज्यों ज्यों दीक्षा का समय नजदीक पहुँचता जाता है वैसे ही वैसे उस उत्सव में भी अभिवृद्धि होती जाती है। दीक्षा के निर्धारित दिन जाति भर के लोग जैनेतर बन्धुओं को साथ ले बड़ा भारी जुलूस निकालते हैं। तब यह जुलूस दीक्षा के निर्धारित स्थान पर पहुँचता है। अन्त में दीक्षित वैरागी सांसारिक जीवन का वेष उतार फेंकता है। और उसके बदले वह साधु अथवा साध्वी का (व्यक्ति के अनुसार) वेष धारण कर सांसारिक मोह और नातों से सदा के लिए अपना सम्बन्ध तोड़ देने की प्रतिज्ञा धारण करता है। यहीं दीक्षित व्यक्ति को पञ्च महाव्रत का आवश्यक पाठ दीक्षा देने वाले पढ़ाते हैं। उस दृश्य को देखने पर पत्थर-से-पत्थर हृदय पुरुष का भी हृदय करुणा से पूर्ण हो उठता है सारा का सारा वातावरण वहाँ का उस समय संसार की वीतरागिता से भर जाता है उपस्थित जनता दीक्षित व्यक्ति के चरणों का नमन करती हुई उस के आत्मिक बल की हृदय से सराहना करती है और वीर भगवान के जय घोष से गगन को गुँजा देती है।

जैन धर्म और समाजवाद के सिद्धान्तों का साम्य

लेखक—श्री खीमचन्द मगनलाल वोरा, बम्बई

जैन दर्शन को अनेकान्तवाद की विशाल दृष्टि प्राप्त हुई। यह देखते हुए समाजवाद के कितनेक मूलभूत सिद्धान्त जैन धर्म के सिद्धान्तों से इतने मिलते जुलते हैं कि ऐसा प्रतीत होने लगता है कि ये जैनधर्म से ही लिये गये हैं। परिग्रह मर्यादा, समानता, निस्स्वार्थता आदि जिन अंशों में जैनधर्म में प्रतिपादित हैं उन्हीं को प्रकारान्तर से समाजवाद ने भी स्वीकार किया है। अनेकान्तवाद के विराट सिद्धान्त द्वारा जैनदर्शन ने जैसे सर्वधर्मसमभाव प्रकट किया है उसी प्रकार समाजवाद ने समग्र मानवसमाज के साथ समानता और भ्रातृभाव बतलाया हो। जैनधर्म समाजवाद के इन सिद्धान्तों की समीक्षा कर इस लेख के द्वारा हम पारस्परिक समन्वय की परिपाटी से विचार करेंगे।

समाजवाद का प्राथमिक सिद्धान्त समानता है। समाजवाद की समानता का अर्थ है भौतिक जगत् की आर्थिक समानता। पारलौकिक दृष्टिबिंदु उसे मान्य नहीं। अगर उसे स्वीकार है तो उसकी प्ररूपणा मान्यता भिन्न प्रकार की होगी। यहां पर अब आर्थिक समानता असमानता का प्रश्न है। जहां आर्थिक समानता नहीं है वहां गरीबी और सम्पत्तिवाद के समान दो परस्पर विरोधी तत्वों का अस्तित्व है। जगत् की आज की गरीबी यह मात्र आज के समाज विधान (बंधारण) और आर्थिक व्यवस्था का परिणाम है। यह नहीं समझना चाहिए कि यह आर्थिक असमानता सनातन और प्राकृतिक है। मानव ने स्वयं यह पैदा की है और मानव स्वयं ही उसे बदल सकता है। किसी के कर्म या भाग्य का यह परिणाम नहीं है। समानता के सर्वमान्य सिद्धान्तों के अनुसार बटवारा करना स्वीकार किया जाय तो आर्थिक असमानता दूर हो और आर्थिक परिस्थिति हलकी बने। फिर आध्यात्मिक उत्क्रान्ति आये बिना नहीं रह सकती।

जैन दर्शन में समानता के सिद्धान्तों पर ही समाज प्रासाद की नींव डाली है। ऊंच नीच के भेद या वर्णाश्रम जैसे भेदभाव यहां नहीं है इतना ही नहीं परन्तु मनुष्य का जीवन भी समानता और परिग्रह की निश्चित मर्यादा में सीमित किया है जिसके द्वारा आर्थिक समानता भी टिक सकती है। जैनों के परिग्रह परिमाण व्रत में द्रव्य धनाज हीरा माणिक सुवर्ण नौकर परिचारक पशुपालन और कृषि आदि भौतिक पदार्थों की मर्यादा को स्वीकार करने की भी दृष्टि है। इस परिपाटी से व समानता की प्रत्येक श्रेणी तक जैनधर्म में समाजवाद के तत्त्व पूर्णरीति से

भरे हुए हैं यह देखा है। लोगों में से एक भाग यह कहता है कि जैनधर्म और समाजवाद के सिद्धान्तों का समन्वय मात्र उत्पत्ति की दृष्टि से ही दिखाई देता है। अन्यथा समाजवाद और जैनधर्म के दो परस्पर विरोधी तथ्यों का सम्मिलन हो यह दृष्टि अधिकांशतः असत्य है। अहिंसा समाजवाद के वातावरण में (विष्वम) में क्रांति है। किसी भी क्षेत्र में यह थोड़े भी सुधारों को स्वीकार करने को तैयार नहीं है परन्तु वर्तमान समाज विधान (वातावरण) में समाजवाद सर्वांगी परिवर्तन और क्रांति चाहता है।

ऐहिक जीवन में समाजवाद प्रत्येक मानवी को अपनी सब शक्तियों को शारीरिक मानसिक और आंतरिक पूर्णत: विकासने की अपेक्षा रखता है। प्रत्येक मानव को अपनी आवश्यकता में उसके प्राथमिक अधिकार के तौर पर उसी प्रकार मिलनी चाहिये। पंचेन्द्रिय मनुष्य को सभी प्रकार की समानता समानाधिकार और सम्मान प्राप्ति का सम्पूर्ण अधिकार यह समाजवाद की प्रथम रम है। जैनधर्म भी भाव परिपाटी से मनुष्य के समान अधिकार और समानता के सिद्धान्तों को स्वीकार करता है। परन्तु जैन धर्म का दृष्टि-बिंदु ऐहिक सुखों को गौण मानता है और पारलौकिक सिद्धान्तों को विशेष आवश्यक समझता है। ऐहिक सुखों को जैनदर्शन निरर्थक सा गिनता है क्योंकि उसका दृष्टि बिंदु सर्वथा पारलौकिक है। यों समाजवाद और जैन धर्म समानता के सिद्धान्तों को स्वीकार करता है तथापि दोनों दृष्टि में आमूलाग्र भेद है। समाजवाद मात्र इस लोक की सुख प्राप्ति की खोज करता है जबकि जैन धर्म परलोक के सुख को ही प्रधानता देता है समाजवादी आत्मा मोक्ष कर्म पुण्य और पाप के सिद्धान्तों को आध्यात्मिक नहीं किन्तु भौतिक ही मानता है। समाजवादी के लिए आत्मा और शरीर का विरोध नहीं है जबकि जैन धर्म का देहाध्यास कम करने का ध्येय है। पुनर्जन्म की मान्यता समाजवादी को स्पर्श नहीं करती क्योंकि उसकी दृष्टि-मर्यादा इस लोक में परिसमाप्त होती जाती है। कर्म या नसीब की मान्यता को समाजवादी ने प्रथम दृष्टि से ही धुत्कारा है। उसका कारण यह है कि मनुष्य मनुष्य में आर्थिक समानता नहीं है क्योंकि उसकी कर्मगति नहीं है और न किसी के कर्म या नसीब का परिणाम है। परन्तु मुट्ठीभर वादियों ने विषमताओं का सर्जन किया है और जब तक आर्थिक-असमानता दूर नहीं होगी तब तक मानव सर्जित गरीबी भी दूर न होगी। समाजवादी को मोक्ष या स्वर्ग प्राप्ति को कोई निश्चित पारगामी दृष्टि की आवश्यकता भी नहीं है उसका जन्म किसी विशिष्ट प्रकार की कर्मप्ररूपणा की दृष्टि से हुआ है यह दृष्टि उसे मान्य नहीं है। आत्मा की मुक्ति के लिये व्रत तप नियम पच्चक्खाण या देहदमन के लिये बाह्य या आन्तरिक तप की आवश्यकता को वह स्वीकारता भी नहीं। उसका मन उसका धर्म एक ही है और वह है मानव-सेवा। उसका कर्तव्य एक ही है और वह है समाज-सेवा। उसकी सिद्धि का साधन एक ही है और वह है जगत के सब मनुष्यों में सर्वांगी-समानता।

अब जैन दर्शन के सिद्धान्तो पर विचार करें । जैनधर्म के मत में तो मनुष्य जन्म कर्म विपाक का एक प्रतीक है । जन्म मरण के चक्कर सर्वतः रूप से समाप्त हो जाय यह जैन धर्म का मुख्य ध्येय है । और उस मोक्ष की प्राप्ति के लिए "अहिंसा संयमो तवो" के समान तीन आधारों को प्रधानता दी गई है । अहिंसा के सर्वमान्य सिद्धान्त पर सभी अनुष्ठानों का सम्मिलन किया गया है जिसमें अहिंसा अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह आदि का समावेश हो जाता है । ऐसे जैनधर्म में कहीं भी जातिभेद वर्णभेद या ऊँच नीच के भेद नहीं है । सर्वत्र समभावना और समानता ये धर्म के सिद्धान्तों में ओतप्रोत हैं इस दृष्टि से ऐहिक जगत् की सर्वमान्यताओं को समाजवादी ने सर्वतः रूप से स्वीकार की है और वह समानता व उसी विधान दृष्टि की श्रेणी में दोनों के बीच बहुत ही साम्य है । दोनों के बीच परिग्रह के सर्वमान्य प्रश्न के बारे में अद्भुत साम्य है और परिग्रह-परिमाण की दृष्टि से जैनधर्म में समाजवाद बहुत ही ओतप्रोत है यह निर्विवाद है । जैनधर्म पारलौकिक दृष्टि से देहाध्यास कम करने और परिग्रह छोड़ने का उपदेश देता है जबकि समाजवाद अन्य मानवी सिद्धान्तों का शोषण कर उनके भोग में अपने स्वार्थ साधने में पाप मानता है । एक ही सत्ता उत्पादन के साधनों की खानगी मालिकी का नाश और मर्यादा बाहर का धनसंचय में सब तत्त्वों की सामाजिक व्यवस्था समाजवादी समानता की श्रेणी में निश्चित करना चाहता है परन्तु ये वस्तु आज के युग में और हमारी दृष्टि से नूतनतम दिखती है जरूर परन्तु प्राचीन श्रेणी के ये आवश्यक सामाजिक व्यवस्था के तत्त्व हैं जिन्हें आज नये स्वरूप से समाजवादी नये समाज बन्धारण (विधान) में आवश्यक मानकर स्वीकृत किये हैं । जैन दर्शन तो समानता की श्रेणी से ही समाज व्यवस्था कर रहा है । जिस धर्म में जातिजाति के भेद नहीं है और ऊँच नीच के भी भेदभाव नहीं हैं और जहां परिग्रह को महापाप माना गया है और जहां मनुष्य मनुष्य के बीच किसी प्रकार का भेद भाव नहीं रक्खा गया है ।

यों अनेकान्त दृष्टि से जैन दर्शन और समाजवाद के सिद्धान्तों में बहुत साम्य नहीं है । कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जैन धर्म में अकेला साम्यवाद ही भरा हुआ है । और यों मानने के कुछ कारण ऐसे हैं स्पष्ट है कि प्रथम दृष्टि से ही उस मान्यता को स्वीकार की जाय । समाजवाद की सर्व प्रथम दृष्टि प्रत्येक मनुष्य की शारीरिक और मानसिक आवश्यकताएं पूर्णतः पूर्ण की जाँय और जगत् के प्रत्येक मनुष्यों के बीच ऊँच नीच या जाति जाति के भेद सिवाय समानता की श्रेणी में जीवन धारण निर्मित हो यह देखने की है । और जैन दर्शन तो इन सब सिद्धान्तो एवं समानताओं को पारलौकिक रीति से स्वीकार करता है यों अनेकान्तवाद की दृष्टि से जैन दर्शन और समाजवाद सर्व सामान्य समानता का अवबोधन करते हैं परन्तु समाजवाद मुख्यतः ऐहिक सुख की भावना में रहता है जब कि जैन धर्म की दृष्टि मात्र पारलौकिक दृष्टि की सिद्धि में परिसमाप्ति अनुभव करती है । इत्यलम् —

महावीर स्वामी की शिक्षा का महत्व

लेखिका—सौ० मायावती जैन, प्रभाकर, लाहौर (पंजाब)

चारों ओर घोर अन्धकार छाया हुआ था। मानवता सोई पड़ी थी यदि कोई वस्तु जागृत थी तो वह थी दानवता। मानव एक हिंस्र व्याघ्र से भी अधिक भयानक तथा अधिक वीभत्स होगया था। धर्म के नाम पर दीन हीन मूक पशुओं की गर्दनों पर तलवारें चलाते हुये क्रूर मानव ज़रा भी न हिच किचाता था वरन् विजयोल्लास में मदमत्त मानवी वेष में छिपी हुई दानवता इन दयनीय बलिदानों को और भी उत्साह प्रदान करती रहती थी यह बात केवल पशुओं तक ही सीमित न थी बल्कि जीवित मनुष्य तक भी यज्ञ वेदियों पर स्वाहा कर दिये जाते थे। चारों ओर त्राहि त्राहि मची हुई थी। हिंसा का बोलबाला था अहिंसा का तो अस्तित्व सा ही मिट गया था। ऐसे समय में एक राजपुत्र नहीं २ एक मानव-पुत्र और सच्चा मानव अपने राजसी महल में रहता हुआ कुछ सोचा करता था बात कुछ नहीं थी केवल उसके अन्तस्तल में सोई हुई मानवता जाग उठी थी।

वह अपने वैभव-विलास से सन्तुष्ट नहीं थे। राजकीय वस्त्राभूषण उन्हें प्रसन्नता प्रदान करने में असमर्थ थे उन नानाप्रकार के भोजनों में उनके लिये कोई आकर्षण न था यहां तक कि वह अपनी अत्यन्त गुणशीला एवं सुन्दरी पत्नी तथा भोली भाली शिशुकन्या से भी उदासीन होचुके थे। वह प्रदोष की मौन नीरव सुन्दरता में सहसा विचार मग्न होजाते। उस समय असंख्य जिज्ञासाएँ उनके मस्तिष्क में एकबारगी चक्कर काट आया करतीं।

अन्त में एक शुभदिवस ऐसा भी आया जबकि उनके जीवन की यह चिर सहाति आकांक्षा पूर्ण हुई। उन्हें नागरिकों ने एक अत्यन्त विनीत भिक्षु के रूप में वनपथ की ओर जाते देखा। किसी अज्ञात प्रेरणा द्वारा उनकी पलकें स्वयं ही महान शक्ति के सन्मुख झुक गईं।

यह महापुरुष अपने अन्तःकरण में एक दृढ़ लगन एक दृढ़ संकल्प एक तीव्र जिज्ञासा लिये अगम पथ की ओर अग्रसर होरहे थे। यज्ञ वेदियों के संमुख रखी हुई पशुबलियों तथा शोणित में सनी तलवारें देख कर उनका कोमल हृदय विकम्पित हो उठा। मानों सहस्त्रों बिच्छुओं के डंक मारने की पीड़ा से पीड़ित हो उठे हों। इस प्रकार की असंगत सी बातें उनकी कोमल विचारधारा के सर्वथा प्रतिकूल थीं अतः उनको एक ज़बरदस्त मानसिक धक्का लगना स्वाभाविक ही था।

परन्तु उस धक्के ने उन्हें साहस ही दिया। वह अपने पथ पर निरन्तर चलते ही गये। उन्होंने जो कुछ भी देखा उसे पहले अन्तः प्रदेश में सोचा अनुभव किया

अब जैन दर्शन के सिद्धान्तों पर विचार करें । जैनधर्म के मत में तो मनुष्य जन्म कर्म विपाक का एक प्रतीक है । जन्म मरण के चक्कर सर्वथा रूप से समाप्त हो जाय यह जैन धर्म का मुख्य ध्येय है । और उस मोक्ष की प्राप्ति के लिए अहिंसा संयमों तपों के समान तीन आचारों को प्रधानता दी गई है । अहिंसा के सर्वमान्य सिद्धान्त पर सभी अनुष्ठानों का सम्मिलन किया गया है जिसमें अहिंसा अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह आदि का समावेश हो जाता है । ऐसे जैनधर्म में कहीं भी जातिभेद वर्णभेद या ऊँच नीच के भेद नहीं है । सर्वत्र समभावना और समानता ये धर्म के सिद्धान्तों में ओतप्रोत हैं इस दृष्टि से ऐहिक जगत् की सर्वमान्यताओं को समाजवादी ने सर्वथा रूप से स्वीकार की हैं और यह समानता व उसी विशाल दृष्टि की श्रेणी में दोनों के बीच बहुत ही साम्य है । दोनों के बीच परिग्रह के सर्वमान्य प्रश्न के बारे में अद्भुत साम्य है और परिग्रह-परिमाण की दृष्टि से जैनधर्म में समाजवाद बहुत ही ओतप्रोत है यह निर्विवाद है । जैनधर्म पारलौकिक दृष्टि से देहाध्यास कम करने और परिग्रह छोड़ने का उपदेश देता है जबकि समाजवाद अन्य मानवी सिद्धान्तों का शोषण कर उनके भोग में अपने स्वार्थ साधने में पाप मानता है । एक ही सत्ता उत्पादन के साधनों की खानगी मालिकी का नाश और मर्यादा बाहर का धनसंचय में सब तत्त्वों की सामाजिक व्यवस्था समाजवादी समानता की श्रेणी में निश्चित करना चाहता है परन्तु ये वस्तु आज के युग में और हमारी दृष्टि से नूतनतम दिखती है जरूर परन्तु प्राचीन श्रेणी के ये आवश्यक सामाजिक व्यवस्था के तत्त्व हैं जिन्हें आज नये स्वरूप से समाजवादी नये समाज कल्याण (विधान) में आवश्यक मानकर स्वीकृत किये हैं । जैन दर्शन तो समानता की श्रेणी से ही समाज व्यवस्था कर रहा है । जिस धर्म में जातिजाति के भेद नहीं है और ऊँच नीच के भी भेदभाव नहीं हैं और जहां परिग्रह को महापाप माना गया है और जहां मनुष्य मनुष्य के बीच किसी प्रकार का भेद भाव नहीं रक्खा गया है ।

यों अनेकान्त दृष्टि से जैन दर्शन और समाजवाद के सिद्धान्तों में बहुत साम्य नहीं है । कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि जैन धर्म में अकेला साम्यवाद ही भरा हुआ है । और यों मानने के कुछ कारण ऐसे हैं स्पष्ट ही कि प्रथम दृष्टि से ही उस मान्यता को स्वीकार की जाय । समाजवाद की सर्व प्रथम दृष्टि प्रत्येक मनुष्य की शारीरिक और मानसिक आवश्यकताएं पूर्णतः पूर्ण की जाँय और जगत् के प्रत्येक मनुष्यों के बीच ऊंच नीच या जाति जाति के भेद सिवाय समानता की श्रेणी में जीवन धारण निर्मित हो यह देखने की है । और जैन दर्शन तो इन सब सिद्धान्तों एवं समानताओं को शास्त्रोक्त रीति से स्वीकार करता है यों अनेकान्तवाद की दृष्टि से जैन दर्शन और समाजवाद सर्व सामान्य समानता का सब पोषण करते हैं परन्तु समाजवाद मुख्यतः ऐहिक सुख की साधना में रहता है जब कि जैन धर्म की दृष्टि मात्र पारलौकिक दृष्टि की सिद्धि में परिसमाप्ति अनुभव करती है । इत्यलम् —

महावीर स्वामी की शिक्षा का महत्व

लेखिका—सौ० मायावती जैन, प्रभाकर, लाहौर (पंजाब)

चारों ओर घोर अन्धकार छाया हुआ था। मानवता सोई पड़ी थी यदि कोई वस्तु जागृत थी तो वह थी दानवता। मानव एक हिंस्र व्याघ्र से भी अधिक भयानक तथा अधिक बीभत्स होगया था। धर्म के नाम पर दीन हीन मूक पशुओं की गर्दनों पर तलवारें चलाते ये क्रूर मानव ज़रा भी न हिचकिचाता था वरन् विजयोल्लास में मदमत्त मानवी वेष में छिपी हुई दानवता इन दयनीय बलिदानों को और भी उत्साह प्रदान करती रहती थीं यह बात केवल पशुओं तक ही सीमित न थी बल्कि जीवित मनुष्य तक भी यज्ञ वेदियों पर स्वाहा कर दिये जाते थे। चारों ओर त्राहि त्राहि मची हुई थी। हिंसा का बोलबाला था अहिंसा का तो अस्तित्व सा ही मिट गया था। ऐसे समय में एक राजपुत्र नहीं २ एक मानव-पुत्र और सच्चा मानव अपने राजसी महल में रहता हुआ कुछ सोचा करता था बात कुछ नहीं थी केवल उनके अन्तरात्म में सोई हुई मानवता जाग उठी थी।

वह अपने वैभव-विलास से सन्तुष्ट नहीं थे। राजकीय वस्त्राभूषण उन्हें प्रसन्नता प्रदान करने में असमर्थ थे उन नानाप्रकार के भोजनों में उनके लिये कोई आकर्षण न था यहां तक कि वह अपनी अत्यन्त गुणशीला एवं सुन्दरी पत्नी तथा भोली भाली स्निग्धकन्या से भी उदासीन होचुके थे। वह प्रदोष की मौन नीरव सुन्दरता में सहसा विचार मग्न होजाते। उस समय असंख्य जिज्ञासायें उनके मस्तिष्क में एकबारगी चक्कर काट जाया करतीं।

अन्त में एक शुभदिवस वह भी आया जबकि उनके जीवन की वह चिर महती आकांक्षा पूर्ण हुई। उन्हें नागरिकों ने एक अत्यन्त विनीत भिक्षु के रूप में वनपथ की ओर जाते देखा। किसी अज्ञात प्रेरणा द्वारा उनकी पलकें स्वयं ही महान शक्ति के सम्मुख झुक गईं।

वह महापुरुष अपने अन्तःकरण में एक दृढ़ लगन एक दृढ़ संकल्प एक तीव्र जिज्ञासा लिये अगम पथ की ओर अग्रसर होरहे थे। यज्ञ वेदियों के सम्मुख रक्खी हुई पशुबलियाँ तथा शोणित में सनी तलवारें देख कर उनका कोमल हृदय विकम्पित हो उठा। मानों सहस्रों बिच्छुओं के डंक मारने की पीड़ा से पीड़ित हो उठे हों। इस प्रकार की असंगत सी बातें उनकी कोमल विचारधारा के सर्वथा प्रतिकूल थीं अतः उनको एक जबरदस्त मानसिक धक्का लगना स्वाभाविक ही था।

परन्तु उस धक्के ने उन्हें साहस ही दिया। वह अगम पथ पर निरन्तर चलते ही गये। उन्होंने जो कुछ भी देखा उसे पहले अन्तः प्रेक्षा में सोचा, अनुभव किया

तत्पश्चात् उसके विषय में कुछ निर्धारित किया एवं तत्काल ही उसे कार्य में परिणत कर दिया।

वह वन-वन में भटकते फिरे उन्होंने घोर तपश्चर्या की अनेक परिषह शान्त भाव से सहन किये। यही समय उनके कठिन परीक्षण का था। कहते हैं उनके कानों में कीले ठोके गये और वह मौन रहे। देवलोक से संगम देव आया और उसने उन्हें भांति २ के प्रलोभन देकर ललचाया पर उन्होंने दृष्टि तक भी न उठाई। और भला उठाते भी किस प्रकार जबकि उनके मन में केवल एक धुन थी कि वह समस्त सृष्टि के मानव नामधारियों को मानवता सिखायें उसी के द्वारा उनका अपना कल्याण भी होगा। यह किस प्रकार हो सकता था इसी विषय को मनन करने में इसी की खोज में उन्होंने अपने जीवन के समस्त व्यापार केन्द्रित कर दिये थे क्योंकि यही तो उनके संसार त्याग का परम रहस्य तथा मुख्य था। अन्त में वह अपनी अत्यधिक तल्लीनता संलग्नता तथा कठिन परिश्रम के कारण अपने कार्य में सफलीभूत हुए। अब वह एक विजयी पथिक थे जितेन्द्रिय व दार्शनिक थे अरिहंत थे एकनिष्ठ योगी थे केवल ज्ञानी थे और थे एक आत्मशक्ति के धारक। *

उन्होंने अपने अनुभव से प्राप्त की हुई बातें जनता के सामने सीधी सादी सरल भाषा में खोलकर रखदीं। एक भी शब्द उनकी शिक्षाओं में ऐसा न था जिसे निरर्थक कहा जा सके। प्रत्येक व्यक्ति उन शिक्षाओं को अपनाने का समान अधिकार रखता था। सर्व प्रथम अहिंसा को उन्होंने मनुष्य का परम धर्म बताया। यह आज भी उनके उपदेशों से जानी जा सकती है। यह अहिंसा कायरों की अथवा भीरुओं की अहिंसा नहीं वरन् विश्व व्यापी अहिंसा थी। आज भी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में यह ठीक खरी उतरती है प्रत्येक समस्या पर प्रकाश डालती है तथा प्रत्येक पहलू में लागू हो सकती है। इसके साथ ही उन्होंने न केवल यही बताया कि एक मनुष्य की तथा दूसरे मनुष्य की आत्मा में कोई अन्तर नहीं है बल्कि समस्त प्राणी मात्र की आत्मा एक ही है यह कहकर उन्होंने विश्व मैत्री तथा मानवता का अमर दिव्य सन्देश दिया। अधम से अधम तथा पतित से पतित प्राणी की आत्मा भी प्रयत्न करने पर परमात्मा बन सकती है प्राणी अपने कर्मों का कर्ता तथा भोक्ता स्वयं ही है। इसप्रकार निर्विकार निर्लिप्त हो इस प्रकार श्री वीर स्वामी दो रूप में जनता के सामने आये। एक महान दार्शनिक के रूप में और एक महान सुधारक के रूप में। महान दार्शनिक के रूप में उन्होंने जनता को आत्मा के स्वरूप उसका विकास तथा परमात्मा की सत्ता इत्यादि के विषय में बहुत कुछ बताया तथा महान सुधार के रूप में उन्होंने श्रावक धर्म साधु धर्म तथा अहिंसा इत्यादि विषयों को प्रतिपादित किया। इन विषयों का अध्ययन करने के पश्चात् श्री वीर भगवान की ज्ञान गंभीरता तथा दृष्टि सिद्धान्तता का परिचय मिलता है कि किस भांति प्रत्येक बात उनकी गहराई में डूब कर उसके अन्तस्तल तक पहुँच कर कही गई है। उनकी अहिंसा का महान सिद्धान्त केवल एक ही जाति अथवा देश विशेष

के लिये नहीं अपितु समस्त विश्व और समस्त कालों में समान रूप से लागू हो सकता है। उस प्राचीन कालमें जबकि प्राणी बिलकुल अन्धकार में लिप्त थे अपने अस्तित्व से भी अपरिचित हो चुके थे न कोई जागृति रह गई थी न जीवन था। महावीर की अहिंसा ने वह अमर जीवन फूंका था कि मृतप्रायों में भी प्राण आगई और उनके इस उपहार से मनुष्य ही नहीं पशु पक्षी इत्यादि तक भी सन्तुष्ट हुये।

आज जबकि विश्व के कोने २ में युद्ध जनित भयंकर तूफान व्याप्त होने के पश्चात् भी शान्ति की सम्भावना दृष्टिगोचर नहीं होती। मानव-रक्त की इतनी बड़ी होली खेली जा चुकी है किन्तु तो भी निर्णय न हो पाया। बस एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को हड़प जाने की इच्छा से लोलुप गिद्ध दृष्टि से ताका करता है। मानवता का दमभरने वाले बड़े २ राष्ट्र मानवता की ओट में उसीकी हत्या में व्यस्त रहते है तथा साम्राज्यवाद की पुष्टि करके दानवता को जीवन देते है। कई देशों का यह मत है कि अशान्ति की भीषण लहरों को रोकने के लिये युद्ध का होना आवश्यक है परन्तु इतना नरसंहार तथा रक्तपात होने पर भी सर्वत्र अशान्ति ही अशान्ति व्याप्त है अब भी अतुल ऐश्वर्यशाली देश अपनी सम्पत्ति बड़ी तेजी से अस्त्रनिर्माण में लगा रहे हैं। एटम बम जैसे महान घातक अस्त्र का आविष्कार शान्ति स्थापन के लिये हुआ है! कहना पड़ेगा कि आज का जगत् जिसे हम वैज्ञानिक तथा उन्नति शील कहते हैं। विद्युत गति से अपने ही विनाश की ओर दौड़ा जा रहा है। अतः इस अशान्ति तथा असन्तोष के काल में योगी महावीर की अहिंसा एक देश में या एक जाति में ही नहीं वरन् समूचे जगत के राष्ट्रों में सच्ची शान्ति का साम्राज्य स्थापित कर सकती है।

GIFTS OF JAINISM TO MANKIND

by

Dr A. N Upadhye

Jainism is an important Indian religion As a social organisation consisting of monks, nuns house-holders and house-ladies it has survived the ravages of time with remarkable conservatism and tenacity even to this day Therein lies the nobility of its philosophy as well as the stability of its moral values

The Jaina philosophy is characterised by certain fundamental features. The Jaina God is not a creator not merely an idol; but he stands for the highest spiritual

ideal which every soul must try to attain by following the path of religion The spirit is not at the mercy of any deity but he is the master of his own destiny ever pursui ng his path acording to his karman the doctrine about which is worked out in all the details in Jaina works and nothing like which is found in any other Indian system of religious thought

Jaina epistemology is quite original in many of its details the conception of omniscience indicates what the ideal knowledge should be like The mundane beings are typically imperfect their understanding is partial and their expression is limited especially when the complex reality with its manifold qualities and modes extended over three times is being tackled. It is to face this problem Jainism has promulgated the Nayavada and Syadvada: the former tries to analyse reality from different points of view and the latter makes an attempt to state the same as truly as possible

In the Jaina scale of ultimate evalution, the highest value is set on life which is not to be subjected to any violence in thought word and deed The sanctity of life is above everything All other ethical principles such as Truthfulness, Not-stealing Chastity and possessionlessne-ss are just the corollaries of Ahinsa which is the highest principle It is the monk that tries to practise it ideally while the house-holder follows the same with certain reservations. what the Nayavada and Syadvada achieve in the intellectual fields, the Ahinsa achieves in the socio mo-ral field

In assessing the contribution of Jainism to the religious heritage of India we have to take into special account the Jaina doctrines of Karman Syadvada and Ahinsa which, if properly understood have a great bearing on the progress of man along the proper path.

जैन धर्म की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि

लेखक—साहित्यरत्न उपाध्याय पण्डित मुनि श्री प्यारचन्दजी महाराज

जिस प्रकार यह सृष्टि प्रवाह अनादि अनन्त है इसी तरह जैनधर्म भी अनादि अनन्त है। जो वस्तु अनादि होती है उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न ही नहीं उठ सकता। जैन धर्म ही ऐसा धर्म है जिसकी उत्पत्ति का पता नहीं लगाया जा सकता। जैसे काल चक्र अनादि और अनन्त है तो उत्पत्ति के लिए कोई प्रश्न नहीं हो सकता है। यही बात जैनधर्म के सम्बन्ध में समझनी चाहिए। यह धर्म काल-प्रवाह के समान अनादि अनन्त है।

जिस प्रकार चन्द्रमा की कलाएँ घटती-बढ़ती रहती हैं इसी तरह जैनधर्म भी वृद्धि-हानि पाता रहता है। कभी पूर्णिमा का चन्द्रमा अपनी समस्त कलाओं से पृथ्वी को आप्लावित करता है तो कभी कृष्णपक्ष की अमावस्या का चन्द्रमा तिरोहित हो जाता है। इसी तरह कभी जैनधर्म अपने समग्र रूप में प्रकाशित होता है और कभी कालप्रभाव से इसकी ज्योति हीन हो जाती है या कहीं छिप जाता है। चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में बढ़ता है और अमावस्या को क्षीण हो जाता है और पुनः शुक्ल पक्ष में उदित होता है इससे चन्द्रमा की नवीन उत्पत्ति नहीं समझी जाती है। सूर्य का नित्यप्रति उदय और अस्त होता है इससे सूर्य का नवीन उत्पन्न होना नहीं माना जाता है परन् सूर्य और चन्द्र का उदय और अस्त होना समझा जाता है। सूर्य और चन्द्र के उगने से उनकी उत्पत्ति और अस्त होने से उनका नाश नहीं समझा जाता वरन् एक ही सूर्य और चन्द्र का उदय और अस्त काल समझा जाता है। ठीक इसी तरह जैनधर्म का विकास और ह्रास होता रहता है। इस विकास और ह्रास को उत्पत्ति और विनाश नहीं कहा जा सकता है। इसे उदयकाल और अस्तकाल कहा जा सकता है। इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे में ऋषभदेव स्वामी ने जैनधर्म का पुनरुत्थान किया। इसी तरह प्रत्येक तीर्थङ्कर ने जैनधर्म का उपदेश दिया और चौबीसवें तीर्थङ्कर श्री महावीर स्वामी ने पुनरुद्धार किया। जैन परिभाषा में धर्म का पुनरुद्धार कर तीर्थ स्थापन करने वाले को तीर्थङ्कर कहा गया है प्रत्येक तीर्थंकर का काल जैन धर्म का उदय काल है और एक तीर्थंकर के जन्म से दूसरे तीर्थङ्कर के जन्म काल के बीच का समय जब जैन धर्म का ह्रास हो जाता है तो जैन धर्म का अस्तकाल समझना चाहिए। इस दृष्टि से ऋषभदेव स्वामी से लगाकर महावीर स्वामी पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थङ्कर जैन धर्म के संस्थापक नहीं वरन् उसे नवजीवन प्रदान करने वाले युगावतारी महापुरुष हैं।

जैन धर्म के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में कतिपय पाश्चात्य और पौर्वात्य इतिहासकार अनभिज्ञ रहे हैं और हैं। यही कारण है कि कतिपय इतिहासकारों

ने जैनधर्म के विषय में अपने गलत अभिप्राय व्यक्त किये हैं। किसीने इसे वैदिक धर्म का रूपान्तर माना है और किसी ने इसे बौद्ध धर्म की शाखा मानकर भगवान् महावीर को इसका संस्थापक माना है। सचमुच यह इतिहासकारों की अनभिज्ञता का परिणाम है। साथ ही यह कहे बिना भी नहीं चल सकता है कि इतिहास के बारे में जैन मुनियों और विद्वानों की उपेक्षा बुद्धि रही जिसके कारण उन्होंने जैन इतिहास को अपने असली रूपमें विश्व के सम्मुख नहीं रक्खा और उसका प्रचार नहीं किया। साथ ही समय समय पर होने वाले आक्षेपों के प्रत्युत्तर भी देने में उपेक्षा बुद्धि रही है। यह भी एक मुख्य कारण है जिससे संसार का बहुतसा विद्वत्समाज जैन-इतिहास और सिद्धांत के विषय में अन्धकार में है। अर्वाचीन संसार को जो जैनइतिहास विदित है वह बहुत कुछ भ्रान्त और गलत है। अब ज्यों ज्यों ऐतिहासिक अन्वेषण होता जारहा है त्यों २ यह प्रकट होता जारहा है कि जैन संस्कृति और इतिहास अति प्राचीन हैं। आधुनिक इतिहास-काल जिस समय से प्रारम्भ होता है उससे पूर्व जैन संस्कृति विद्यमान थी यह अब इतिहासवेत्ताओं को भली भांति विदित हो चुका है। अब इन पृष्ठों में यह प्रमाणित किया जाता है कि जैनधर्म अति प्राचीन धर्म है। इसकी उत्पत्ति का पता लगाने में इतिहास तो अपनी हारमानता है क्योंकि इतिहास की परिधि तो चार पांच हजार वर्ष के अन्दर ही सीमित है। इससे पूर्व की घटनाओं के विषय में वह कुछ निर्णय नहीं देता है। इतिहास जब से प्रारम्भ होता है उसकाल में जैनधर्म का अस्तित्व था यह भलीभांति सिद्ध हो चुका है।

भारतवर्ष में मुख्य रूप से तीन धर्मों का प्रमुख रहा है (१) जैनधर्म (२) वैदिक धर्म (३) बौद्ध धर्म। इन तीनों धर्मों का यहां विचार किया जाता है। प्रथम बौद्ध धर्म को लीजिए। बौद्ध धर्म के संस्थापक महात्मा बुद्ध हैं। ये भगवान् महावीर के समकालीन हैं। इससे यह सिद्ध है कि बौद्ध धर्म अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व का है। इससे पहिले संसार में बौद्ध धर्म नहीं था। यह सभी इतिहासों से स्वीकृत हुआ तथा है। ऐसा होते हुए भी पाश्चात्य विद्वान लेपथिज एलफिन्स्टन वेबर, बार्थ आदि ने जैन धर्म की उत्पत्ति बौद्ध धर्म से मानी है इन विद्वानों का यह कथन प्रकट करता है कि इनको जैन, वैदिक और बौद्ध शास्त्रों का ज्ञान बिलकुल नहीं था। ये लोग इसकथन द्वारा यह प्रकट करते हैं कि इन्होंने इन तीनों धर्मों के सिद्धान्तों का गहरा अध्ययन किये बिनाही केवल ऊपरी ज्ञान प्राप्त करके इनके विषय में अपनी अपनी राय कायम करली है। अपने अनुमान के बलपर ही जैनधर्म के सम्बन्ध में ऐसा गलत अभिप्राय व्यक्त करके इन्होंने जैनधर्म के साथ ही नहीं परन्तु वास्तविकता के साथ अन्याय किया है।

इन विद्वानों के इस भ्रमका कारण यह है कि जैनधर्म और बौद्ध धर्म के कुछ सिद्धान्त आपस में मिलते हैं। दोनों धर्मों ने तात्कालीन वैदिक हिंसा का जोरदार खंडन किया था और ब्राह्मणों की अखंड सत्ता को अभिभूत किया था।

इसलिए ब्राह्मण लेखकों ने इन दोनों धर्मों को एक कोटि में रखदिया। इस समानता के कारण इन पाश्चात्य विद्वानों को यह भ्रम हुआ कि जैनधर्म बौद्धधर्म की एक शाखा है इन विद्वानों ने ऊपरी समानता देखकर और दोनों धर्मों में में रहे हुए मौलिक भेद उपेक्षा करके यह गलत अनुमान बांधा है।

जर्मनीके प्रोफेसर हर्मन जेकोबी ने जैनधर्म और बौद्धधर्म के सिद्धान्तों की समानता की बहुत छानबीन की है और इस विषय की बहुत विस्तार के साथ आलोचना की है। इस प्रौढ़ पंडित ने अकाट्य प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध करदिया है कि जैनधर्म की उत्पत्ति न तो महावीर के समयमें और न पार्श्वनाथ के समय में हुई किन्तु इससे भी बहुत पहिले भारतवर्ष के अति प्राचीन कालमें यह अपनी हस्ती होने का दावा रखता है।

जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा नहीं है बल्कि एक स्वतंत्र धर्म है इस बात को सिद्ध करने के लिए अध्यापक जेकोबीने बौद्धों के धर्मग्रन्थों में जैनों का और उनके सिद्धान्तों का जो उल्लेख पाया जाता है उसका दिग्दर्शन कराया है और बड़ी योग्यता के साथ यह सिद्ध करदिया है कि जैनधर्म बौद्धधर्म से प्राचीन है। अब यहां यह दिग्दर्शन करा देना उचित है कि बौद्धों के धर्मशास्त्रों में कहां कहां जैनों का उल्लेख पाया जाता है—

(१) मज्झिमनिकाय में लिखा है कि महावीर के उपाली नामक श्रावक ने बुद्ध देवके साथ शास्त्रार्थ किया था।

(२) महावग्ग के छठे अध्याय में लिखा है कि "सीह" नामक श्रावक ने जो कि महावीर का शिष्य था बुद्धदेव के साथ भेंट की थी।

(३ "अंगुत्तरनिकाय" के तृतीय अध्याय के ७४ वें सूत्र में वैशाली के एक विद्वान् राजकुमार अभयने निर्ग्रन्थ अथवा जैनों के कर्मसिद्धान्त का वर्णन किया है।

(४) अनुगुत्तरनिकाय में जैन श्रावकों का उल्लेख पाया जाता है और उनके धार्मिक आचार का भी विस्तृत वर्णन मिलता है।

(५) समयफल सूत्र में बौद्धों ने एक भूल की है। उन्होंने लिखा है कि महावीर ने जैनधर्म के चार महाव्रतों का प्रतिपादन किया किन्तु ये चार महाव्रत महावीर स्वामी से २५० वर्ष पूर्व पार्श्वनाथ स्वामी के समय माने जाते थे। यह भूल बड़े महत्व की है क्योंकि इससे जैनियों के उत्तराध्ययन-सूत्र के तेइसवें अध्याय की यह बात सत्य सिद्ध हो जाती है कि तेईसवें तीर्थंङ्कर पार्श्वनाथ के अनुयायी महावीर के समय में विद्यमान थे।

(६) बौद्धोंने अपने सूत्रों में कई जगह जैनों को अपना प्रतिस्पर्धी माना है किन्तु कहीं भी जैनधर्म को बौद्धधर्म की शाखा या नव स्थापित धर्म नहीं लिखा।

(७) मक्खलीपुत्र गोशाला महावीर का शिष्य था परन्तु बाद में वह धर्म-द्रोही पाखण्डी होगया। इसी गोशाला और उसके सिद्धान्तों का बौद्धधर्म के सूत्रों में कई स्थानों पर उल्लेख मिलता है।

(८) ग्रन्थोंने महावीर के सुशिष्य सुधर्माचार्य के गोत्रका और महावीर के निर्वाण स्थान का भी उल्लेख किया है।

अध्यापक जकोबी महोदय ने अन्य भी कतिपय प्रमाणों के द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा नहीं है लेकिन बौद्ध धर्म से प्राचीन है।

प्रोफेसर हर्मन जकोबी ने विश्वधर्मकॉंग्रेस में अपने भाषण का उपसंहार करते हुए कहा है कि:—

In conclusion let me assert my convi tion that Jainism is an original ystem quit d stinct and ind pend nt from ll oth rs and that ther fore it s of gre t importance for the study of ph losoph al tho ght and eligious l fe in ancient India

(Read in the congress of the History of Rel gion)

अर्थात्-अन्त में मुझे अपना यह निश्चय व्यक्त करने दीजिये कि जैन धर्म एक मौलिक धर्म है। यह अन्य धर्मों से सर्वथा अलग और स्वतंत्र धर्म है। इसलिए प्राचीन भारतवर्ष के तत्वज्ञान और धार्मिक जीवन के अभ्यास के लिए यह बहुत ही महत्वपूर्ण है।

जकोबी महोदय के उक्त वक्तव्य से यह सिद्ध हो जाता है कि जैनधर्म बौद्ध धर्म की शाखा नहीं है इतनाही नहीं किसी भी धर्म की शाखा नहीं है। यह एक मौलिक स्वतंत्र और प्राचीन धर्म है।

जैनधर्म वेदधर्म से भी प्राचीन है

कई विद्वानों का यह भ्रमपूर्ण मत है कि जैनधर्म वेदधर्म की शाखा है और उसके आदि प्रवर्तक पार्श्वनाथ (७७७-८७७ ईसा से पूर्व) हैं इस भ्रामक मान्यता के मूल में भी दो कारण हैं। (१) प्रथम तो यह है कि इन विद्वानों ने जैनधर्म का अध्ययन जैन शास्त्रों से नहीं किया लेकिन हिन्दूधर्म के ग्रन्थों में जैनधर्म का जो विकृत रूप चित्रित है उसीको सत्य मानकर अपना अनुमान स्थिर किया है। अशुद्ध आधारों की भित्ति पर खड़ा किया हुआ अनुमान भी अशुद्ध ही होता है यह निर्विवाद है। (२) दूसरा कारण यह है कि अंग्रेजों के भारत में आने के पहले धर्म-विवादियों ने इनके धर्मशास्त्रों और जैनधर्म साहित्य को जला दिया। इस अत्याचार से डरकर कहीं वर्णनीय साहित्य भी नष्ट न हो जाय इस भय से जैनों ने उसे भण्डारों (भण्डारों) में छिपा दिया। बहुत से बहुमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थ

इन कीटकों के द्वारा नष्ट किये गये। अब जो कुछ भी जैन साहित्य बचा है वह भी विद्वानों को उपलब्ध नहीं है। इसका कारण है भण्डारों के स्वामियों की अदूरदर्शिता और समय को पहचानने की अकुशलता। उस अत्याचार के जमाने में ग्रंथों को छिपाकर रखना आवश्यक था परन्तु वह पद्धति अब भी प्रचलित रखना हितकर नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में जब कि जैन साहित्य अनुपलब्ध था—पुरातत्त्व की खोज करते समय पूर्वीय भाषायें जानने वाले योरोपीय विद्वानों को जैनधर्म के विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों का आश्रय लेना पड़ा। ब्राह्मणों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे प्रतिद्वन्द्वी जैनों के सिद्धान्तों की पक्षपात रहित आलोचना करें। पाश्चात्य विद्वानों ने ब्राह्मण ग्रन्थों में जैनधर्म का विकृत रूप देखा इसलिए उनके हृदय में जैनधर्म के विषय में कुत्सित विचार पैदा हो गये। उन्होंने अशुद्ध सामग्री को लेकर तर्क करना शुरू किया इसलिए वे सत्य को न पासके और भ्रान्त विचारों पर जा पहुँचे।

अब हम वेदधर्म के मान्य वेदों पुराणों और अन्य ग्रन्थों के हवाले देकर यह सिद्ध करेंगे कि जैनधर्म वेदधर्म से भी प्राचीन है। मगर वेद और पुराणों का विचार करने के पहिले जैन धर्म की प्राचीनता का एक और प्रमाण पाठकों के सन्मुख उपस्थित करते हैं।—

शाकटायनाचार्य एक जैन वैयाकरण थे थे। आचार्य किस काल में हुए इसका प्रामाणिक कोई उल्लेख नहीं मिलता तथापि यह निर्विवाद है कि यह आचार्य सुप्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि से बहुत प्राचीन हैं। इसका कारण यह है कि पाणिनि ऋषि ने अपनी अष्टाध्यायी में "व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य" इत्यादि सूत्रों में शाकटायन का हवाला दिया है जो शाकटायन का पाणिनि से प्राचीन होना को सिद्ध करता है। अब विचारना है कि पाणिनि का समय कौनसा है? इतिहासकारों और पुरातत्त्वविदों ने महर्षि पाणिनि का समय ईस्वी सन् पूर्व ३०० वर्ष बतलाया है। इससे यह सिद्ध होता है कि पाणिनि ऋषि आज से चार हजार तीन सौ पैंतालीस वर्ष पूर्व हुए हैं। जब पाणिनि ऋषि अपने व्याकरण में शाकटायन का हवाला देते हैं तो यह सर्वथा सिद्ध हो जाता है कि शाकटायन पाणिनि से प्राचीन हैं। शाकटायन का नाम यास्क के निरुक्त में भी आता है। ये यास्क पाणिनि से कई शताब्दियाँ पहले विद्यमान थे। रामचन्द्र घोष ने अपने "Peep into the the vedic Age" नामक ग्रन्थ में लिखा है कि यास्क कृत 'निरुक्त' को हम बहुत ही प्राचीन समझते हैं। यह ग्रन्थ वेदों को छोड़कर संस्कृत के सब से प्राचीन साहित्य से सम्बन्ध रखता है। इस बात से यही सिद्ध होता है कि जैन धर्म का अस्तित्व यास्क के समय से भी बहुत पहिले था। शाकटायन का नाम ऋग्वेद की प्रतिशाखाओं में और यजुर्वेद में भी आता है।

शाकटायनाचार्य जैन थे इस बात का प्रमाण ढूँढने के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं। उनका रचित व्याकरण ही इस बात को सिद्ध करता है। वे

अपने व्याकरण के पाद के अन्त में लिखते हैं-"महाश्रमण संघाधिपतेः श्रुत केवलिदेशीयाचार्यस्य शाकटायनस्य कृतौ"-उक्त लेख में आये हुए "महाश्रमण संघ" और श्रुतकेवलिदेशीयाचार्यस्य ये जैनों के पारिभाषिक शब्द हैं। इन पर से निर्विवाद सिद्ध होता है कि शाकटायनाचार्य जैन थे। शाकटायन पाणिनि से बहुत पहले हुए हैं यह सिद्ध किया जा चुका है, अतएव पाणिनि से बहुत पहले जैनधर्म था यह प्रमाणित हो जाता है।

वैदिक धर्म के प्राचीनतम ग्रन्थों से भी यह सिद्ध होता है कि उस समय भी जैनधर्म का अस्तित्व था। वैदिकधर्म के सर्वमान्य रामायण और महाभारत में भी जैनधर्म का उल्लेख पाया जाता है। रामचन्द्रजी के कुलपुरोहित वशिष्ठजी के बनाये हुए "योगवाशिष्ठ" नामक ग्रन्थ में ऐसा उल्लेख है—

नाहं रामो न मे वाञ्छा भावेषु च न मे मनः।
शान्तिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा॥

अर्थात्-रामचन्द्रजी कहते हैं कि मैं राम नहीं हूं मुझे किसी पदार्थ की इच्छा भी नहीं है, मैं जिनदेव के समान अपनी आत्मा में ही शांति स्थापित करना चाहता हूं।

इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि रामचन्द्रजी के समय में जैनधर्म और जैन तीर्थङ्कर का अस्तित्व था। जैन धर्मानुसार बीसवें तीर्थङ्कर श्री मुनिसुव्रत स्वामी के समय में रामचन्द्रजी का होना सिद्ध है। महाभारत के आदि पर्व के तृतीय अध्याय में २३ और २६ वें श्लोक में एक जैन मुनि का उल्लेख है। शान्ति पर्व (मोक्ष धर्म अध्याय २३९ श्लोक ६) में जैनों के सुप्रसिद्ध सप्तभंगी नय का वर्णन है।

आधुनिक कतिपय इतिहासकारों की ऐसी मान्यता है (यद्यपि जैनियों को यह स्वीकृत नहीं) कि महाभारत ईसा से तीन हजार वर्ष पहिले तैयार हुआ था और रामचन्द्रजी महाभारत से एक हजार वर्ष पहिले विद्यमान थे। इस पर से कहा जा सकता है कि रामचन्द्रजी के समय में (चाहे वह कौनसा भी हो) जैन धर्म का अस्तित्व था। रामचन्द्रजी के काल में जैनधर्म का अस्तित्व सिद्ध हो जाने पर वेदव्यास के समय में उसका अस्तित्व सिद्ध करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है तदपि वेदव्यास ने अपने ब्रह्मसूत्र में "नैकस्मिन्नसम्भवात्" कहकर जैन दर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त पर आक्षेप किया है। अगर उस समय जैनदर्शन का स्याद्वाद सिद्धान्त विकसित न हुआ होता तो वेदव्यास उस पर लेखनी नहीं उठाते। यद्यपि वेदव्यास ने स्याद्वाद पर जो आक्षेप रक्खा है वह स्याद्वाद का शुद्ध रूप नहीं है उसे विकृत करके उन्होंने पेश किया है तदपि इससे यह तो भलीभांति सिद्ध होजाता है कि वेदव्यास के समय में स्याद्वाद-जो जैनदर्शन की मुख्यता है भलीभांति प्रचलित हो चुका था। रामायण महाभारत से जैनधर्म का अस्तित्व सिद्ध होजाने पर अब पुराणों को देखना चाहिए।

अष्टादश पुराण महर्षि व्यास के द्वारा रचित माने जाते हैं। ये व्यास महर्षि महाभारत के समयवर्ती बतलाये जाते हैं चाहे कुछ भी हो, हमें यह देखना है कि पुराण इस विषय में क्या कहते हैं। शिवपुराण में ऋषभनाथ भगवान् का उल्लेख इस प्रकार से किया गया है:—

कैलासे पर्वते रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः।
चकार स्वावतारं च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः ॥ ५९ ॥

इसका अर्थ यह है कि केवल ज्ञानद्वारा सर्वव्यापी कल्याण स्वरूप सर्वज्ञाता जिनेश्वर ऋषभदेव सुन्दर कैलाश पर्वत पर उतरे। इसमें आया हुआ 'वृषभ' और 'जिनेश्वर' शब्द जैन धर्म को सिद्ध करते हैं क्योंकि 'जिन' और 'अर्हन्' शब्द जैन तीर्थंकरों के लिए रूढ़ हैं ब्रह्माण्ड पुराण में इस प्रकार लिखा है:—

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्यां मनोहरम् ।
ऋषभं क्षत्रियश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः —
अभिषिच्य भरतं राज्ये महाप्रव्रज्यामाश्रितः ॥

इह हि इक्ष्वाकुकुलवंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दशप्रकारो धर्मः स्वयमेवाचीर्णः केवलज्ञानलाभाच्च प्रवर्तितः।

अर्थात्—नाभिराजा और मरुदेवी रानी से मनोहर क्षत्रियों में प्रधान समस्त क्षत्रिय वंश का पूर्वज ऋषभ नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। ऋषभनाथ के सौ भाइयों में से सब से बड़ा शूरवीर भरत नामक पुत्र हुआ। ऋषभदेव भरत का राज्याभिषेक करके प्रव्रजित हो गये। इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न नाभिराय और मरुदेवी के पुत्र ऋषभ ने क्षमा मार्दव आदि दश प्रकार का धर्म स्वयं धारण किया और केवलज्ञान पाकर उसका प्रचार किया। स्कन्द पुराण में लिखा है—

आदित्य प्रमुखाः सर्वे बद्धाञ्जलय ईदृशं ।
ध्यायन्ति भावतो नित्यं यदंघ्रियुगनीरजम् ॥

परमात्मानमात्मानं लसत्केवलनिर्मलम् ।
निरञ्जननिराकारं ऋषभन्तुमहाऋषिम् ॥

भावार्थ ऋषभदेव परमात्मा केवलज्ञानी निरञ्जन निराकार और महर्षि है। ऐसे ऋषभदेव के चरण युगल का आदित्य आदि सुर नर भावपूर्वक अञ्जलि जोड़कर ध्यान करते हैं।

नागपुराण में इस प्रकार कथन है:—

अकारादि हकारान्तं मूर्धाधोरेफ संयुतम् ।
नादबिन्दु कलाक्रान्तं चन्द्रमण्डलसन्निभं ॥
एतद्देवपरं तत्त्वं यो विजानाति तत्त्वतः ।
संसार बन्धनं छित्वा स गच्छेत्परमां गतिम् ॥

अर्थात्-जिसका प्रथम अक्षर 'अ' और अन्तिम अक्षर 'ह' है और जिसके ऊपर आधा रेफ तथा चन्द्रबिन्दु विराजमान है ऐसे "अर्ह" को जो तत्त्व रूप में जान लेता है वह संसार बन्धन को काटकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

बहुमान्य मनुस्मृति में मनु ने कहा है—

मरुदेवी च नाभिश्च भरते कुल सत्तमाः ।
अष्टमो मरुदेव्यान्तु नाभेर्जात उरुक्रमः ॥
दर्शयन्वर्त्मवीराणां सुरासुरनमस्कृतः ।
नीतित्रितय कर्त्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः ॥

भावार्थ-इस भारतवर्ष में नाभिराय नामक कुलकर हुए। तदनन्तर नाभिराय के मरुदेवी के उदर से मोक्ष मार्ग का दिखाने वाले सुर असुर द्वारा पूजित तीन नीतियों के विधाता प्रथम जिनेश्वर यानी ऋषभनाथ सत्युग के प्रारम्भ में हुए।

"ऋषभ" शब्द के सम्बन्ध में शंका का अवकाश ही नहीं है। वाचस्पति कोष में ऋषभ शब्द का अर्थ 'जिनदेव' किया है और शब्दार्थचिन्तामणि में "भगवद्वतार भेदे आदिजिने' भगवान का अवतार और प्रथम जिनेश्वर किया गया है। पुराणों के अवतरणों से यह स्पष्ट हो गया कि पुराणकाल के पहिले जैन धर्म था। इसके अतिरिक्त भागवत् के पांचवे स्कन्ध के चौथे पांचवें और छठे अध्याय में प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव को आठवाँ अवतार बतलाकर उनका विस्तृत वर्णन किया गया है। भागवत पुराण में यह लिखा है कि सृष्टि के आदि में ब्रह्मा ने स्वयम्भू मनु और सतरूपा को उत्पन्न किया। ऋषभदेव इनसे पांचवी पीढ़ी में हुए। इन्हीं ऋषभदेव ने जैन धर्म का प्रचार किया। इस पर से अगर हम यह अनुमान करें कि प्रथम जैन तीर्थंकर और जैन धर्म के आदि पुरुष ऋषभदेव स्वामी मानव जाति के आदि-गुरु थे तो हमारा विश्वास है कि इस कथन में कोई अत्युक्ति न होगी।

दुनिया के अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि आधुनिक उपलब्ध समस्त ग्रन्थों में वेद ही सब से प्राचीन हैं अतएव हम अब वेदों के आधार पर यह सिद्ध करने की चेष्टा करेंगे कि वेदों की उत्पत्ति के समय जैनधर्म विद्यमान था। वेदानुयायियों

की मान्यता है कि वेद ईश्वर प्रणीत हैं। यद्यपि यह मान्यता ठीक नहीं है तदपि ऐसा मान लिया जाय तो यह सिद्ध होता है कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही जैनधर्म प्रचलित था क्योंकि ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में जैन तीर्थङ्करों के नामों का उल्लेख पाया जाता है—ऋग्वेद में कहा है

आदित्या त्वगसि आदित्य सद आसीद् अस्त भ्नाद्या वृषभो तरिक्षं जमिमीते वरिमाणं। पृथिव्याः आसीत् विश्वा भुवनानि सम्राडित्यये तानि वरुणस्य व्रतानि ३०। अ० ३।

अर्थ—हे मलयुक्त पृथ्वीमण्डल का सारत्वचा स्वरूप है पृथ्वीतल का भूषण है दिव्य ज्ञान द्वारा आकाश को नापता है। ऐसे हे वृषभनाथ सम्राट्! इस संसार में जगत्रक्षक व्रतों का प्रचार करो।

अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम् (अ १ अ ६ व १६)
अर्हन्निदं दयसे विश्वं अभ्वम् न वा ओजीयो रुद्रत्वदस्ति (अ २ अ ७ व १७)

अर्थ—हे अर्हन् देव! तुम धर्मरूपी बाणों को सदुपदेशरूप धनुष को अनन्त ज्ञान रूप आभूषण को धारण किये हुए हो। हे अर्हन्! आप जगत्प्रकाशक केवल ज्ञान को प्राप्त हो संसार के जीवों के रक्षक हो कामक्रोधादि शत्रुसमूह के लिए भयंकर हो आपके समान अन्य बलवान नहीं है।

ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा। वामदेव शान्त्यर्थमनुविधीयते सोऽस्माकं अरिष्टनेमि स्वाहा।

ॐ त्रैलोक्य प्रतिष्ठितान् चतुर्विंशति तीर्थङ्करान् ऋषभाद्यावर्द्धमानान्तान् सिद्धान्शरणं प्रपद्ये।

ॐ नमो अर्हतो ऋषभो ॐ ऋषभं पवित्रं पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परम माहसं स्तुतं वारं शत्रुं जयन्तं पशुरिन्द्रमाहुरिति स्वाहा।

ॐ स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु।

इत्यादि बहुत से वेदमन्त्रों में जैन तीर्थंकर श्री ऋषभदेव सुपार्श्वनाथ अरिष्टनेमि आदि तीर्थङ्करों के नाम आये हैं। इन तीर्थङ्करों के मानने पूज्य भाव रखने की प्रेरणा करने वाले कतिपय वेद मंत्र वेदों में पाये जाते हैं। इन सब प्रमाणों पर से यह प्रतीत होता है कि वेदों की रचना के पूर्व भी जैनधर्म बड़े प्रभाव के साथ व्याप्त था तभी तो वेदों में उनके नाम बड़े आदर के साथ उल्लिखित हुए हैं। इन बातों का विचार करने पर कोई भी निष्पक्ष वेदानुयायी यह नहीं कह सकता है कि जैनधर्म वैदिक धर्म के बाद उत्पन्न हुआ है। वेदों में से जो प्रमाण दिये गये हैं वही इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि जैनधर्म अति प्राचीन काल से

चला आता है। जिस वैदिक धर्म को प्राचीन बतलाया जाता है उससे भी पहिले जैन धर्म अस्तित्व रखता था।

अब जैनधर्म की प्राचीनता को सिद्ध करने के लिए पाश्चात्य और पौर्वात्य पुरातत्त्वविदों और इतिहासकारों ने जो अभिप्राय व्यक्त किये हैं उनका दिग्दर्शन करना अप्रस्तुत नहीं होगा:—

(१) काशी निवासी स्वर्गीय स्वामी राममिश्र शास्त्री ने अपने एक व्याख्यान में कहा था —

जैन धर्म उतना ही प्राचीन है जितना कि यह संसार है (२) प्राचीन इतिहास के सुप्रसिद्ध आचार्य प्राच्यविद्यामहार्णव श्री नगेन्द्रनाथ वसु ने अपने हिन्दी विश्वकोष के प्रथम भाग में ६४ वें पृष्ठ पर लिखा है "ऋषभदेव ने ही संभवतः लिपि विद्या के लिए लिपि कौशल का उद्भावन किया था" ऋषभदेव ने ही संभवतः ब्रह्मविद्या शिक्षा की उपयोगी ब्राह्मी लिपि का प्रचार किया। हो न हो इसलिए वह प्रथम अवतार बताये जाकर परिचित हुए।

इसी विश्वकोष के तीसरे भाग में ४४४ वें पृष्ठपर यों लिखा है:- "भागवतोक्त २२ अवतारों में ऋषभ अष्टम हैं। इन्होंने भारतवर्षाधिपति नाभिराजा के औरस और मरुदेवी के गर्भसे जन्म ग्रहण किया था। भागवत में लिखा है कि जन्म लेते ही ऋषभनाथ के अंगमें से सब भगवान के लक्षण झलकते थे।

(३) श्रीमान् महामहोपाध्याय डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम ए पी एच डी एफ आइ आर एस सिद्धान्तमहोदधि प्रिंसिपल संस्कृत कालेज कलकत्ता-अपने भाषण में कहते हैं:- 'जैनमत तबसे प्रचलित हुआ है जबसे संसार में सृष्टि का प्रारम्भ हुआ है। मुझे इसमें किसी प्रकार का उज्र नहीं है कि जैनदर्शन वेदान्तादि दर्शनों से पूर्वका है।

(४) शिरोमणि लोकमान्य प० बाल गंगाधर तिलकने अपने 'केशरी' पत्र में १३ दिसम्बर सन् १९०४ को लिखा है:—

महावीर स्वामी जैनधर्म को पुनः प्रकाश में लाये। इस बातको आज २४०० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। बौद्धधर्म की स्थापना के पहले जैनधर्म फैल रहा था यह बात विश्वास करने योग्य है। चौबीस तीर्थङ्करों में महावीर स्वामी अन्तिम तीर्थङ्कर थे। इससे भी जैनधर्म की प्राचीनता जानी जाती है।

(५) स्वामी विरूपाक्ष वार्डियर धर्मभूषण वेदतीर्थ विद्यानिधि एम ए. प्रोफेसर संस्कृत कालेज इन्दौर 'चित्रमय जगत्' में लिखते हैं कि

ईर्षा द्वेष के कारण धर्मप्रचार को रोकने वाली विपत्ति के रहते हुए भी जैनशासन कभी पराजित न होकर सर्वत्र विजयी होता रहा है। अर्हन् देव साक्षात्

परमेश्वर स्वरूप हैं। इसके प्रमाण भी आर्य ग्रन्थों में पाये जाते हैं। अर्हन्त परमेश्वर का वर्णन वेदों में भी पाया जाता है। ऋषभदेव का नाती मरीचि प्रकृतिवादी था। और वेद उसके तत्वानुसार हो मके इस कारणही ऋग्वेद आदि ग्रन्थों की ख्याति उसी के ज्ञान द्वारा हुई है। फलतः मरीचि ऋषि के स्तोत्र वेद पुराणादि ग्रन्थों में हैं और स्थान स्थान पर जैन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है तो कोई कारण नहीं कि वैदिक काल में जैनधर्म का अस्तित्व न मानें। वेदों में जैनधर्म को सिद्ध करने वाले बहुत मंत्र हैं। सारांश यह है कि इन सब प्रमाणों से जैनधर्म का उल्लेख हिन्दुओं के पूज्य वेदों में भी मिलता है।

(६) श्रीयुत लाला कन्नोमलजी एम. ए. सेशन जज धोलपुर एन. लाजपतराय के भारत इतिहास में जैन धर्म सम्बन्धी आक्षेपों के प्रतिवादमें लिखते हैं कि —

उपसंहार

ऊपर कतिपय पुरातत्ववेत्ताओं के दिये गये अभिमतों से यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि जैन धर्म अति प्राचीन धर्म है। ये इतिहासकार संशोधक और पुरातत्व के ज्ञाता सभी अजैन हैं अतएव पक्षपात की आशंका ही नहीं हो सकती। इन विद्वानों ने अपने निष्पक्ष अनुसन्धान एवं गवेषणा के आधार पर ही अपने अभिप्राय व्यक्त किये हैं। इससे यह भली भांति प्रमाणित हो जाता है कि जैन धर्म सृष्टि के प्रारम्भ से ही विद्यमान है। हम प्रमाणों और वेदों के अवतरणों से यह सिद्ध कर चुके हैं कि जैन धर्म अनादि है। जिस प्रकार समय का प्रवाह अनादि अनन्त है इसी तरह जैन धर्म भी अनादि अनन्त है। थोड़े समय पहिले तक कई विद्वानों को यह भ्रम था कि जैन धर्म बौद्ध धर्म की शाखा है। जिस प्रकार अब यह भ्रम दूर हो गया है उसी तरह थोड़े समय बाद वह समय आवेगा जब इस महत्वपूर्ण समस्या पर अधिक प्रकाश पड़ेगा और बड़े २ दिग्गज विद्वानों को भी यह मानना पड़ेगा कि जैन धर्म सब धर्मों से प्राचीन धर्म है।

सभी लोग जानते हैं कि जैन धर्म के आदि तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव स्वामी हैं। जिनका काल इतिहास परिधि से कहीं परे है। इनका वर्णन सनातन धर्मी हिन्दुओं के श्रीमद्भागवत पुराण में भी है। ऐतिहासिक गवेषणा से मालूम हुआ है कि जैन धर्म की उत्पत्ति का कोई काल निश्चित नहीं है। प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थों में जैन धर्म का हवाला मिलता है। श्री पार्श्वनाथजी जैनों के तेइसवें तीर्थङ्कर हैं। इनका समय ईसा से १२०० वर्ष पूर्व का है तो पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि ऋषभदेव जी का कितना प्राचीन काल होगा। जैन धर्म के सिद्धान्तों की अविच्छिन्न धारा इन्हीं महात्मा के समय से बहती रही है। कोई समय ऐसा नहीं है जिसमें इसका अस्तित्व न हो। श्री महावीर स्वामी जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर और प्रचारक हैं। न कि उसके आदि संस्थापक या प्रवर्तक।

भगवान् महावीर का आदर्श जीवन

लेखक—मनोहर व्याख्यानी मुनि श्री वृद्धिचन्दजी महाराज

इस जगती तल में जब स्वार्थ कपट दम्भ अभिमान और इह लौकिक सुखों की बढ़ती हुई विनाशोन्मुखी भावनाओं का विकास जब तब अपनी चरम सीमा को पहुँच जाता है जिस के कारण देश की दशों दिशाओं में करुण क्रन्दन फैल जाता है। मूक और निरपराधी प्राणियों के विकराल वध से आकाश मण्डल में एक असाधारण कम्पनसा उत्पन्न हो जाता है। जिधर भी देखो दुष्कर्मों की दावाग्नि धाँय धाँय करती हुई फटी-सी देख पड़ती है। अन्ध-विश्वास अशिक्षा और सांसारिक सुखों भोगों की बढ़ती हुई बाढ़ों के कीचड़ में फँसी हुई भोली-भाली जनता जब जब अपनी सांसारिक सत्ता शक्ति धन और बिखरे हुए वैभव के बलपर, दीन अनाथों को खरीद खरीद कर नर-बलियों के बाजारों को गरम करती रहती है, सत्य संयम और सादगी का सिर कुचल देने की प्राण-पण से चेष्टायें होती हैं। भौतिक स्वार्थों की पूर्ति में आध्यात्मिक आदर्श और त्यागों की उपेक्षा की जाती है। और जब स्वतन्त्रता का स्थान स्वच्छन्दता स्वार्थ—परायणता और संकीर्णता से बैठती है। तथा जब भेद-भाव की विषैली गेस से राष्ट्र की शक्ति मूर्च्छित होकर टुकड़े टुकड़े होजाती है जगत् की विषमतामयी परिस्थितियों के पलटने का समय भी किसी न किसी दिन आता ही है। उस दिन जनता के रोते बीलखते हुए भाग्य जगमगा उठते हैं और वे आनन्द विभोर होजाते हैं। असत्य का अनादर और सत्य का समादर तब होने लगता है। हिंसा का हाहाकार उस दिन अहिंसा में बदल जाता है। और तब अनाचार, अत्याचार अन्ध-विश्वास अधीरता अवस्था अबोधता और असमानता के पैर पृथ्वी से उखड़ पड़ते हैं और वे सबके सब प्राण-रक्षा के लिए पनाह की खोज में पाताल की ओर अपने पूरे बल से पलायमान होते से दीख पड़ते हैं। जुल्म का जोर जमीन से उस समय जड़ामूल से मिट जाता है। सर्वत्र सत्यं शिवं सुन्दरं की सुदृढ़ नींव पर अहिंसा अस्तेय अपरिग्रह सत्य और ब्रह्म चर्य की संस्थापना होती है। ऐसे ही विकटतम समय में आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले जब कि देश की दशों दिशाओं के वायु-मंडल में पाप ताप अनाचार और अत्याचार फूल और फल रहे थे।

भगवान का पावन जन्म विक्रमीय संवत् से ५४२ वर्ष पूर्व, और निर्वाण विक्रमीय सम्वत् से ४७० वर्ष पूर्व हुआ था। उनका पहला नाम वर्धमान भी था। क्षत्रिय-कुंड ग्राम (जहाँ आज बिहार प्रान्तीय गया नामक जिले में "लछवाड़" ग्राम बसा हुआ है) के अधिपति महाराज सिद्धार्थ की महान सदाचारिणी धर्मपत्नी

रानी त्रिशला की कोख से भारत भारत की धर्म-प्राण भूमि में भगवान् का पावन पदार्पण हुआ था। जो भी महाराज सिद्धार्थ के अधीन का भूभाग बहुत ही छोटा था तथापि विद्या वैभव इज्जत आबरू और सदाचरण में अपनी समानता के अड़ौस पड़ौस के अन्य राज्यों से वह खूब ही बढ़ा-चढ़ा था। इसका सारा श्रेय महाराज सिद्धार्थ ही के सिर था। उनकी प्रजाप्रियताभिलाषा लोक रंजन की लालसा, विद्याभिराम और सदाचार परायणता की परछाई ही उनके अधिकृत भूभाग में यत्र-तत्र सजीव होकर बिखरे पड़ रही थी। सच है "राजा कालस्य कारण।" अर्थात राजा ही अपने समय का युग-प्रवर्तक होता है।

भगवान के जन्मोत्सव पर राज्य ने तो भाँति २ की खुशीयां मनाई ही पर देवताओं ने भी इस कार्य में भाग लिया। पुत्र-जन्मोत्सव की खुशी और स्मृति में महाराज सिद्धार्थ ने कई कैदियों को बन्धन मुक्त किया और राज्य के छोटे बड़े सभी लोगों को एक बड़ाभारी दरबार लगा कर आमन्त्रित किया। राजा और प्रजा दोनों की ओर से परस्पर तरह-तरह की बधाईयां और भेंटों तथा उपहारों का खूब ही आदान प्रदान हुआ।

अब कुमार धीरे धीरे चन्द्र कला की भाँति बढ़ने लगे। हमारे भावी भगवान जन्म ही से बड़े ही सलोने सुडौल परम शान्त और करुणावान दयालु तथा गम्भीर स्वभाव के थे। जिनके निखरे हुए रूप-सौन्दर्य शील और स्वभाव को देख देख कर पुरजन परिजन और माता पिता फूले अंग न समाते थे।

आठवें वर्ष के आरम्भ में कुमार को विद्याध्ययन के लिये बैठाया गया। उनकी असाधारण बुद्धि और अगाध प्रतिभा ने विद्यालय के उपाध्याय आदि को थोड़े ही काल में चमत्कृत कर दिया। आज तो कुमार की युगानुयुगों की साधनायें कुमार की सेवा में अपने को बोध उपस्थित थी ही उपाध्याय के पास जाना विद्यालय में भरती होना और पठन पाठन ये तो निमित्त मात्र थे। इन्हीं मात्र अपने गुरुओं का धन तथा यश की प्राप्ति द्वारा ऋण का चुकाना था उसकी रस्म अदाई भी तो होना ही थी। अल्प काल में कुमार को अपने घर पहुंचा दिया गया। बदले में उपाध्यायजी ने समुचित सम्मान पूर्ण यश और पर्याप्त धन प्राप्त किया।

होते होते कुमार एक युवक के रूप में बदल गये। कुमार की प्रखरतम बुद्धि असाधारण प्रतिभा उनके सदाचरणरत-स्वभाव और कृपार्द्र भावों में अपूर्व उत्साह की झलक के साथ अलौकिक त्याग और गुणभरी संयमशीलता को देख २ कर एक ओर जहाँ उनके पुरजन परिजन और माता पिता का हृदय आनन्द से बाँसों उछल पड़ता था, वहाँ दूसरी ओर उनके द्वारा संसार त्याग का भय भी उनके दिल और दिमागों पर हर घड़ी सवार रहता ही था। फिर भी येन केन

प्रकारेण सखा मित्र पड़ौसी पड़ोसी और बन्धु-बान्धवों की सहायता से समझा बुझाकर महाराज सिद्धार्थ और त्रिशला रानी ने एक दिन कुमार को विवाह बन्धन से संसार के मोह रूपी कीचड़ में फंसा रखने का साधन उपस्थित कर ही दिया। तत्कालीन एक प्रसिद्ध राजा समरवीर की परम सुन्दरी और गुणकारी यशोदा नामक कन्या के साथ कुमार का विवाह होगया। बड़े बड़े साज सजाये गये। कितने ही कैदियों को कारावास से मुक्त किया गया। भांति भांति के राज्यकरों से जनता को छुटकारा मिला। आये-गये लोगों ने तरह तरह का इनाम पाया। परम यशस्वी और सर्व गुण सम्पन्न पति को पाकर यशोदा ने भी अपने भाग्य को सराहा।

राज-कुमार का मन घर-गृहस्थी में स्थायी रूप से फंसा रहे तदर्थ उनके महल में ये उसके पड़ोस पड़ोस को नित नयी भोग विलास की बहुमूल्य सामग्रियां जुटाय रखने का भरपूर प्रबन्ध था। किन्तु कुमार तो मानो अपने सम्पूर्ण प्रारब्ध कर्मों को प्रकृति के साथ अनासक्ति भाव से भोगते रहने उनकी निर्जरा करने और कषायों के वातावरण में भी अडिग चित्त बने रहने का कठोरतम व्रत धारण करके ही इस जगत् में आये थे। अस्तु कुमार का विराग उनका मन अधिकाधिक प्रबलता से संसार की असारता और अनित्यता का अनुमान कर त्याग- मार्गों की ओर अग्रसर होता जा रहा था। फिर भी अपने अवधि ज्ञान की उपस्थिति और माताजी में की हुई प्रतिज्ञा का भी पूरा पूरा ध्यान उन्हें अवश्य था। बस यही एक ऐसा जबरदस्त कारण था कि जिससे उन्होंने माता पिता की विधिवत अवस्था में दीक्षित होने का नाम तक न लिया।

कुमार की अट्ठाईसवें वर्ष की आयु में उनके माता पिता का देहान्त होगया। तदुपरान्त अपने पूर्व निश्चय के अनुसार उन्तीसवें वर्ष में जगत् के कल्याण के हित आपने भी दीक्षा-व्रत धारण कर लिया। उस समय अटूट दान दिया गया और भांति भांति के उत्सव मनाये गये। दीक्षित बनकर भगवान् अपने उच्चतम चारित्र द्वारा अपने शेष प्रमघाती कर्मों का क्षय करते संसार के भूले-भटके अबोध तथा मूक प्राणियों का उद्धार करने और संसार को अहिंसा का अजर-अमर सन्देश देने के हेतु यत्र-तत्र विचरण करने लगे।

भगवान् संसार की एक महान दिव्य शक्ति थे। और थे व एक अलौकिक और अपने समय के परमोत्कृष्ट महापुरुष। महापुरुषों की जीवनी का पल-पल युग-युगान्तरों की तत्साधनाओं से भरापूरा होता है, और वह संसार के बड़े से बड़े ऐश्वर्य की अतुल राशियों से भी मँहगा होता है। वे अपनी समूची शक्ति को शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक सामर्थ्य को अपनी प्राणप्रिय वस्तु को अपनी सम्पूर्ण धन राशि को अपने पुत्र कलत्र और सम्पूर्ण परिजनों को और स्वयं के प्राणों तक को परायों के हित में दी हुई धरोहर मात्र समझते हैं। उनके परोपकारों के पीछे

स्वार्थ की कोई गन्ध तक नहीं होती। संसार उन्हें भला कहे अथवा बुरा, लौकिक दृष्टि में वे सफल समझे जावें या असफल इसकी भी उन्हें कोई पर्वाह नहीं होती वे तो सदा सर्वदा धीरता और गम्भीरता के साथ निर्धारित मार्ग पर चलते ही रहते हैं। उन्हें मोह, माया ममता या संसार का कोई भी अन्य बड़े से बड़ा प्रलोभन तक कभी खरीद नहीं सकता। किसी भी प्रकार का कायिक वाचिक मानसिक परीषह भी उन्हें अपने पथ से कभी इधर से उधर कर नहीं सकता। भगवान का पावन जन्म भी, इसी पथ पर चल कर जगत् की आँच से तपे हुए जीवों का उद्धार करने और यहां की विषमताओं को नष्टप्राय करने के हेतु हुआ था। अस्तु।

भगवान के अलौकिक त्याग ने तत्कालीन जगत की शोचनीय परिस्थितियों के भयानक ऊबड़ खाबड़ मैदानों को समथर बनाया मानसिक दासता के बन्धनों को तोड़ मरोड़ कर ठिकाने लगाया! जाति पांति के भेद भावों का भण्डा फोड़ दिया यज्ञों में होने वाली पशु बध की वृद्धि को एक दम रोक दिया! शास्त्रों तथा धर्म के नाम पर हाते रहने वाले विविध प्रकार में अन्ध और जघन्य आचारों का का अन्त कर दिया। परम पावन प्रभु! उस वक्त आपका पावन आगमन यहां न हुआ होता तो भारतीयता की डूबती हुई विचार नौका की लाज कौन रख पाता! कौन यहां की कुरीतियों का खण्डन करता! और यहां के सामाजिक तथा धार्मिक तत्वों की नाव प्रेम और सदाचार के स्थाई पाये पर कौन रख पाता!

हे दया के जीवित अवतार! हम अल्पज्ञ संसारी जन आपकी सर्वज्ञता भरी महिमा का वर्णन कर भी तो कैसे? वास्तविक सुख को प्राप्त करने का एक-मात्र उपाय यह है कि सुख के नाम से पुकारे जाने वाले संपूर्ण सांसारिक सुखों को मल मूत्र की भांति त्याग दिया जावे। भगवन! यह बात आपने अपने अमृत जैसे उपदेशों म जितना उत्तमता पूर्वक बतलायी उससे भी कहीं सैकड़ों गुना अधिक उसे आपने अपनी पल पल की करणी द्वारा बतलायी। आप एक प्रसिद्ध राज परिवार में पैदा हुए थे। फिर आपको कमी ही किस बात की थी? एक से एक उत्तम सांसारिक भोगों के पदार्थ आपके इशारों पर आपके इर्द गिर्द नाच रहे थे। फिर भी आपने उन सबको अपनी भरी जवानी में तिनके की भांति ठुकरा दिया। राजमहलों को छोड़ा अपनी चिर-संगिनी और प्रिय परिवार को छोड़ा और वन की खाक छानते फिरे। कठिन साधनाओं के द्वारा आपने अपनी वासनाओं की जड़ों को मट्ठा पिला दिया। आपने बतला दिया कि सत्य संकल्प की संजीवनी शक्ति के आगे यहां के मोह और ममता बड़े से बड़े सुख का प्रलोभन या दुखों की भयंकरता आदि कोई विघ्न कभी ठहर नहीं सकते। करुणा वरुणालय! अनेकों प्रकार के कष्टों का हंसते हंसते सह कर आपने न केवल अपने ही लिये परम् समस्त मानव-सम्पत्ति के लिये भी अनन्त सुखों का दरवाजा निकाल के लिये सुगमता पूर्वक खोल दिया। आपका यह अनुपम त्याग ऐसी सुख प्राप्ति धन्य है

अभिनन्दनीय है। अभिमान की वस्तु है और उसके भी परे बड़े-बड़ों के लिये ईर्ष्या की एक ऐंठ भरी वस्तु है।

हे संसार के महान उपदेशक ! आपकी शिक्षा कितनी सरल और सुबोध है आपके उपदेशों की नींव कितनी सत्य पर लगी हुई है ! ये कितने कल्याणकारी हैं। आपके विचार वाणी और आँखों में सभी मनुष्य समान है। गोरे, काले पीले और श्याम वर्ण सभी एक हैं। जाति-पाँति के भेद भावों से कोई कभी ऊँच नीच नहीं हो पाता। अथवा न कोई किसी विशेष वंश या देश आदि में जन्म लेने के ही विशेष अधिकारों का पात्र हो सकता है। ऊँचा बनने के लिये तो मनुष्य के कार्य ही ऊँचे होने चाहिए। हमारे जीवन के पल-पल में सच्चाई पवित्रता दया और अहिंसा तथा अस्तेय के भाव होना चाहिए। हमारी दया का दरवाजा तो केवल सवर्ण अथवा सजातीय मनुष्यों ही के लिए नहीं वरन् मनुष्य मात्र के लिए खुला होना चाहिए। नहीं ! नहीं !! यह तो प्राणि-मात्र के लिए भी खुला रहना परम आवश्यक है। केवल छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े सभी जीव हमारी दया और प्रेम के पूर्ण अधिकारी हैं। अपनी जिव्हा के क्षणिक स्वाद या उदर-पूर्ति या स्वार्थ या मनोरंजन के लिए, निरपराध और मूक प्राणियों की हत्या करना तो घोर-से घोर पातक और निन्दा का काम है। वैसे ही धर्म के नाम पर भी हिंसा करना कलंक और कल्मष है। किसी को कभी मत सताओ। सबके तुम्हारी ही-सी जान है। इस सुन्दर और परम कल्याणकारी उपदेशामृत की चहुँ ओर वर्षा आप ही ने तो की है।

भगवान् महावीर के समकालीन धर्माचार्य

ले० श्री शान्तिलाल सेठ

आगम-गणिपिटक में तथा बौद्धागमे-त्रिपिटक में अनेक मत-दर्शनों का आलोचन पाया जाता है—जिनमें (१) क्रियावाद (२) अक्रियावाद (३) अज्ञानवाद और (४) विनयवाद मुख्य हैं। इन्हीं के उपभेद जैन दर्शन में ३६३ और बौद्ध दर्शन में—ब्रह्मजाल सुत्त में ६२ प्रचलित हैं।

भ० महावीर तथा भ० बुद्ध के अतिरिक्त निम्न पाँच मत-प्रवर्तक उस समय अत्यन्त प्रसिद्ध थे:—

(१) पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप)
(२) पकुध कच्चायन (ककुद कात्यायन)
(३) अजित केस कम्बली (अजित केश कबली)
(४) मक्खलि गोसाल (मस्करिन् गोशाल)
(५) सञ्जय बेलट्ठीपुत्त

इन धर्माचार्यों के नामोल्लेख के साथ बौद्ध ग्रन्थों में इनका मत निरूपण किया गया है और जैन ग्रन्थ-सूत्र कृताङ्ग में भी नामोल्लेख के बिना ही इन मत प्रवर्तकों के सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। उन्हीं का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है:—

पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप) 'अक्रियावाद' के प्ररूपक

इनके सिद्धान्त का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है

'करते कराते छेदन करते पकाते पकवाते शोक करते परेशान होते परेशान कराते चलते—चलाते प्राण मारते बिना दिये लेते सेंध काटते गाँव लूटते चोरी करते बटमारी करते परस्त्री गमन करते झूठ बोलते भी पाप नहीं किया जाता। छुरे से तेज चक्र द्वारा जो इस पृथ्वी के प्राणियों का (कोई) एक मांस का खलियान एक मांस का पुंज बनाई, तो इसके कारण उसको पाप नहीं पाप का आगम नहीं होगा। यदि घात करते कराते काटते-कटाते पकाते पकवाते गंगा के दक्षिण तीर पर भी जाये, तो भी इसके कारण उसको पाप नहीं पापका आगम नहीं होगा। दान देते दिलाते यज्ञ करते यज्ञ कराते यदि गंगा के उत्तर तीर भी जाय आये तो इसके कारण उसको पुण्य नहीं पुण्य का आगम नहीं होगा। दान दम संयम से सत्य बोलने से न पुण्य है न पुण्य का आगम है।

पूरण कस्सप की मृत्यु पूर्व ५७२ में हुई थी ऐसा कहा जाता है। अर्थात् यह भी बुद्ध और महावीर का समकालीन ही था सामञ्ञफल (दिग्घ निकाय) सुत्त में उनके 'वाद' को अक्रियावाद कहा गया है। सूत्रकृताङ्ग में ऐसे ही वाद का वर्णन पाया जाता है। टीकाकार उसे * 'अकारक वाद' कहते हैं। उपनिषद् में वर्णित 'आत्मा अपने मूल स्वभाव में निष्क्रिय है और वह पाप पुण्य से पर है' इस प्रकार के वाद को अंतिम सीमा तक लिया जाय तो उक्त वाद फलित होता है। बौद्ध—साहित्य में पूरण कस्सप को अचेलक अर्थात् नग्न तपस्वी तथा संघ-स्वामी गणाचार्य ज्ञानी यशस्वी तीर्थंकर (मतस्थापक) वर्णित किया गया है।

पकुध कच्चायन (ककुद् कात्यायन)

शाश्वतवाद का प्ररूपक

इनके सिद्धान्त का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है —

यह जगत् सात काय-पदार्थ का बना हुआ है। यह सात काय अकृत अनिर्मित अवध्य-कूटस्थ और स्तम्भवत् अचल है। यह चल नहीं होते विकार

* कुव्वं च कारयं चेव सव्वं कुव्वं न विज्जई। एवं अकारओ अप्पा एवं ते उ पगब्भिया। सूत्र १।१।१।१३

को प्राप्त नहीं होते न एक दूसरे को हानि पहुँचाते हैं न एक दूसरे के लिये पर्याप्त हैं। यह सात काय इस प्रकार हैं। (१) पृथ्वीकाय (२) अप्काय (३) तेजःकाय (४) वायु काय (५) सुख (६) दुःख (७) जीवन। इस सप्तकाय को मारने वाला घात कराने वाला सुनने वाला सुनाने वाला जानने वाला जतलाने वाला कोई भी नहीं है। जो तीक्ष्ण शस्त्र से किसी का शीश भी काट डाले तो भी कोई किसी को प्राण से नहीं मारता। सातों कायों से अलग खाली जगह में वह शस्त्र गिरता है

पकुद कच्चायन भी भ० महावीर और बुद्ध का समकालीन शिष्यवृन्द का नायक देशभर में प्रसिद्ध तीर्थ मत प्रवर्तक था। प्रश्नोपनिषद् में कबन्धी कात्यायन का उल्लेख पाया जाता है। कबन्धी और ककुदी ये दोनों शब्द एक ही शारीरिक पंगुता के वाचक हैं। आचार्य बुद्ध घोष इनके विषय में कहते हैं कि पकुद कच्चायन ठंडा पानी पीता नहीं था अपितु उष्ण जल ही पीता था। इनके अनुयायी भी तपस्वी जीवन व्यतीत करते थे। इनके वाद को 'शाश्वतवाद या अनेकत्ववाद' कहा गया है। सूत्रकृताङ्ग (१-१।१।१५।१६) में वर्णित वाद को डा० वेणीमाधव बरुआ ने पकुद कच्चायन के वाद बतलाया है यद्यपि उसमें आत्मा के साथ छह पदार्थ मानने वाले वादी का वर्णन है। 'आत्मा को कोई मार नहीं सकता न छेद सकता है'— उपनिषद् तथा गीता में वर्णित वाद को विशेष स्पष्ट किया जाय तो कात्यायन का वाद फलित हो जाता है।

Pre buddhistio Indian Philosophy P P 281-286
कौषी १—८; कठ० १-२ १८-२१ गीता—

अजित केस कंबल

उच्छेदवाद या भूतवाद का प्रवर्तक

इनके सिद्धान्त का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है:—

'न दान है न यज्ञ है न होम है न पुण्य या पाप का अच्छा बुरा फल होता है न यह लोक है न परलोक है न माता है न पिता है न अयोनिज (औपपातिक देव) सत्त्व हैं और न इसलोक में वैसे ज्ञानी और समर्थ श्रमण या ब्राह्मण हैं जो इसलोक और परलोक को स्वयं जानकर और साक्षात्कर (कुछ) कहेंगे। मनुष्य

सन्ति पंच महब्भूया इहमेगेसिमाहिया।
आयछट्ठा पुणो आहु आया लोगे य सासए सूय १ १ १ १५
दुहओ ण विणस्सन्ति नोय उप्पज्जए असं।
सव्वे वि सव्वहा भावा नियत्ती भावमागया॥ सू १ १ १ १६

मनुष्य मरे हुओं को खाट पर रख कर ले जाते हैं उसकी निन्दा प्रशंसा करते हैं। हड्डियां कबूतर की तरह उजली हो (बिखर) जाती हैं और सब कुछ भस्म हो जाता है। मूर्ख लोग जो दान देते हैं उनका कोई फल नहीं होता। आस्तिक-वाद (आत्मा है) झूठा है। मूर्ख और पण्डित सभी शरीर के नष्ट होते ही उच्छेद को प्राप्त हो जाते हैं। मरने के बाद कोई नहीं रहता।

+ तज्जीव तच्छरीरवादी को स्पष्ट करने वाला मूल पाठ (अस्पष्ट प्रति): ... जीवे ... सरीरे ... परमाउ ... पन्नत्ते ... सरीरं "।

अजित केसकंबल भी म० महावीर तथा बुद्ध का समकालीन शिष्यवृन्द का नायक देश भर में प्रसिद्ध तीर्थ-मत प्रवर्तक था। आजन्मकेश के बने हुए कंबल का ही ओढ़ता था इसलिए वह केसकंबली के नाम से विशेष प्रसिद्ध हुआ। उसके वाद को उच्छेदवाद जड़वाद कहा गया है। उसका यह सिद्धान्तवाद नास्तिक चार्वाक या लोकायतिक मत से मिलता जुलता है। ऐसा वाद प्रत्येक काल में किसी न किसी रूप में अस्तित्व में आता ही है। इस वाद को भूतवाद भी कहा जा सकता है क्योंकि जगत् के आदि मूल कारण जड़भूत तथा उसकी जड़शक्तियों के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी न स्वीकारना यह भूतवाद का मुख्य लक्षण होता है। कौटिल्य ने तो अपने अर्थशास्त्र में इस भूतवाद लोकायतदर्शन को एक स्वतंत्र दर्शन की भाँति स्थान दिया है।

मक्खली गोसाल

संसार शुद्धिवाद या नियतिवाद का प्ररूपक

इनके सिद्धान्त का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है —

"सत्त्वों के क्लेश का हेतु नहीं है-प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु के और बिना प्रत्यय के ही सत्त्व क्लेश पाते हैं। सत्त्वों की शुद्धि का कोई हेतु नहीं है कोई प्रत्यय नहीं है। बिना हेतु के और बिना प्रत्यय के सत्त्व शुद्ध होते हैं। हम कुछ नहीं कर सकते हैं (कोई) पुरुष भी नहीं कर सकता है बल नहीं है पुरुष का कोई पराक्रम नहीं है। सभी सत्त्व सभी प्राणी सभी भूत और सभी जीव अपने वश में नहीं हैं निर्बल निर्वीर्य भाग्य और संयोग के फेर से छह जातियों (में उत्पन्न

+ पत्तेयं कसिणे आया जे बाला जे य पंडिया। संति पिच्चा न ते संति नत्थि सत्तोववाइया॥ नत्थि पुण्णेव पावे वा नत्थि लोए इओवरे। सरीरस्स विणासेणं विणासो होइ देहिणो॥

सूत्र १।१।१।११-१२

हो) सुख और दुःख भोगते हैं। ८४ लाख महाकल्प के फेरे में आने के पश्चात् मूर्ख या पण्डित जानकर और अनुगमन कर दुःखों का अन्त कर सकते हैं। वहाँ यह नहीं है—शील या व्रत या तप ब्रह्मचर्य से मैं अपरिपक्व कर्म को परिपक्व करूँगा परिपक्व कर्म को भोगकर अन्त करूंगा। सुख दुःख द्रोण (माप) से तुले हुए हैं संसार में घटना बढ़ना उत्कर्ष अपकर्ष नहीं होता। जैसे कि सूत की गोली फेंकने पर उछलती हुई गिरती है वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर आवागमन में पड़कर दुःख का अन्त करेंगे।"

मक्खलि गोसाल भ. महावीर तथा बुद्ध के समकालीन और प्रसिद्ध आजीविक मत का प्रवर्तक संघस्वामी तथा भारत में प्रसिद्ध मत प्रवर्तक था। कहते हैं कि वह गोशाला में जन्मा था इसलिए गोशाला और मस्कर अर्थात् दण्ड धारण करता था। इसलिए मस्करी गोसाल नाम से प्रसिद्ध हुआ था। भ. महावीर की छद्मस्थ अवस्था में यह छह वर्ष जैसे दीर्घ समय तक उनके साथ रहा था और यही कारण है कि मस्करी गोसाल के जीवन और सिद्धान्त के विषय में भगवती-सूत्र उपासक-दशाङ्ग सूत्रकृताङ्ग आदि जैन सूत्र साहित्य में संक्षिप्त तथा विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

बौद्ध ग्रन्थों में उनके सिद्धान्त को संसार शुद्धिवाद और जैन सूत्रों में नियतिवाद कहा गया है। उनके सिद्धान्त में बल वीर्य, पुरुषाकार या पराक्रम को स्थान नहीं है क्योंकि उनके मतानुसार प्रत्येक पदार्थ नियति भावाश्रित है।

आजीविक सम्प्रदाय उस समय जैन और बौद्ध जैसा ही प्रसिद्ध और समादृत सम्प्रदाय माना जाता था। उसका यही कारण है कि अशोक राजा के प्रसिद्ध शिला लेखों में आजीविक संप्रदाय का मानपूर्ण उल्लेख किया गया है और अशोक के पौत्र दशरथ ने भी उनके लिये रहने को गुफायें भी भेंट की थी। ऐसा वर्णन पाया जाता है। आजीविक मतानुयायी के विषय में कहा जाता है कि वे अचेलक तपस्वी थे और प्रत्येक वस्तु में जीवत्व होने के कारण किसी को विघ्न बाधा न पहुँचे इस तरह चलन व्यवहार में वे मानते थे। सामान्यतः निर्दोष भिक्षाचरी से अपना जीवन पालन करते थे। मज्झिम-निकाय में कहा गया है कि आजीविक लोग दूसरों की आज्ञा मानकर स्वमान भंग होने नहीं देते थे और वे उद्देशिक और

* न तं सयंकडं दुक्खं कओ अन्नकडं च णं।
सुहं वा जइ वा दुक्खं सेहियं वा असेहियं ॥ १ १ २ १
सयंकडं न अन्ने हिं वेदयन्ति पुढो जिया।
संगइयं तं तहा तेसिं इहमेगेसि माहियं ॥ १ १-२ ३
एवमेयाणि जंपन्ता बाला पंडियमाणिणो।
नियया नियर्य सन्तं अयाणन्ता अबुद्धिया १ १-२ ४

* सूत्र कृतांग १ १-२

नैमित्तिक भिक्षा को स्वीकार करते नहीं थे इतना ही नहीं जब लोग जीमने बैठे हों तब अथवा दुष्काल के समय एकत्रित अन्न में से भी भिक्षा मांगते नहीं थे और मछली मांस आदि मादक पदार्थ भी खाते नहीं थे।* जैनधर्म विषयक कई बातों में भी आजीविक मत का साम्य है—

१ निर्जीव जड़पदार्थों में भी जीवत्व की कल्पना।

२ प्राणीमात्र के शरीर के रंग के अनुसार शुक्ल पीले आदि छः लेश्या के प्रकार

३ कथंचित् हो कथंचित् न हो कदाच हो कदाच न भी हो ऐसा तीन राशि वाला वाक्य प्रयोग।+मक्खली गोशाल के जीवन का साम्प्रदायिक मोह के कारण कुछ विचित्र चरित्र चित्रण किया गया हो ऐसा प्रतीत होता है। आजीविक मत की प्रसिद्धि तथा उनके प्रभाव को देखते गोशाल प्रभावशाली व्यक्ति होंगे यह निःसंदेह है।

संजय वेलट्ठिपुत्त *

अनिश्चिततावाद या अज्ञानवाद[1] का प्ररूपक

इनके सिद्धान्त का वर्णन इस प्रकार पाया जाता है।

"यदि आप पूछें क्या परलोक है? और यदि मैं समझूं कि परलोक है तो आपको बतलाऊं कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता मैं वैसा भी नहीं कहता मैं दूसरी तरह से भी नहीं कहता मैं यह भी नहीं कहता कि 'यह नहीं है'। मैं यह भी नहीं कहता कि 'यह नहीं है'। परलोक नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी है। परलोक न है और न नहीं है। अयोनिज (औपपातिक) प्राणी है। अयोनिज प्राणी नहीं है है भी और नहीं भी न है और न नहीं है। अच्छे बुरे काम के फल हैं नहीं हैं हैं भी और नहीं भी न हैं और न नहीं हैं।"

संजय म० महावीर और बुद्ध के समकालीन गणस्वामी थे। वे परिव्राजक थे और तीर्थ-मत प्रवर्तक के तौर पर प्रसिद्ध थे। म० बुद्ध के मुख्य शिष्य सारिपुत्त और मोग्गलायन सर्व प्रथम संजय वेलट्ठिपुत्त के अनुयायी थे ऐसा कहा जाता है। संजय के उपदेश का झुकाव विक्षिप्तवाद या अज्ञानवाद की ओर था और इसी कारण बौद्धागमों में संजय के वाद को अनिश्चिततावाद और जैनागमों में अज्ञानवाद कहा गया है।

ऐसा अज्ञानवाद मनुष्यों को इन्द्रियातीत वस्तुओं की व्यर्थ चर्चाओं में से निकालकर मनुष्य जीवन से सम्बन्धित बातों में तन्मय करने के लिए उपयोगी सिद्ध

*विशेष जानकारी के लिए देखिए—

[1] Prebuddhistic Indian philosophy P 297 318

[+] मक्खली गोशाल की आजीविक मत

सूत्रकृताङ्ग सूत्र– १-६-२७, १ १२-२ १, २ २-७-८ में इस अज्ञानवाद का वर्णन पाया जाता है।

हो सकता है। जो सदय लोगों के हाथ में एक उपयोगी साधन की पूर्ति कर सके ऐसा यह वाद निर्बल और स्वार्थी लोगों के हाथ में आकर एक विनाशक साधन बन सकता है। यही कारण है कि संजय का अज्ञानवाद और अनिश्चिततावाद जो एक ओर इन्द्रियातीत वस्तुओं को व्यर्थ चिन्ताओं से मुक्त करने वाला समझा जाता था वही मानव समाज की तत्त्व जिज्ञासा और आचार प्रणालिका में बाधक हो सकता था। इस अनिश्चितता या अज्ञानता को दूर करने के लिए भ० महावीर ने उसमें 'स्याद्वाद' के सिद्धान्त की विशिष्ट प्रणालिका द्वारा संशोधन किया। और संशयवाद या अज्ञानवाद को निर्मूल किया।

महाकवि पप

विद्याभूषण पं० के० भुजबली शास्त्री, अध्यक्ष, भारतीय ज्ञानपीठ
[कर्णाटक शाखा] मूडबिद्री

महाकवि पंप के पूर्वज प्रथमतः वैदिक ब्राह्मण थे। इनमें इसके प्रपितामह का पिता माधव सोमयाजि बड़े-बड़े यज्ञों के द्वारा कर्णाटक में पर्याप्त ख्याति पा चुका था। पंप को सोमयाजि की महिमा पर गौरव था अवश्य पर साथ ही साथ उसके हिंसामय यज्ञों से घृणा भी थी। माधव सोमयाजि के वंशोत्पन्न अभिरामदेव ही पंप का श्रद्धेय पिता था। यह भी पहले वेदानुयायी था। परन्तु पीछे जैन धर्मावलंबी हो गया था। कवितागुणार्णव पंप को अपनी ब्राह्मण जाति पर अवश्य गर्व था पर साथ ही साथ इस उत्तम जाति में जन्म लेने वालों के पालने योग्य समीचीन धर्म जीवदयामय एकमात्र पवित्र जैन धर्म ही हो सकता है यह इसकी सच्ची भावना थी। पिता अभिरामदेव ने जैन धर्म का आश्रय लेकर अपनी श्रेष्ठ जाति को श्रेष्ठतर बनाया यों अपने पिता पर पंप को बड़ा अभिमान था।

परंपरागत वैदिक संस्कृति नवीनागत जैन संस्कृति के साथ पंप के जीवन में इस प्रकार मिल गई जिस प्रकार दूध में पानी मिल जाता है। इन संस्कृतियों में एक ने दूसरी को सहसा नहीं छोड़ा। पंप उदार था। इसमें धर्मान्धता नहीं थी। कवि के पूर्वज वेंगि मंडल के वेंगिपलु नामक अग्रहार के निवासी थे। वेंगि मंडल कृष्णा-गोदावरी नदियों के बीच में पूर्व समुद्र तक फैला हुआ एक विशाल देश था। यद्यपि यह आंध्र था फिर भी हमारे साहित्य में ख्याति-प्राप्त अनेक कवि यहां पर हुए हैं। पंप कहां पर पैदा हुआ बढ़ा और पढ़ा यह कहना कठिन है। हां पीछे यह महाकवि के रूप में वेंगि मंडल के पश्चिम में कर्णाटक सीमा के निकट अवस्थित वेमुलवाडक [वर्तमान निजाम राज्य के करीमनगर जिलान्तर्गत वेमुलवाड] में

राज्य करने वाले चालुक्यवंशी द्वितीय अरिकेसरी के दरबार में पहुंचा। इसी दरबार में रह कर महाकवि ने अपने अमर काव्य की रचना की थी। साथ ही साथ गुणग्राही प्रतापी राजा अरिकेसरी से कृति के योग्य पुरस्कार भी पाया था।

यों तो वेंगि-मण्डल से ही पंप का घनिष्ठ संबंध था। फिर भी वहां से सुदूरवर्ती बनवासि में इसका हृदय मान रहा, पंप ने अपनी कृति 'विक्रमार्जुन-विजय' में वहां का वर्णन बहुत ही सुन्दर ढंग से किया है। यह भी अनेक देशों में पर्यटन कर बनवासि में आये हुए अर्जुन के मुख से ही कराया है। विद्वानों की राय है कि पंप बनवासि प्रांत के सघन वनों से सुगंधित मनोमोहक विविध जाति के पुष्पों से एवं वहां की शीतल सुगंधित हवा से अच्छी तरह परिचित ही नहीं था इन चीजों को दीर्घ काल तक वहां पर भोग भी चुका था। इसीलिये वेंगुलपाठक की कड़ी गर्मी में समय बिताने वाले महाकवि पंप को वे पूर्व स्मृतियाँ सहसा वहां पर जाग उठीं थीं। पंप इतने से ही संतुष्ट न हो कर अमूल्य बनवासि को नन्दन-वन मान कर कहता है कि 'मनुष्य को बनवास में ही जन्म ले रसिक बन कर जीना चाहिये अगर अपने भाग्य में इतना नहीं बदा है तो कोयल या भ्रमर बन कर ही सही पर वहां पर घूमे बनवास'×।

कविकुलगुरु धर्मैक प्राण पंप को बनवासि जैसा पवित्र देश अधिक प्रिय लगना स्वाभाविक ही है। बनवासि वह पवित्र क्षेत्र है जहां पर प्रातःस्मरणीय आचार्यप्रवर भगवान् भूतबलि ने पवित्र जैनागम को ग्रंथबद्ध किया था। वास्तव में यह पुण्यक्षेत्र पंप के लिये ही नहीं समूची जैन जनता के लिये पूजनीय है। बहुत कुछ संभव है कि महा कवि का विद्याध्ययन भी इसी आदरणीय क्षेत्र में पुनीत जैनाचार्यों के निकट संपन्न हुआ हो। प्रायः ई० पूर्व से ही यहां पर जैन धर्म की सत्ता मौजूद थी। कदंबों के जमाने में तो यहां पर जैन धर्म सुचारु रूप से चारों ओर फैल रहा था। इस बात को अधिकांश विद्वान् सहर्ष मानते हैं कि कदंब वंश में दीर्घ काल तक जैन धर्म ही राजधर्म रहा। उपर्युक्त बनवासि कदंबों की राजधानी थी। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए कर्णाटक कवि-सार्वभौम पंप का विद्याध्ययन बनवासि में संपन्न हुआ मानना अयुक्तिसंगत नहीं है।

राजा अरिकेसरी ने बनवासि से सम्मानपूर्वक बुलाकर वेंगिमंडल की पश्चिम सीमा पर पंप को सादर रखा। पंप के गुणातिशय ने अरिकेसरी के मन को एक दम हर लिया था। राजा ने महाकवि को प्रेम से बुलवाकर उससे 'विक्रमार्जुन विजय' की रचना कराई। इसके पुरस्कार में अरिकेसरी ने पंप को यथेष्ट वस्त्र आभूषणादि बहुमूल्य वस्तुओं को ही नहीं दिया बल्कि शासनपूर्वक धर्मपुर नामक एक मनोहर अग्रहार भी प्रदान किया। राजा को इतने से ही संतोष नहीं हुआ। उसने गुणार्णव पंप को 'कवितागुणार्णव' नामक उपाधि द्वारा विनोद सम्मानित किया था।

× विक्रमार्जुन विजय आश्वास ४ पद्य ३१।

इधर पंपभी पुराण-प्रसिद्ध उदात्त सद्‌गुणों को अरिकेसरी में पाकर प्रसन्न था। कवि की दृष्टि में महाभारत का वीर अर्जुन और राजा अरिकेसरी ये दोनों एक ही थे। इसीलिये अरिकेसरी और अर्जुन इन दोनों को अभिन्न मान कर भारत की कथा में अरिकेसरी के चरित्र को मिला कर कहने के उद्देश से ही पंप ने विक्रमार्जुन विजय, की रचनाकर डाली। इसके द्वारा महाकवि ने वस्तुतः अपने स्वामी की निर्मल कीर्ति को सदा के लिये अमर बना दिया। कवितागुणार्णव केवल कवि ही नहीं था,वीर भी था। अपने स्वामी के साथ अनेक भयंकर लड़ाइयों में पंप वीरता से लड़ा भी है। पंप स्वयं वीर था इस बात के लिये वीररस प्रधान इसका काव्य ही उज्ज्वल निदर्शन है। इस काव्य में वीररस की विमल गंगा सर्वत्र बह चली है।

पंप स्वतंत्र प्रकृति का स्वाभिमानी कवि था। शासकों में शौर्य औदार्यादि गुणों के साथ—साथ मद अविवेकादि दुर्गुणों का होना भी स्वाभाविक है। इसी का सोचकर पंप ने स्वयं कहा है " कि राजाओं को प्रसन्न रखकर उनके आश्रय में रहना कष्टसाध्य है। फिर भी मालूम होता है कि अभिमानमूर्ति महाकवि के समक्ष ऐसी कोई भी विकट परिस्थिति उपस्थित नहीं हुई थी। इसका एक मात्र कारण आपस का निष्कपट प्रेम ही रहा होगा। अरिकेसरी और पंप में स्वामि भृत्य, का व्यवहार कभी नहीं रहा होगा। दोनों एक दूसरे को गौरव एवं स्नेह से ही देखते होंगे।

अरिकेसरी के सहवास में रहकर प्रायः पंप ने यह जान लिया था कि स्वामि—भृत्य का निष्कपट स्नेह यथार्थरूप से कितनी दूर तक जा सकता है। इसके लिये अपने अमर काव्य 'विक्रमार्जुन विजय में पंप के द्वारा मार्मिक ढंग से चित्रित दुर्योधन तथा कर्ण का निश्छल असीम स्नेह ही उज्ज्वल दृष्टान्त है अरिकेसरी के परिचय के लिये महाकवि पंप ने अपने काव्य में बहुत-सा स्थान दे रखा है। इसमें राजा का वंशपरिचय साहस एवं उपाधियाँ बड़े सुन्दर ढंग से इतिहास रूप में विस्तार से वर्णित हैं। इतिहासज्ञों को इन वर्णनों से पर्याप्त सहायता मिली है। पंप ने अपने को कदली गर्भवत श्याम रंगवाला मृदु और कुटिल केशवाला कमल सदृश गोलमुख वाला मृदु एवं मध्यम देहवाला हित-मित-मृदु वचन वाला ललित-मधुर सुन्दर वेषवाला बतलाया है। * वेष भूषण आदि के संबंध में पंप की विशेष आसक्ति थी। इसने अन्यत्र अपने को 'ललितालंकरण' लिखा भी है। किस ऋतु में किस प्रकार की पोशाक उपादेय है इस बात को पंप अच्छी तरह जानता था। काव्यरसिक एक विद्वान का मत है कि महाकवि ने अपने को 'वनिताकटाक्ष

विक्रमार्जुन विजय आश्वास १४ पद्य ५१—२

* कदली गर्भश्यामं मृदुकुटिलशिरोरुहं सरोरुह वदनम् ॥
मृदु मध्यमतनु हित-मित। मृदु वचनं ललित मधुर सुंदर वेषम् ॥
(आदि पुराण आश्वा १ पद्य ११)

कुवलयवलयचन्द्र ही नहीं बतलाया है बल्कि केरल मलय, आंध्र आदि देशवासी सुंदरियों से उसका जो प्रेम था उसे भी इसमें निःसंकोच व्यक्त किया है। × कहने का तात्पर्य यह है कि पंप सिर्फ एक महाकवि ही नहीं था बल्कि भोगी भी था। स्त्री रूपके समान चित्ताकर्षक विविध जाति के पुष्पों का भी पंप प्रेमी था। उसके लिये पुराण का ११ वां आश्वास विशेष रूप से द्रष्टव्य है। यों तो पंप को सभी जाति के पुष्प प्रिय थे। फिर भी बेला पर यह विशेष मुग्ध था।

पंप ने अपने आदि पुराण की रचना शा० श० ८६३ ई० सन् ६४१) के दुंदुभि संवत्सर में की थी। × इसने उक्त आदि पुराण में अपने को दुंदुभी संवत्सरोद्भव प्रकट किया है दुंदुभि माने ३९ वर्ष पहले ई० सन् ६०२ होता है यह कविता-गुणार्णवका जन्म संवत्सर है। मालूम होता है कि आदि पुराण के रचना काल में पंप की अवस्था ३९ की थी। यह इसके पूर्व ही अरिकेसरी के आश्रय में आ चुका था। इस बात को कवि की कवितागुणार्णव उपाधि ही बतला रही है। इसके थोड़े ही समय के बाद पंप ने विक्रमार्जुन-विजय की रचना की थी। अरिकेसरी चाहता था कि यह ग्रंथ एक साल में समाप्त हो। कविकुलगुरु महाकवि पंप के लिये इतना काल भी अधिक था। इसने इस महाकाव्य को सिर्फ ६ माह में ही खतम कर डाला। आदि पुराण की रचना के लिये इसे केवल ३ माह ही लगे थे।

पंप के दो ग्रंथों में से एक लौकिक और दूसरा आगम या धार्मिक है। लौकिक ग्रंथ विक्रमार्जुन विजय का × आधार व्यास का महाभारत और आदि पुराण का आधार आचार्य जिनसेन का संस्कृत आदि-पुराण है। ऊपर मैं कह चुका हूँ कि विक्रमार्जुन विजय सिर्फ अरिकेसरी को लक्ष्य करके ही लिखा गया था। अरिकेसरी वैदिक मतानुयायी था। मालूम होता है कि इसीलिये जैन मतानुयायी होकर भी उसने व्यास के महाभारत को ही विक्रमार्जुन विजय का आधार बनाया। फिर भी कवि ने द्रोपदी को पंचपत्नी न मान कर जैन मान्यतानुसार सिर्फ अर्जुन की ही

× पंप पुराण

आदि पुराण आश्वास १६ पद्य ७६-७७

दुंदुभि-समीर् निमर्द, दुंदुभि संवत्सरोद्भव ममकवसी ॥

दुंदुभि सिंहासन सुर। दुंदुभिपति चरण कमल भृगं पंप ॥

(आदि पुराण आश्वास १ ११)

बल्युक्तिलक नामिलव। बन्धजनभिमतमूर्ति -सुकविकलौनि- ॥

अंबरतमृतजन्माधिप। रम्यतमुर्वरा विसर कीर्ति विस्तार ॥

(आदि पुराण आश्वास १ पद्य ३)

× विक्रमार्जुन विजय' आश्वास १४ पद्य ६

× विक्रमार्जुन विजय' आश्वास १४ पद्य ६

॥ श्वेताम्बर परम्परा भी द्रौपदी को अर्जुन की ही पत्नी स्वीकार करती है। (संपादक)

पत्नी माती है। इससे आगे चल कर पंप को कुछ असुविधायें उपस्थित अवश्य हुईं। फिर भी यह अपने सिद्धान्त से विचलित नहीं हुआ। जैन समाज में महापुराण का स्थान बहुत ऊँचा है। इसके रचयिता आचार्य जिनसेन सामान्य कवि नहीं थे। हिन्दी विश्व-कोष' के विद्वान् संपादक के मत में जिनसेन की कविता महाकवि कालिदास की कविता से किसी भी दृष्टि से कम नहीं है। बल्कि कहीं-कहीं उससे भी बढ़कर। आचार्य जिनसेन का पार्श्वाभ्युदय (काव्य) संस्कृत साहित्यभाण्डार में एक बेजोड़ रत्न है। महापुराण की गंभीर वर्णन शैली से प्रसन्न हो कर ही पंप ने उसे अपने आदि पुराण का आधार माना होगा। पंप ने आदि पुराण से सिर्फ कथा सार को ही नहीं लिया है, भाव एवं जहां-तहां वचन तथा पद्यों की छाया भी ग्रहण की है। कुछ भी हो पंप का आदिपुराण एक सर्व श्रेष्ठ काव्य है। पंप ने इसमें जैन धर्म का रहस्य सुंदर ढंग से समझाया है। जिनसेन के आदि पुराण का कथासार ही पंप के आदि पुराण का कथासार है। फिर भी कन्नड़ साहित्य की दृष्टि से वह एक अपूर्व रत्न है। पंप ने ललितांग-स्वयंप्रभा श्रीमती-वज्रजंघ नीलांजना का नृत्य आदि प्रकरणों को अपने शब्द और भाव में बहुत ही सजीव ढंग से वर्णित किया है।

महाकवि का पद मिलना आसान काम नहीं है। वह केवल प्रतिभा से ही प्राप्य वस्तु है। ऐसी प्रतिभा पुण्य से मिलती है। साथ ही साथ ऐसे प्रतिभाशाली कवि को पाने के लिये जनता का भी पुण्य चाहिये। इसमें संदेह नहीं है कि पंप के जन्म से सैकड़ों वर्ष पूर्व कन्नड़ भाषा में काव्यों की रचना हो चुकी थी। गद्य-पद्यों की रचनाओं के अतिरिक्त अनेक शासन कन्नड़ भाषा में ही अंकित किये गये थे राष्ट्रकूट चक्रवर्ती नृपतुंग के नाम से कविराजमार्ग नामक एक अलंकार ग्रंथ तथा गुणगांक उपाधिधारी पूर्व चालुक्य राजा के नाम से एक छन्द-शास्त्र की रचना भी की जा चुकी थी। फिर भी पंप के समय से कन्नड़ साहित्य में एक नया युग ही प्रारंभ हुआ। इसके बाद के जैन हो या जैनेतर सभी चंपू काव्यों का आदर्श पंप की ही कृतियां हैं। महाकवि रन्न अभिनव पंप आदि बाद के कवियों में से अपनी अपनी रुचि के अनुसार किसी ने रस किसी ने रीति इस प्रकार सभी ने कुछ न कुछ महाकवि पंप की कृतियों से उधार अवश्य लिया है। कवि मधुर के मतसे पंप कन्नड़ का आदि का कवि है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में महाकवि कालिदास जनकवि हैं उसी प्रकार कन्नड़ साहित्य में महाकवि पंप जनकवि है। प्रायः दोनों के मनोधर्म में भी सदृशता पायी जाती है।

नृपतुंग तथा गुणगांक पंप से पहले के हैं अवश्य परन्तु उनके ग्रंथ काव्य नहीं हैं,लक्षण ग्रंथ हैं। यह बात ठीक है कि पंप से पहले ही काव्यों का जन्म हो चुका था पर खेद की बात है कि उन काव्यों में से एक भी अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। इसलिए पंप को ही कन्नड़ का आदि कवि मानना बिलकुल युक्ति-संगत है।

× इसके लिये हिन्दी विश्वकोष' में जिनसेन शब्द द्रष्टव्य है।

आदि प्रकरणों का अपने शब्द और भाव में बहुत ही सजीव ढंग से वर्णन किया है।

लगभग ई० सन् ९०० से १२०० तक कन्नड़ में बहुत से चंपू ग्रंथ रचे गये थे। इन सबों का आदर्श पंप के चंपू ही हैं। इसीलिये बाद के रन्न दुर्गसिंह नयसेन नागवर्म अग्गल जन्न और कमलभव आदि प्रायः सभी कन्नड़ कवियों ने अपनी रचनाओं में महाकवि पंप को बड़े आदर के साथ स्मरण किया है। बल्कि नागचन्द्र तो पंप पर इतना मुग्ध हो गया था कि उसने अपना नाम ही अभिनव पंप रख लिया था। विद्वानों की राय से उक्त चंपू युग पंप का युग है। क्या कि प्राप्त अधिकांश कन्नड़ कवि इसी युग में पैदा हुए थे। इस दृष्टि से यह युग वस्तुतः कन्नड़ साहित्य का सुवर्ण-युग है। जैनेतर समाज में पंप की ख्याति विक्रमार्जुन-विजय से कफी होगी। महाभारत का अर्जुन ही इसका नायक है। आश्रयदाता अरिकेसरी के गुणों से मुग्ध होकर अर्जुन के गुणों के साथ अरिकेसरी के गुणों की तुलना करने के लिये ही विक्रमार्जुन विजय का शुभ जन्म हुआ। पंप अरिकेसरी के दरबार में नहीं जाता तो प्रायः विक्रमार्जुन विजय का जन्म ही नहीं होता। साथ ही साथ कर्णाटकवासी पंप के इस अमर काव्य से सदा के लिये वंचित रह जाते।

मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि विक्रमार्जुन विजय के कथा संविधान में कवितागुणार्णव पंप ने कुछ परिवर्तन किया है। मगर यह परिवर्तन कोई भारी परिवर्तन नहीं है। जैसे पांचाली को पंचपत्नी नहीं मानना कृष्ण को प्राधान्य नहीं देना आदि। इसका हेतु जैन दृष्टि ही होनी चाहिये। कृष्ण महा बुद्धिशाली थे अवश्य फिर भी जैन दृष्टि से वह पूज्य नहीं है। जैन धर्म की कथानुसार वह अभी मुक्त नहीं हुए हैं। हां भविष्य में होने वाले २४ तीर्थंकरों में वह अन्यतम हैं साथ ही साथ कृष्ण को प्रधानता देने से नायक अर्जुन का प्राशस्त्य घट जाता है।

महाकवि पंप को निम्न लिखित उपाधियां प्राप्त थीं (१) कवितागुणार्णव (२) सुकवि जन मनोमान सोत्तमहंस (३) संसारसारोदय तथा (४) सरस्वती मणिहार। इसका काव्य सुकविजन मनोरम होने से वह सुकविजनमनोमान सोत्तमहंस, इसकी कविता समुद्र की तरह नित्य नूतन एवं गंभीर होने से 'कवितागुणार्णव, इसने अपने काव्य में संसारसार स्वरूप धर्म का वर्णन किया है इस लिये "संसारसारोदय" इसका वाग्विलास सरस्वती के अलंकार प्राय होने "सरस्वती मणिहार" और आदि पुराण की रचना से "पुराणकवि कहलाया। इन उपाधियों में से 'कवितागुणार्णव ही पंप को अधिक प्रिय थी। उपर्युक्त पांच उपाधियों में से कवितागुणार्णव' विक्रमार्जुन में एवं सुकविजनमनोमानसोत्तमहंस और 'संसारसारोदय' ये दोनों आदि पुराण में प्रायः प्रत्येक आश्वास के अन्त में प्रयुक्त हैं। × स्व० बी० वेंकटनारायणप्प एम० ए० का कहना है कि आज तक के उपलब्ध कन्नड़ काव्यों में भाषा शैली वस्तु रचना कथानिरूपण तथा वर्णनचातुर्य में पंप के काव्य ही सर्वश्रेष्ठ हैं। इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है। × हां पंप

× आदिपुराण का 'पंप कविचरित' पृष्ठ ४ २

ने अपने आदि पुराण में प्रौढ़ संस्कृत शब्दों को प्रचुर परिमाण में लिया है पर यह बात विक्रमार्जुनविजय में नहीं पाई जाती है। इसमें सामान्यतः व्यवहार में आने वाले ललित संस्कृत शब्द ही लिये गये हैं। बल्कि इस विक्रमार्जुनविजय में जहां तहां अन्यान्य प्रकरणों में अनेक अपूर्व कन्नड शब्द भी मिलते हैं। पंप के द्वारा अपने बहुमूल्य काव्यों में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों को देख कर यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि पंप संस्कृत भाषा में भी महापण्डित था। कवि सार्वभौम पंप के काव्य सरल ललित मधुर ही नहीं है। किन्तु प्रौढ़ एवं गंभीर भी है। वस्तुतः इसके कविता सौंदर्य को पहिचानने के लिये अपने में असामान्य काव्य कला कौशल चाहिए। पंप के काव्य सिर्फ पण्डितों के लिये ही नहीं; सामान्य जनता भी इन काव्यों से यथेष्ट लाभ उठा सकती है। क्योंकि इसने अपने काव्यों में भाषा रोज के व्यवहार में आने वाले शब्दों रूढ़िगत वाक्यों एवं भावों को ही लिया है। एक बात और है कि अनुभवगम्य स्वाभाविक घटनाओं को सजीव चित्रित करना पंप के लिये बाँयें हाथ का खेल था।

महाकवि पंप के प्रयोग वास्तव में शब्द शास्त्र के लक्ष्य हैं। इसीलिये वैय्या करणी नागवर्मा (ई० सन् ११४५) काव्यावलोकन' तथा 'कर्णाटक भाषा भूषण में केशीराज (ई सन् १२६) ने शब्दमणिदर्पण' में और भट्टा कलंकदेव (ई सन् १६०४) ने 'शब्दानुशासन में पंप के प्रयोगों को (लक्ष्यरूप में) लिया है। यहां पर और एक बात उल्लेख कर देना आवश्यक है। वह यह है कि कविकुलगुरु पंप के द्वारा विक्रमार्जुन विजय में जितने वृत्त अन्य किसी काव्य में किसी भी कवि के द्वारा प्रयुक्त नहीं है। × पंप के वर्णन अलंकार रस और भाव के संबंध में भी दो शब्द कहदेना अप्रासंगिक नहीं होगा। खास कर सूर्योदय तथा सूर्यास्त का वर्णन कुरु जांगण देश और उसकी राजधानी का वर्णन हस्ति + 'विक्रमार्जुन विजय' का उपोद्घात पृष्ठ ३५ नापुर का वर्णन वनवासि का वर्णन वसन्तऋतु का वर्णन तथा कुमारोदय का वर्णन ये सब गंभीर तथा चित्ताकर्षक हैं। × मुख्यतः पंप की उपमायें में नवीन स्वाभाविक हृदयग्राही हैं।

पंप की कृतियों में श्लेष विरोधाभास आदि अर्थालंकार बहुत ही कम पाये जाते हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास तो सर्वत्र ही पाया जाता है। जहां तहां यमक तथा मुक्तपद ग्रस्त भी दृष्टिगत होते हैं। भावोद्रेकोत्पादक पद प्रयोग में कवि शिरोमणि पंप अधिक प्रवीण हैं। इसके लिये निम्न लिखित प्रकरणों का वर्णन विशेष दर्शनीय है (१) द्रुपद तथा द्रोण का पूर्व स्नेह विचार संबंधी संवाद (२) राजसूययाग के निमित्त सुसज्जित सभा पूजा विचार (३) वनवास के समय द्रौपदि एवं भीम को धर्मराज पर उत्पन्न आक्रोश (४) किरातार्जुनीय विचार (५) दुर्योधन की सभा में कृष्ण का दूतकार्य (६) कर्ण के मरणोपरान्त दुर्योधन का प्रलाप (७) कर्ण के

×'विक्रमार्जुन विजय का उपोद्घात पृष्ठ ३७
× विक्रमार्जुन विजय का उपोद्घात पृष्ठ ३८

संबंध में अश्वत्थामा तथा दुर्योधन के बीच का वादविवाद भीम के आगमन के बाद का विचार।*

पंप के श्रद्धेय गुरुदेवेन्द्र मुनि राजा महाराजाओं के द्वारा सुसम्मानित एवं पूजित एक सुविख्यात विद्वान् थे। श्रवणबेलगोल के नं० ४ के शासन में इनके विशिष्ट गुणों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। + वास्तव में पंप जैसे कविकुलगुरु के गुरु सामान्य विद्वान् कैसे हो सकते हैं? कवितागुणार्णव का आश्रयदाता चालुक्य-वंशी सुप्रसिद्ध द्वितीय अरिकेशरी था। इस अरिकेसरी का पिता राजा नरसिंह तथा माता जाकव्वे थी। इसकी राजधानी पुलिगेरे थी। धारवाड़ जिले का वर्तमान लक्ष्मेश्वर ही पूर्व का वह पुलिगेरे रहा। विक्रमार्जुन विजय के रचनाकाल में यहां पर चालुक्यों को हरा कर राष्ट्रकूट नरेश राज्य करते थे। राष्ट्रकूट नरेशोंने भी कन्नड़ साहित्य के लिये पर्याप्त सहायता की थी। नृपतुंग का कवि राजमार्ग नवमी शताब्दी की कृति है। पर राज्याधिकार राष्ट्र कूटों के हाथ में दीर्घ काल तक नहीं रहा। ३२ वर्षों के बाद उसे चालुक्यों ने फिर छीन लिया। इस बीच में चालुक्य वंश की

जननि महिपचूडारत्नराराजिताङ्घ्रिः। विजितमकरकेतूद्दण्डदोर्दण्डगर्वः॥

कुमतनिकरभूमानीकदंभोलिदण्डः। सजयतु विबुधेन्द्रो भारतीभालपट्टः॥

कुछ शाखाओं ने देश के भिन्न भिन्न भागों में यथाशक्ति अपना अधिकार जमा लिया था। अपनी रचना में महाकवि पंप के द्वारा निर्दिष्ट राजवंशावली पुलिगेरे में शासन करने वाली चालुक्य शाखाकी ही है। इसकी पुष्टि शा० श ८८१ [ई० सन् ६५९] में आचार्य सोमदेव के द्वारा रचित 'यशस्तिलकचंपू से भी होती है। × यह एक महत्वपूर्ण प्रौढ महाकाव्य है। इसके रचयिता आचार्य सोमदेव अनेक विषयों के ज्ञाता एक महा विद्वान थे। इनके द्वारा रचित 'नीतिवाक्यामृत' नामक एक उल्लेखनीय राजनीति विषयक ग्रन्थ भी है जोकि माणिकचंद दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला बम्बई की ओर से प्रकाशित हो चुका है।

संस्कृत साहित्य में आदि कवि वाल्मीकि को जो स्थान प्राप्त है वही स्थान कन्नड़ साहित्य में आदि कवि पंप को प्राप्त है। काव्य रचना के लिये प्रतिभा ही उपादान कारण है फिर भी इसके लिये व्युत्पत्ति और अभ्यास भी अत्यावश्यक होता है। इस अनिवार्य नियमानुसार महाकवि पंप ने आचार्य जिनसेन जैसे जैन कवियों के अतिरिक्त श्री हर्ष कालिदास भारवि तथा बाण आदि सुप्रसिद्ध जैनेतर कवियों की कृतियों का भी अध्ययन किया था।

× यह महा काव्य 'बंबई' के निर्णयसागर प्रेस की ओर से प्रकाशित है।

जैन प्रतियों का आदि संकेत।

श्री बनारसीदास जैन एम० ए०, पी० एच० डी०

हस्त लिखित जैन प्रतियों के आरम्भ में चाहे वे दिगम्बर हों या श्वेताम्बर एक मंगलमय संकेत होता है जो देखने में देवनागरी अंक ८ या ९ जैसा होता है। इसका आकार पाई-रहित प से भी मिलता है जिसके ऊपर रेफ हो। कभी इसके नीचे हलन्त चिन्ह (्) भी लगा रहता है। इसके दाईं ओर बिन्दु और एक या दोनों तरफ दो दण्ड भी मिलते हैं। इस प्रकार यह विभिन्न रूपों में पाया जाता है।

इस संकेत को गुजराती में "भले" कहते हैं (१) यह इसका पुराना नाम प्रतीत होता है क्योंकि "प्राचीन गूर्जर काव्य संग्रह" में कई कविताएं ऐसी हैं हिन्दी की बारह खड़ी बावन अक्षरी अक्षरावट अथवा फारसी की सीहर्फी की भांति क्रमशः अपनी भाषा २ वर्णमाला के अक्षरों के साथ शुरू होते हैं उनमें सबसे पहले "भले" शब्द आता है। (२)

१ इस प्रकार की एक रचना "सालिभद्र कक्क" है इसका पहला पद्य है।

भलि भेवणु कम्मारिबल वीरनाहु पय नेवि।
पउमु भणइ कक्कक्खरिय सालिभद्दगुण केवि ॥ १ ॥

इसके बाद क का ख खा आदि से पद्य शुरू होते हैं। ङ ञ और ण के लिये न ही आया है। व के बाद स ष स ह ख। अन्त के दो पद्य भ और ह से शुरू होते हैं। २ 'दूहामातृका' दूसरी रचना है। इसका आदि पद्य है—

भले भलेविणु जगतगुरु पणमउ जगह पहाणु।
जासु पसाइ मूढ जिउ पामइ निम्मलु नाणु ॥ १ ॥

नोट इस पद्य में भलीविणु के स्थान में शायद भलेविणु होना चाहिये था।

आगे के पद्य ओं न म सि ध (ओं नमः सिद्धम् से) शुरू होते हैं तदुपरान्त अ आ इ ई उ ऊ रि री लि ली आदि से अन्त के पद्य ख और भ से।।

(३) मातृ का 'चउपइ' एक और रचना है जिसके पहले पद्य में पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। दूसरा पद्य यह है—

भले भलेविणु भणीभइ भलउ तिहुयण माहि सार एतलउं।
जिन जिनवचनु जगह आधारु इसीउ भूकिउ अवरु असारु ॥ २ ॥

अगले तीन पद्य क्रमशः मीडउं सीह सीहं से आरम्भ होते हैं। कदाचित् मीडउं से बिन्दु का तात्पर्य हो। सीह सीह स्पष्टतया रेखा अर्थात् दण्ड हैं जो "भले"

और 'बिन्दु' के पीछे आते[1]। इसके बाद के पद्य ओं न म सि धं मइ (ओं नमः सिद्धम्) से शुरू होते हैं। फिर अ आ इ ई आदि क ख, ग घ ङ आदि अक्षर आते हैं। अन्त के पद्यों के आदि में ळ क्षु स सं आ हैं।

(४) इसी प्रकार "सम्यक्त माई चउपइ" में पहला पद्य है—

भले मरणउं माई धुरि जोइ अम्मइ मूढ जु-समकित होइ।
समकतु विणु जो किया करेइ, तातइ लोहि नीर वालेइ ॥ १ ॥

इसके बाद ओं न म सि ध अ आ इ ई आदि से ह तक के साथ पद्य शुरू होते हैं। इसमें 'ळ' नहीं आया।

उपर्युक्त उल्लेखों से सिद्ध होता है कि वर्णमाला के पहले ओं नमः सिद्धं और उसमें भी पहले एक और शब्द बोला जाता था। (१) निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह सबसे पहला शब्द वर्णमाला का अक्षर था या कोई दूसरी प्रकार का संकेत। तथापि इसके स्थापना रूप संकेत होने की अधिक संभावना है। यह चिह्न जैन प्रतियों तथा शिला लेखों में लगभग आठ सौ-सौ वरस से मिलता है। गुप्त कालीन ताम्रशासनों के आदि में भी नागरी अङ्क ७ या ६ (१) जैसा चिह्न मिलता है जिसे कुछ विद्वान् सिद्ध और कुछ ओं का संक्षिप्त रूप मानते हैं।

अब इस जैन संकेत को ब्राह्मी अक्षरों से मिलायें तो इसकी आकृति 'उ' या 'ओ' से कुछ २ मिलती है जो परवर्ती बिन्दु के साथ मिलकर ओं हो सकता है। परंतु ब्राह्मी में ओं लिखने की प्रथा नहीं थी जैसा कि अशोक की धर्म लिपियों से विदित होता है क्योंकि ये बिना किसी माङ्गलिक संकेत के आरम्भ होती हैं।

फिर इस संकेत की आकृति गुप्तकालीन ह अक्षर से मिलती है। इस अवस्था में यह (अ) हं का संक्षेप हो सकता है परन्तु इसको ओं या अर्हं अथवा सिद्ध मानने में यह आपत्ति है कि इस संकेत के पश्चात् ओं अर्हं सिद्धं आदि शब्द आये मिलते हैं।

जहां तक हमारा विचार है यह स्वस्तिक नन्द्यावर्त आदि की भांति रेखामय माङ्गलिक चिह्न है। वैसे तो स्वस्तिक को ब्राह्मी लिपि के स्वस्ति का अक्षर-समूह (मोनोग्राम) बतलाया जाता है। (२) कदाचित् यह 'भद्रका' चिह्न हो जैसा कि इसके 'भले' नाम से प्रतीत होता है।

---

1 H ral l Rasikd K pad : D script ve Cat logue of the Gov rnment ollections o m us ript deposited at the Bhand rkar Oriental R search Institute Poona Vol XVII part II ( ) 1936 Appendex II symbol 1 3. Not e p. 11 13

२ प्राच न गूर्जर काव्य-संग्रह : Ga kwa Oriental series No. XIII Baroda 1920- pp. 62, 67 74 78

ब्राह्मण जैन तथा बौद्ध प्रतियों और लेखों के आधार पर इस चिन्ह के मूल रूप नाम आदि का निर्णय होना चाहिये। आशा है कि प्रस्तुत लेख से प्रेरित होकर कोई समर्थ विद्वान् इस काम को अपने हाथ में लेंगे।

कृषिकर्म और जैनधर्म

[लेखकः—शोभाचन्द्र भारिल्ल, न्यायतीर्थ]

षि कर्म जैन धर्म से विरुद्ध है या अविरुद्ध, इस बात का विचार करने से पहले यह देखना उचित होगा कि धर्म क्या है ? और जीवन में धर्म का स्थान क्या है ? क्या धर्म कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के लिये है या सर्व साधारण प्राणी मात्र के हित के लिये ? इन प्रश्नों पर सरसरी निगाह डालने से कृषि कर्म का जैनधर्म के साथ जो संबंध है उसे समझना सरल हो जायगा।

धर्म जीवन का अमृत है जीवन का संस्कार है। अतएव वह जीवमात्र के लिये है। धर्म का प्रांगण इतना विशाल है कि उसमें किसी भी प्राणी के लिए स्थान की कमी नहीं। यह बात दूसरी है कि कोई धर्म की छत्र-छाया में न आवे और उससे अलग ही रहने में अपनी भलाई समझे, मगर धर्म किसी को अपनी शीतल छाया में आने से नहीं रोकता। धर्म की अमृतमयी गोद में बैठकर शान्ति लाभ करने का अधिकार सबको समान है चाहे कोई किसी भी जाति का वर्ग का और वर्ण का हो किसी भी प्रकार की आजीविका करके जीवन निर्वाह करता हो। इतना ही नहीं धर्म-साधना का जितना अधिकार मनुष्य को है उतना ही पशु-पक्षी को भी है। अलबत्ता धर्म-साधना की मात्रा प्रत्येक प्राणी की अपनी अपनी योग्यता पर निर्भर करती है।

आजकल भी पंजाब में महाजनी लिपि के आदि में १ (एक) लिखकर उसे एको राम सहाई" पढ़ते हैं। कदाचित यह अंक ० या ३ का ही परिवर्तित रूप हो। १ के पश्चात् ओंनामासी धीम बोलते हैं जो ओं नमः सिद्धं का अपभ्रंश है। गुरुमुखी लिपि के प्रारम्भ में १ ओंकार सत्गुरुप्रसादि लिखते हैं। अंक जैसे इस संकेत के लिखने की प्रथा प्राचीन और विस्तृत है परन्तु इसका रूप और उच्चारण भिन्न होगया है।

४ देखिये प्राचीन लेखों के शीर्षे आदि Epigraphia Indica, तथा पूरणचंद नाहर कृत जैन लेख संग्रह में।

5 monier monier Williams English-Sanskrit Dictionary स्वस्तिक और स्वस्ति का शब्द।

मध्यकाल में धर्म के सम्बन्ध में जो विविध भ्रान्तियां उत्पन्न होगई हैं उन भ्रान्तियों के कारण अनेकानेक रूढ़ियां जन्मी हैं। ऐसी रूढ़ियां अब तक हमारे यहां प्रचुर परिमाण में विद्यमान हैं। इन रूढ़ियों एवं भ्रमणाओं के काले बादलों में सूर्य की भांति चमकता हुआ धर्म का असली स्वरूप छिप गया है। आज समाज का अधिकांश भाग धर्म की वास्तविकता से अनभिज्ञ है।

धर्म सम्बन्धी भ्रान्तियों में एक बहुत बड़ी भ्रान्ति यह भी है कि धर्म व्यक्तिगत उत्कर्ष का साधक है और सामाजिक व्यवस्थाओं के साथ उसे कोई लेनदेन नहीं है निस्सन्देह यह धारणा भ्रम पूर्ण ही है। क्योंकि व्यक्ति समाज-समुद्र का एक बिन्दु मात्र है। कोई भी व्यक्ति समाज से सर्वथा निरपेक्ष रह कर जीवित नहीं रह सकता। प्रत्यक व्यक्ति के जीवन पर सामाजिक स्थिति का गहरा प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। इसके अतिरिक्त अगर धर्म का सम्बन्ध सिर्फ व्यक्तिगत जीवन के साथ ही होता तो धर्म प्रवर्त्तक श्री महावीर स्वामी स्वयं संघ की स्थापना क्यों करते ? सच्चाई यह है कि संघ या समाज के लिये वैयक्तिक जीवन भिन्न नहीं सकता। अतएव धर्म शास्त्र में जहां आत्म-धर्म (व्यक्तिगत धर्म) का निरूपण किया गया है * वहीं राष्ट्रधर्म, संघ धर्म आदि की भी प्ररूपणा की गई है। आशय यह है धर्म सम्बन्ध और समाज दोनों के साथ है। अतएव किसी धार्मिक आचार का विचार करते समय हमें समाजतत्त्व को भूलना नहीं चाहिए।

आत्मा अमूर्त्तिक है अतीन्द्रिय है यह सब सही है। लेकिन इससे भी अधिक प्रत्यक्ष सत्य यह है कि हमें आत्मा की उपलब्धि शरीर के साथ ही होती है। हम शरीर के बिना जीवित नहीं रह सकते। जो अशरीर हैं उन्हें धर्म की आवश्यकता नहीं है जिनके लिए धर्म है वे सब सशरीर हैं। और शरीर ऐसी चीज नहीं है, जिसका स्वेच्छापूर्वक चाहे जब त्याग कर दिया जाय। शरीर धर्म साधना का प्रधान अंग है शरीर निर्वाह करना हमारे जीवन की एक ऐसी मूलभूत और अनिवार्य आवश्यकता है जिसकी उपेक्षा कोई महान् से महान् आत्मनिष्ठ मुनि भी नहीं कर सकता।

शरीर निर्वाह के लिए, चाहे कितना ही संयम शील क्यों न हो अन्न और वस्त्र तो आवश्यक है ही। वस्त्रों के अभाव में भी कदाचित् जीवित रहा जा सकता है किन्तु अन्न के बिना नहीं। 'अन्न वै प्राणाः' यह एक ठोस सत्य है। ऐसी स्थिति में अन्न उपार्जन करने के लिए किया जाने वाला कर्म कृषिकर्म क्या अधर्म है ? जिसके अभाव में जीवन-निर्वाह असंभव है जिसके सहारे मनुष्य-समाज का अस्तित्व सम्भव है उस कार्य को एकान्त अधर्म कहना कहां तक उचित है ? जो लोग संतोष के साथ अन्नोपार्जन करके जगत् की रक्षा कर रहे हैं उन्हें अधार्मिक कहना क्या अभिमाहम और विचारहीनता का द्योतक नहीं है ?

* स्थानांग सूत्र स्थान १० वां

पहले कहा जा चुका है कि धर्म जीवन का अमृत है। जो धर्म जीवन का विरोधी है जीवन का विष है जीवन-निर्वाह का निषेध करता है वह वास्तविक धर्म नहीं हो सकता। लेकिन धर्म वास्तव में इतना अनुदार नहीं है। कृषि जैसे उपयोगी कार्य करने वालों को यह अपनी छत्र-छाया से वंचित नहीं करता। ऐसा करने वाले धर्मात्मा जीवित नहीं रह सकते और धर्मात्माओं के अभाव में धर्म टिका नहीं रह सकता। आचार्य समन्तभद्र ने यथार्थ ही कहा है—न धर्मो धार्मिकैर्विना।

एक ओर हम जैनधर्म की विशालता व्यापकता और उदारता की प्रशंसा करते करते नहीं थकते और यह दावा करते हैं कि वह प्राणीमात्र का त्राण करने वाला और इसीलिए विश्वधर्म बनने के योग्य है दूसरी ओर उसे इतने संकीर्ण रूप में चित्रित करते हैं कि विश्व को जीवन देने वाले कार्य करनेवालों को भी धर्म की परछाई से अलग कर देना चाहते हैं। हमारे यह परस्पर विरोधी दावे चल नहीं सकते। जिन भगवान् ने प्राणीमात्र के लिए धर्म का उपदेश दिया है। अतएव जिन कार्यों से दूसरों का अनिष्ट नहीं होता बरन् रक्षा होती है ऐसे उपयोगी कार्य करने वाले धर्म-बाह्य नहीं कहला सकते जब कि वे धर्म का आराधन करने के इच्छुक हों।

कृषि और हिंसा

बहुत से लोगों की यह धारणा है कि खेती का काम हिंसात्मक होने के कारण त्याज्य है। खेती में असंख्य त्रस जीवों का और स्थावर जीवों का घात होता है। अतएव त्रस जीवों की हिंसा का त्यागी श्रावक खेती नहीं कर सकता। श्रावक को अपने जीवन-निर्वाह के लिए अल्पारंभ वाली आजीविका करनी चाहिए, जिससे धर्म की साधना भी हो और जीवन-निर्वाह भी हो। ऐसी विचारधारा से प्रेरित होकर लोगों का ध्यान प्रायः सट्टे की ओर जाता है। सट्टे में न आरंभ है न हिंसा है। न कुछ करना पड़ता है न धरना पड़ता है। न लेन न देन फिर लाखों का लेनदेन हो जाता है। लोग सोचते हैं-कहां तो असीम हिंसा का कारण महारंभमय खेती और कहां निरारम्भ सट्टा!

इन्हीं विचारों के कारण ही शायद बहुत से जैन गृहस्थ कृषिकार्य से विमुख होकर सट्टा करते हैं और उसी में संतोष मानते हैं।

इसमें तो संदेह ही नहीं कि कृषि करने में त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा होती है और अगर जैन धर्म सिर्फ साधुओं का ही धर्म होता तो यह भी निर्भय होकर कहा जा सकता था कि कृषि कार्य जैन धर्म से असंगत है। मगर ऐसी बात नहीं है। जैन धर्म जैसे साधुओं के लिये है वैसे ही गृहस्थों के लिये भी है। धर्म की उपयोगिता नीचे के स्तर के जीवों को ऊँचे स्तर (Standard) पर ले जाने

में है। जो धर्म गृहस्थों के भी काम न आ सके वह धर्म ही नहीं है। अविरत सम्यग्दृष्टि जो जैनाचार का तनिक भी पालन नहीं करता सिर्फ जैन धर्म पर श्रद्धाभाव रखता है वह भी जैनधर्मी ही कहलाता है। इस प्रकार जब गृहस्थ भी जैनधर्म का अनुयायी है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि उसकी अहिंसा की मर्यादा क्या है ? कृषिकर्म उस मर्यादा में है या उससे बाहर है ?

शास्त्रों में हिंसा के मुख्य दो भेद बतलाए गये हैं–(१) संकल्पजा हिंसा और (२) आरंभजा हिंसा। मारने की भावना से जानबूझ कर जो हिंसा की जाती है वह संकल्पजा हिंसा कहलाती है। जैसे शिकारी की हिंसा। जीवन निर्वाह भवन निर्माण पशुपालन आदि कार्यों में जो हिंसा होती है जिसमें प्राणियों को मारने का संकल्प नहीं होता वह आरम्भजा हिंसा कहलाती है। आरम्भजा हिंसा भी दो प्रकार की है निरर्थक और सार्थक। जो हिंसा बिना किसी प्रयोजन के व्यर्थ की जाती है वह निरर्थक आरंभजा हिंसा है। साधारण श्रावक सिर्फ संकल्पजा हिंसा और निरर्थक आरम्भजा हिंसा का त्यागी होता है। वह सार्थक आरंभजा हिंसा का त्यागी नहीं होता। अगर वह इस हिंसा का भी त्याग कर डाले तो फिर वह गृहस्थी का कोई भी काम नहीं कर सकता वैसी स्थिति में साधु और श्रावक के अहिंसाव्रत में कोई अन्तर ही न रह जायगा।

गृहस्थधर्म का प्रतिपादन करने वाले उपासक दशांगसूत्र में आनन्द श्रावक के व्रत-ग्रहण में यह पाठ आया है–थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाई जावज्जीवाए दुविहं तिविहेणं न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा। अर्थात्-दो करण और तीन योग से आनन्द स्थूल हिंसा का त्याग करता है।

स्थूल हिंसा किसे समझना चाहिए ? इस प्रश्न का स्पष्टीकरण आ. हेमचन्द्राचार्य ने अपने योग-शास्त्र में इस प्रकार किया है।

'स्थूला-मिथ्यादृष्टीनामपि हिंसात्वेन प्रसिद्धा या हिंसा सा स्थूल हिंसा। स्थूलानां वा त्रसानां जीवानां हिंसा स्थूल हिंसा। स्थूलग्रहण मुपलक्षणं तेन निरपराध संकल्पपूर्वक हिंसानामपि ग्रहणम्।

–योगशास्त्र द्वि प्र श्लो० १८ (टीका) अर्थात्-जिस हिंसा को मिथ्यादृष्टि भी हिंसा समझते हैं वह स्थूल हिंसा कहलाती है। अथवा स्थूल जीवों की अर्थात् त्रस जीवों की हिंसा स्थूल हिंसा कहलाती है। यहां स्थूल का ग्रहण उपलक्षण मात्र है अतएव निरपराध जीव की संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा भी समझ लेनी चाहिए।

इससे आगे आचार्य ने और भी स्पष्ट किया है –

पङ्गु कुष्ठि कुणित्वादि दृष्ट्वा हिंसाफलं सुधीः। निरागस्त्रसजन्तूनां हिंसां संकल्पतस्त्यजेत् ॥

अर्थात्-हिंसा करने वाले अगले जन्म में लँगड़े कोढ़ी और कुबड़े होते हैं

यह हिंसा का अनिष्ट फल देखकर बुद्धिमान पुरुष को निरपराध त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग करना चाहिए।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक के द्वारा होने वाली इस हिंसा से उसका अहिंसाणुव्रत खंडित नहीं होता–

(क) अपराधी त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा से
(ख) निरपराध त्रस जीवों की आरम्भजा हिंसा से
(ग) स्थावर जीवों की हिंसा से

अब हमें यह देखना है कि खेती करने में जो हिंसा होती है वह उक्त तीन तरह की हिंसा के अन्तर्गत होती है या नहीं ? खेती में होने वाली हिंसा उक्त ख और ग विभाग के अन्तर्गत है। खेती करने वाले का उद्देश्य हिंसा करना नहीं वरन खेती करना होता है। इसका प्रमाण यह है कि खेती करने वाले श्रावक को अगर एक हजार रुपये का प्रलोभन देकर कहा जाय कि हजार रुपये ले लो और इस मकोड़े को मार डालो तो वह ऐसा करने के लिये तैयार न होगा। जो किसान श्रावक खेती करने में अनगिनती जीवों की हिंसा करके सौ-दो सौ रुपयों का धान्य पाता है वह हजार रुपये लेकर भी एक मकोड़े को मारने के लिये तैयार नहीं होता इसका कारण यही है कि मकोड़े को मारना संकल्पी हिंसा है और खेती की हिंसा आरम्भी हिंसा है। असंख्य जीवों की आरंभी हिंसा होने पर भी श्रावक का अहिंसा व्रत भंग नहीं होता जबकि एक मकोड़े की संकल्पी हिंसा से भी व्रत का भङ्ग हो जाता है। आरम्भी और संकल्पी हिंसा की तुलना करते हुए भी आशाधरजी सागार धर्मामृत नामक श्रावकाचार में कहते हैं–

आरम्भेऽपि सदा हिंसां सुधीः सांकल्पिकीं त्यजेत् । घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चैः पापोऽघ्नन्नपि धीवरः

—सागारधर्मामृत द्वि. अ.

अर्थात्–आरंभ करने में भी समझदार श्रावक संकल्पी हिंसा का त्याग करे। क्योंकि संकल्पी हिंसा अतिशय पापमयी है। खेती करने के भाव से पृथिवीकाय आदि की हिंसा करनेवाले किसान की अपेक्षा मछली आदि न मारने वाला किन्तु मारने की भावना वाला मच्छीमार अधिक पापी है। वास्तव में संकल्पी हिंसा में अध्यवसाय अत्यन्त उग्र और दुष्ट होता है आरम्भी हिंसा में नहीं। यही कारण है कि आरंभी हिंसा से व्रत का भंग नहीं होता। अब यह स्पष्ट है कि खेती करने से श्रावक का अहिंसाणुव्रत खंडित नहीं होता।

कृषि और आरम्भ

दूसरा प्रश्न अल्पारंभ-महारंभ का है। अनेक लोगों की साधारण धारणा है कि खेती महारंभ का कार्य है अतएव वह श्रावक के लिए त्याज्य है। किन्तु हमें यह देखना है कि क्या खेती सचमुच महारंभ का कार्य है ?

आजकल जनता में अल्पारंभ महारंभ के संबंध में अनेक भ्रम फैले हुए हैं। जैनधर्म के उद्भट विद्वान स्वर्गीय जैनाचार्य श्री जवाहरलालजी महाराज ने इस विषय में बहुत विस्तृत और विचारपूर्ण व्याख्यान किया है। हम पाठकों से उनके इस संबंध के व्याख्यान पढ़ जाने का आग्रह करते हैं। उन्होंने सन् १९२७ में एक भाषण में कहा था—

मित्रों! अब एक प्रश्न मैं तुम्हारे सामने रखता हूं। बतायो खेती करने में ज्यादा पाप है या जुआ खेलने में? ऊपर की दृष्टि से जुआ (सट्टा) अल्प पाप गिना जाता है। इसमें किसी की हिंसा नहीं होती। केवल इधर की थैली उधर उठाकर रखनी पड़ती है। पर खेती में? एक हल चलाने में न जाने कितने जीवों की हिंसा होती है! यह कहना भी अत्युक्ति नहीं कि खेती में छहों कायों की हिंसा होती है।

मित्रों! ऊपरी विचार से ऐसा मालूम होता है सही पर अगर गहराई में जाकर विचार करेंगे तो आपको कुछ और ही प्रतीत होगा। आप इस बात पर ध्यान दीजिए कि जगत् का कल्याण किसमें है? पाप का मूल क्या है? क्या यह संदेह की बात है कि खेती के बिना जगत् सुखी नहीं रह सकता? खेती से प्राणियों की रक्षा होती है थोड़ी देर के लिए कल्पना कीजिए कि संसार के सब किसान कृषि कार्य छोड़कर जुआरी बन जायें तो कैसी बीते?

जिस कार्य से प्राणियों की रक्षा होती है वह कार्य पुण्य का है या पापका? यह कार्य पाप का नहीं हो सकता।

अब आप जुए की तरफ देखिए जुआ जगत्-कल्याण में तनिक भी सहायक नहीं है। बल्कि जुआ खेलने वालों में झूठ कपट छलछिद्र तृष्णा आदि अनेक दुर्गुण पैदा होजाते हैं। अधिक क्या कहूँ संसार में जितने दुर्गुण हैं वे सब जुए में विद्यमान हैं।

जुआ और खेती के पाप की तुलना करते समय आप यह न भूल जाइए कि शास्त्रों में जुए को सात कुव्यसनों में गिना गया है पर खेती करना कुव्यसनों के अन्तर्गत नहीं है। श्रावक को सात कुव्यसनों का त्याग करना आवश्यक है। अगर जुए की अपेक्षा खेती में अधिक पाप होता तो कुव्यसनों की अपेक्षा खेती का पहले त्याग करना आवश्यक होता। परन्तु शास्त्र कहते हैं कि आनन्द जैसे धुरंधर श्रावक ने श्रावकधर्म धारण करने के पश्चात् भी खेती करने का त्याग नहीं किया था।

जो लोग यह समझते हैं कि हमें बिना विशेष आरम्भ किये बाजार से ही अन्न धान्य मिल सकता है तो धान्योपार्जन करने के लिए आरम्भ-समारम्भ क्यों किया जाय? भले ही खेती में महारम्भ न हो किन्तु जिस आरंभ से बचना संभव है, उससे क्यों न बचना चाहिए?

इस प्रश्न का समाधान करने के लिए आचार्य सोमदेवसूरि की यह सूक्ति ध्यान देने योग्य है—

क्रीतेष्वाहारेष्विव पण्यस्त्रीषु क आस्वादः ।

—नीतिवाक्यामृत वार्तासमुद्देश।

आचार्य ने यहां खरीदे हुए आहार और वेश्या की तुलना की है। यह तुलना बड़ी बोधप्रद है और मार्मिक भी है। विवाह करने में अनेक आरंभ-समारम्भ करने पड़ते हैं सैकड़ों तरह की झंझटों में पड़ना पड़ता है बाल-बच्चों की परम्परा चलती है और इस परम्परा से पाप की परम्परा बढ़ती है। इस महारंभ से बचने के लिए वेश्यागमन करके ही काम-वासना तृप्त क्यों न करली जाय? थोड़े से पैसे खर्च किये और अनेक पापों से बचे। कहां तो पापों की अनन्त परम्परा और कहां वेश्या का अल्प पाप।

इस प्रकार ऊपरी दृष्टि से वेश्यागमन में अल्प पाप और विवाह करने में महापाप भले ही प्रतीत हो लेकिन कोई भी विवेकशील पुरुष इस व्यवस्था का समर्थन नहीं कर सकता। धर्म शास्त्रों में तो इसका समर्थन हो ही नहीं सकता। तात्पर्य यह है कि अल्पारंभ और महारंभ की मीमांसा बाह्य दृष्टि से और तात्कालिक कार्य से नहीं की जानी चाहिए। संसार की व्यवस्था और समाज-कल्याण की दृष्टि भी इसमें गर्भित है।

इसके अतिरिक्त, थोड़ी देर के लिए मान भी लिया जाय कि बाज़ार से धान्य लाकर खाना ही धर्मसंगत है और धान्य उपार्जन करना अधर्म है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि बाज़ार में धान्य आएगा कहां से? अगर मनुष्य मात्र इस धर्म को अंगीकार करले और खेती करना छोड़ दे तो जगत् की क्या स्थिति होगी? क्या धर्म के प्रचार का फल प्रलय होना चाहिए? जिस धर्म को अंगीकार करने से जगत में हाय हाय मच जाए मनुष्य भूख से तड़फ तड़फ कर प्राण दे दें वह धर्म क्या विश्व धर्म बनने के योग्य है? धर्म का उद्देश्य केवल पारलौकिक सुख-शान्ति नहीं है। ऐहलौकिक शान्ति सुख और सुव्यवस्था भी धर्म का लक्ष्य है। परलोक इस लोक पर अवलंबित है और इस लोक की सुख शान्ति कृषि कर्म पर बहुत कुछ अवलम्बित है। आचार्य श्री सोमदेव ने कहा है—

तस्य खलु संसार सुखं यस्य कृषिर्धेनवः शाकवाटः सद्मन्युदपानं च ॥

टीका-तस्य गृहस्थस्य खलु निश्चयेन सुखं भवति यस्य किं? यस्य गृहे सदैव कृषिकर्म क्रियते तथा धेनवो महिष्यो भवन्ति'।

—नीति वाक्यामृत पृ. ११

अर्थात् उस गृहस्थ को निश्चय ही सुख की प्राप्ति होती है जिसके घर में सदैव खेती की जाती है तथा गायें और भैंसें होती हैं।

आचार्य सोमदेवजी यद्यपि स्पष्ट रूप से खेती और पशुपालन करने का विधान नहीं करते ऐसा करना साधु की भाषा के विरुद्ध है तथापि उनका आशय एकदम स्पष्ट है। वे परोक्ष रूप से कृषि और पशुपालन का गृहस्थ के लिये सम र्थन कर रहे हैं ऐसी दशा में यह कैसे कहा जा सकता है कि खेती करना श्रावक धर्म से विरुद्ध है? अतएव आरंभ-समारम्भ की दृष्टि से कृषि का निषेध करना उचित नहीं कहा जा सकता।

कृषि कार्य में आरंभ नहीं है यह कहना यहां अभीष्ट नहीं है। कृषि में ही क्यों आरम्भ तो छोटे से छोटे कार्य में भी होता है। यहां तक कि घर आये हुए को आसन देने में भी आरम्भ होता ही है मगर इस आरम्भ का त्याग गृहस्थधर्म की मर्यादा में नहीं है। श्रावक की योग्यता के अनुसार उसके आचार की अनेक कोटियाँ हैं। उसका आचार क्रम-क्रम से अनेक प्रकार का है। कोई श्रावक साधारण त्यागी होता है कोई प्रतिमाधारी होता है। जैनशास्त्रों में बतलाया गया है कि प्रत्येक प्रतिमाधारी श्रावक भी आरम्भ का त्यागी नहीं होता। प्रतिमाओं का नियम क्रमपूर्वक ही होता है और आरम्भ त्याग प्रतिमा (पडिमा) में श्रावक खेती का त्याग करता है। दिगम्बर सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी कहते हैं:-

सेवा कृषि वाणिज्य प्रमुखादारम्भतो व्युपारमति। प्राणातिपातहेतोर्योऽसावारम्भविनिवृत्तः॥

—रत्नकरण्ड श्रावकाचार अध्याय ५।

अर्थात्-सेवा कृषि और वाणिज्य आदि आरंभ से जो कि हिंसा के हेतु हैं जो श्रावक निवृत्त होजाता है वह आरंभ त्याग नामक प्रतिमा का पालक कहलाता है।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के आचार्य श्री सिद्धसेन सूरि ने भी प्रवचनसारोद्धार की टीका में लिखा है—

एषा पुनरष्टमी—प्रणारम्भवर्जनप्रतिमा भवति यस्यां मव मासान् यावद् पुत्र भ्रातृप्रभृतिषु न्यस्तसमस्तकुटुम्बादिकार्यभारतया धनधान्यादि परिग्रहेष्वल्पाभिष्वङ्गतया च प्रेष्यैरपि-कर्मकरादिभिरपि आस्तां स्वयं आरम्भान्-सपापव्यापारान् महतः कृष्यादी निति भावः।

—प्रवचनसारोद्धार।

आशय यह है कि प्रतिमाधारी श्रावक आरंभ त्याग नामक आठवीं प्रतिमा में स्वयं आरंभ करने का त्याग कर देता है। तत्पश्चात् प्रेष्यारंभत्याग नामक नौवीं प्रतिमा धारण करता है। इस प्रतिमा में नौ महीना पर्यन्त वह कुटुम्ब का भार अपने पुत्र या भाई आदि पर छोड़ देता है और परिग्रह में उसकी आसक्ति कम होती है इस कारण नौकरों चाकरों से भी खेती आदि आरंभ के बड़े काम नहीं कराता।

आरंभ के काम अनेक हैं फिर भी यह बात ध्यान देने योग्य है कि स्वामी समन्तभद्र और श्री सिद्ध सेन सूरि-दोनों ही ने आरम्भत्याग प्रतिमा का स्वरूप बत लाते हुए कृषि का उल्लेख किया है। समन्तभद्राचार्य सेवा और वाणिज्य के साथ कृषि का उल्लेख करते हैं और सिद्धसेन सूरि सिर्फ कृषि का उल्लेख करके उसमें आदि पद जोड़ देते हैं। दोनों आचार्य भिन्न भिन्न मतावलम्बियों के ग्रन्थकार हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शायद उस समय भी कुछ लोगों को खेती के विषय में भ्रम होगा और उस भ्रम का निवारण करने के लिये ही आचार्यों ने अपने-अपने समय में आरंभत्याग प्रतिमा का स्वरूप बतलाते हुए कृषि का खास तौर से उल्लेख किया होगा। कुछ भी हो यह स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध में दिगम्बर श्वेताम्बर सम्प्रदायों के आचार्य एकमत हैं कि कृषि का त्याग साधारण श्रावक के लिये जरूरी नहीं है दिगम्बर सम्प्रदाय के आठवीं प्रतिमाधारी श्रावक प्रायः गृहवास का त्याग कर देते हैं और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार आजकल प्रतिमाओं का धारना ही नहीं हो सकता इससे यह स्पष्ट है कि गृहस्थ श्रावकों को खेती का त्याग करने के लिए कहना और खेती करने से श्रावकधर्म की मर्यादा का भंग मानना भ्रमपूर्ण है।

यह अत्यन्त खेद की बात है कि हमारे धर्मगुरु भी प्रायः इस भ्रम में पड़े हुए हैं। इसका परिणाम यह होता है कि गृहस्थों को गृहस्थधर्म की बातें नहीं बतलाई जातीं और साधु धर्म का आचार उन पर लादा जाता है। गृहस्थ श्रावक के कर्त्तव्यों का भलीभांति पालन नहीं करते और साधुधर्म का पालन तो कर ही कैसे सकते हैं इस प्रकार वे न इधर के रहते हैं न उधर के रहते हैं। इसके अतिरिक्त वे अनेक अवांछनीय प्रवृत्तियों में पड़ जाते हैं। आज श्रावकों के आचार विचार में जो विरूपता पाई जाती है उसका एक प्रधान कारण यही आचार विभ्रम है।

कृषि और कर्मादान

खेती के संबंध में एक बात और विचारणीय है। वह यह कि क्या खेती करना पन्द्रह कर्मादानों में से फोडी कम्मे (स्फोटि-कर्म) के अन्तर्गत है ? कुछ लोगों की धारणा है कि हल के द्वारा जमीन को फोड़ना फोड़ी कम्म नामक कर्मादान है। कर्मादान भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचार हैं। अतः व्रतधारी श्रावक अगर वह निरतिचार व्रतों का पालन करना चाहे तो उसे कृषि-कर्म नहीं करना चाहिये।

वास्तव में यह विचार भी अभ्रान्त नहीं है। अगर खेती करना कर्मादान में सम्मिलित होता तो भगवान महावीर स्वामी के समक्ष बारह व्रत ग्रहण करने वाला आनन्द श्रावक पाँच सौ हलों से जोती जा सकने योग्य खेती की मर्यादा कैसे कर सकता था ? क्या भगवान् उसे यह न समझाते कि व्रती श्रावक खेती नहीं कर सकता ? मगर आनन्द बारह व्रत ग्रहण करता है फिर भी पाँच सौ हलों से जुतने योग्य खेती का परिमाण करता है। इस बात का उपासक दशांग सूत्र में स्पष्ट उल्लेख है। मूल पाठ यह है:—

'तयाणंतरं च णं खेत्तवत्थुविहि परिमाणं करेइ—नन्नत्थ पंचहिं हलसएहिं नियत्तणसइएणं हलेणं, अवसेसं खेत्तवत्थुविहिं पच्चक्खामि।

उवासगदसांग १ का अध्ययन।

अर्थात्—तत्पश्चात् आनन्द श्रावक क्षेत्र, वास्तुविधि का परिमाण करता है कि सौ निवर्तन (एक तरह जमीन का माप) जोतने वाले एक हल के हिसाब से पांच सौ हलों द्वारा जुतने योग्य भूमि के अतिरिक्त बाकी की भूमि का प्रत्याख्यान करता हू।

इस प्रकार अन्यान्य व्रतों को ग्रहण करने पश्चात् ही आनन्द प्रतिज्ञा करता है कि:—

समणोवासएणं पण्णरस कम्मादाणाइं जाणियव्वाइं, न समायरियव्वाइं, तंजहा—इंगालकम्मे, वणकम्मे, साडीकम्मे, भाडीकम्मे, फोडीकम्मे ....

अर्थात्—श्रावक को पन्द्रह कर्मादान जानने योग्य हैं पर आचरण करने योग्य नहीं है वह इस प्रकार है—अंगारकर्म वनकर्म, शाकटकर्म भाटककर्म स्फोटि- कर्म इत्यादि।

उपासक दशांग सूत्र के यह दोनों उल्लेख साफ बतलाते हैं कि खेती करना स्फोटिकर्म कर्मादान नहीं है क्योंकि आनन्द श्रावक कर्मादानों का त्याग करता हुआ भी खेती का त्याग नहीं करता। खेती को अगर कर्मादान में गिना जाय तो यह प्रतिज्ञायें परस्पर विरोधी हो जायगी। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि व्रत ग्रहण कराने वाले स्वयं भगवान् हैं और ग्रहण करने वाला आदर्श श्रावक आनन्द है।

शास्त्र में आनन्द श्रावक का चरित मनोरंजन के लिये नानी की कहानी की तरह नहीं लिखा गया है। यह एक आदर्श चरित है जो इस भावना से लिखा गया है कि आगे श्रावक उसे अपना पथप्रदर्शक समझें और उसका अनुकरण करें। लेकिन हम लोगों के बारह व्रत तो दूर रहे मूल गुण तक का ठिकाना नहीं है और चले हैं हम आनन्द से आगे बढ़ने! आनन्द पांच सौ हल तक चलाने की छूट रखता है और हम एक हल चलाने में ही महा पाप मान कर उसका त्याग करने की धृष्टता करते हैं! आचार का यह व्यतिक्रम विकास का नहीं अधःपतन का ही कारण हो सकता है।

पन्द्रह कर्मादानों में एक साडीकम्मे अर्थात् शाकटकर्म भी है। शाकटकर्म का अर्थ है—गाड़ी बनाने बेचने और चलाने की आजीविका करना। अगर इस कर्मादान का सामान्य ही अर्थ किया जाय तो श्रावक बैलगाड़ी घोड़ागाड़ी तांगा मोटर आदि कोई गाड़ी भी नहीं रख सकेगा क्योंकि शाकट चलाना कर्मादान है और कर्मादान का त्याग करना श्रावक के लिए अनिवार्य है।

औरों की बात जाने दीजिये और सिर्फ पहले कर्मादान अंगारकर्म को ही लीजिए श्रावक अपने उदरनिर्वाह के लिए अग्नि जलाता है कोयले जलाता है तो क्या उसे कर्मादान लगता है ! अगर भोजन बनाने के लिए अंगार जलाने से ही कर्मादान का महापातक लग जाता है और श्रावक का व्रत दूषित हो जाता है तो फिर कर्मादानों का त्याग करने के लिए आजीवन संथारा लेने के सिवाय और क्या चारा है इस प्रकार तो श्रावक के व्रत ग्रहण करना अर्थात् शीघ्र ही मौत को आमंत्रण देना ही ठहरता है। धर्म की यह कितनी ऊलजलूल व्याख्या है।

लेकिन कर्मादानों का स्वरूप यह नहीं है। श्रावक अपने लिए गाड़ी बनाए खरीदे और स्वयं चलाये तो भी साडीकम्मे कर्मादान नहीं लगता । कर्मादान उस हालत में लगता है जब कि गाड़ी बनाने का धंधा ही अख्तियार कर लिया जाय और इसी धंधे से आजीविका चलाई जाय। इसी प्रकार अपने भोजन आदि उपयोग के लिए अंगार जलाने का काम करने से अंगारकर्म कर्मादान नहीं लगता। कोयला बना-बनाकर बेचने का व्यापार करने से कर्मादान लगता है। यही बात कृषि के संबंध में है। अपने लिए खेती करना कर्मादान नहीं है फोडिकम्मे परम् हल चला-चला कर आजीविका करना-हल चलाने की हा आजीविका करना और हल चलाकर उपार्जित किये हुए धन से निर्वाह करना कर्मादान है।

फोडीकम्मे' कर्मादान में तालाब खोदना कुआ-बावडी खोदना वगैरह काय भी गिने जाते हैं। परन्तु हमारा सहज ज्ञान क्या यह स्वीकार करने के लिए तैयार है कि परोपकार के लिए या अपने उपयोग के लिए कुआ आदि खोदने से महान् पाप-इतना बड़ा पाप जिससे श्रावक का व्रत खंडित हो जाय लगता है ! कदापि नहीं। वास्तव में अपने पेट के लिए भूमि फोड़ने का धंधा करना ही फोडीकम्मे कर्मादान है। कृषि करना कर्मादान में सम्मिलित नहीं है।

शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजाः।

—बृहत्स्वयंभू स्तोत्र।

अर्थात्—हे प्रभो ! आपने कृषि आदि कर्मों की शिक्षा दी। अगर कृषिकर्म आर्योचित कर्म न होता महान् पाप का कारण होता तो भगवान् उसका उपदेश क्यों देते ! तात्पर्य यह है कि कृषिकर्म न कर्मादान है न अनार्य कर्म है। यही जगह-जगह उसे वैश्यों का कर्म बतलाया गया है। श्रीसोमदेव सूरि ने लिखा है—

कृषिः पशुपालनं वाणिज्या च वार्ता वैश्यानाम्।

—नीतिवाक्यामृत।

उत्तराध्ययनसूत्र में "वइसो कम्मुणा होइ" इस सूत्रांश की टीका इस प्रकार की गई है- कर्मणा कृषि-पशुपालनादिना भवति'। अर्थात् कृषि पशुपालन आदि कर्मों से वैश्य होता है।

कृषिकर्म वैश्य का कर्त्तव्य है इस संबंध में अधिक उद्धरणों की आवश्यकता नहीं है। अतएव यह स्पष्ट है कि कृषिकर्म अनार्य—व्यवसाय नहीं है।

कृषिकर्म के संबंध में मुख्य मुख्य बातों का यहां तक विचार किया गया है। इससे यह भलीभाँति सिद्ध है कि कृषिकर्म श्रावक धर्म को बाधा नहीं पहुँचाता है। हाँ! जो श्रावक गृह-वास का त्याग करके, प्रतिमा धारण करके विशिष्ट साधना में अपना समय व्यतीत करने के लिए उद्यत होते हैं वे जैसे अन्यान्य आरम्भों का त्याग करते हैं उसी प्रकार कृषि का भी त्याग कर देते हैं। जो श्रावक व्रत रहित हैं या व्रतधारी होते हुए भी आरम्भ त्याग की कोटि तक नहीं पहुँचे हैं उनके लिए कृषिकर्म त्याज्य नहीं है। इतना ही नहीं अगर आजीविकाओं पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो यह भी प्रतीत होगा कि ब्याजखोरी आदि अन्य आजीविकाओं की अपेक्षा कृषि-आजीविका श्रावक धर्म के अधिक अनुकूल है। सट्टे के साथ जो एक प्रकार का जुआ ही है कृषि की तुलना की जा चुकी है। जुआ को धर्मशास्त्रों ने त्याज्य ठहराया है। सूदखोरी का धंधा भी प्रशस्त नहीं है। आचार्य सोमदेव सूरि ने लिखा है—

पशुधान्यहिरण्यसम्पदा राजते-शोभते, इति राष्ट्रम् ।

अर्थात्—जो देश पशु धान्य और हिरण्य से सुशोभित होता है वही सच्चा राष्ट्र है। यहाँ पशुओं और धान्य को प्रथम स्थान दिया गया है और उसके बाद हिरण्य (चांदी-सोने) को। ऐसा करके आचार्य ने यह सूचित कर दिया है कि किसी भी देश की प्रधान सम्पत्ति पशु और धान्य हैं क्योंकि उनसे जीवन की आवश्यकताएँ साक्षात् रूप से पूर्ण होती हैं। जो वस्तु जीवन की वास्तविक आवश्यकताओं की साक्षात् पूर्ति करती है उसका उपार्जन करने वाला सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से समाज एवं राष्ट्र का उपकार करता है। वह जगत् को अपनी ओर से कुछ प्रदान करता है। अतएव वह जगत का बोझ नहीं है वरन बोझ उठाने वालों का हिस्सेदार है। वह समाज से बहुत कुछ ग्रहण करता है तो उसके बदले समाज को कुछ देता भी है। अनाज पैदा करने वाला किसान दूसरों का भार नहीं है बल्कि दूसरों का भार सँभालता है—अनेक प्राणियों को अन्न के रूप में जीवन दे रहा है क्योंकि पैदा किया हुआ सारा अनाज वह स्वयं नहीं खा लेता। यही बात पशु पालन करने के संबंध में भी कही जा सकती है। मगर सूद का धंधा करने वाला पुरुष स्वार्थ साधन के सिवा और क्या करता है? एड़ी से चोटी तक पसीना बहाकर किसान जो अन्न उपजाता उसी पर उसका जीवन निर्भर है फिर वह उन्हें पेट भर खाने नहीं देता वह समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों के परिश्रम पर गुल छर्रे उड़ाता है मगर उनमें से किसी की मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये वह आत्मदान नहीं करता। बल्कि वह समाज में विषमताओं का विष ही फैलाता है। अतएव उसका कार्य जगत् के लिए कल्याणकारी न होकर अकल्याणकर ही कहा जासकता है।

दूसरी बात यह है कि खेती मूल आजीविका है। मूल आजीविका वह कहलाती है जिस पर अन्य अनेक आजीविकायें निर्भर हों। कपास रुई सूत सूत कताई बुनाई कपड़े के मील बजाजी का धंधा व इस संबंध के तमाम आढ़त आदि के धंधे तथा समस्त अनाज सम्बंधी व्यवसाय हलवाई की दुकानें होटल ढाबा आदि-आदि कृषि-कर्म पर अवलम्बित हैं। अगर किसान खेती करना छोड़ दे तो दुनियां के अधिकांश व्यापार चौपट हो जाएँ। इस दृष्टि से व्यापार का मूल भी खेती ही ठहरता है। ऐसी स्थिति में विभिन्न आजीविकाओं के साथ तुलना करने पर कृषि की उत्कृष्टता सिद्ध होती है। निःसन्देह कृषि जीवन है और कृषक जीवनदाता है लोग राजा महाराजाओं को अन्नदाता कहते मगर ईमानदारी से तो किसान ही अन्नदाता है।

जैन धर्म के सम्बन्ध में इस प्रकार आचार विषयक विभ्रम उत्पन्न होने का प्रधान कारण यह है कि हम उसे एकान्त निवृत्तिमय मान बैठे हैं। धर्मोपदेशक भी प्रायः इसी रूप में धर्म का स्वरूप प्रकट करते हैं। लेकिन क्या एकान्त निवृत्ति कहीं सम्भव है? निवृत्ति प्रवृत्ति के बिना और प्रवृत्ति निवृत्ति के बिना असम्भव है जैसे दिवाल की एक बाजू दूसरी बाजू के बिना असम्भव है। अक्सर लोग समझते हैं अहिंसा निवृत्ति रूप है लेकिन वास्तव में अहिंसा में जो निवृत्ति है वह अहिंसा का शरीर है और उसमें पाया जाने वाला प्रवृत्ति का भाग उसकी आत्मा है। किसी प्राणी को नहीं सताना अहिंसा का बाह्य रूप है और इस निवृत्ति के साथ सर्व प्राणियों में बन्धु भाव होना विश्वप्रेम का अंकुर उगना करुणाभाव से हृदय का द्रवित होना जगत् के सुख के लिये यत्नशील होना इत्यादि प्रवृत्ति अहिंसा का आन्तरिक रूप है। इसके बिना अहिंसा की भावना न उद्भूत होती है न जीवित रह सकती है।

जैसे पक्षी एक पंख से आकाश में नहीं उड़ सकता उसी प्रकार एकान्त प्रवृत्ति या एकान्त निवृत्ति से आत्मा ऊर्ध्वगामी नहीं बन सकता। जीवन को समुन्नत बनाने के लिए दोनों की समुचित रूप में आवश्यकता है। इसीलिए शास्त्र में कहा गया है।

असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं।

अर्थात्—अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति को ही चारित्र समझना चाहिए।

इस प्रकार प्रवृत्ति और निवृत्ति के सुयोग्य समन्वय से ही चारित्र का निर्माण होता है।

जब हमें जीवन यापन करना है तो एकान्त निवृत्ति से काम नहीं चल सकता प्रवृत्ति कुछ करनी ही होगी। इस प्रकार किससे निवृत्त होना चाहिए

और किसमें प्रवृत होना चाहिए, यह प्रश्न अपने आप उत्पन्न हो जाता है। उसका सामान्य समाधान ऊपर उद्धृत किये वाक्य से हो जाता है कि शुभ में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति करनी चाहिए लेकिन शुभ क्या है और अशुभ क्या है ? यह प्रश्न फिर भी बना रहता है। शुभ और अशुभ की व्याख्या कुछ कुछ देश काल की परिस्थिति पर निर्भर करती है, लेकिन उनकी सर्व-देश-कालव्यापी व्याख्या यही हो सकती है कि जिस कार्य से आत्मा का और जगत् का कल्याण हो वह शुभ है। और जिससे व्यक्ति का अकल्याण हो वह अशुभ है। इस दृष्टि से हमें जीवन निर्वाह के लिए कोई शुभ कार्य ही पसन्द करना चाहिए। पहले जो विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट है कि कृषिकार्य जीवन के लिए अत्युपयोगी है। व्यक्तिगत और समष्टिगत जीवन उसी पर निर्भर है। उससे किसी वर्ग को कोई क्षति नहीं पहुंचती। अतएव जीवन निर्वाह का जहाँ तक प्रश्न है कृषि औरों की अपेक्षा अधिक विधेय कर्म है। इस प्रकार सट्टा आदि की निवृत्ति से कृषि आदि शुभ कार्यों में प्रवृत्ति ही फलित होता है। उत्तराध्ययनसूत्र में बतलाया गया है कि धर्मात्मा पुरुष स्वर्ग में उत्पन्न होने के पश्चात् जब मनुष्य योनि धारण करता है तब उसे दस श्रेष्ठ वस्तुओं की प्राप्ति होती है। यथा।

खेत्तं वत्थुं हिरण्णं च पसवो दास पोरुसं ।
चत्तारि कामखंधाणि, तत्थ से उववज्जइ ॥

उत्तराध्ययन ३ अ।

यहां क्षेत्र (खेत) की प्राप्ति को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। वास्तव में पुण्य के उदय से खेत मिलता है और खेत जोतने वाला जगत् की रक्षा करके पुण्य का भागी होता है हमारा खयाल है पाठक इतने विवेचन से भलीभाँति समझ सकेंगे कि जीवन-निर्वाह के कार्यों में कृषि का स्थान क्या है और धर्म से वह संगत है या विसंगत है ?

सेठ रतनलालजी नाहर बरेली (मारवाड़) वालों की ओर से आयोजित निबंधप्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कृत निबंध

श्री जैन दिवाकरजी की जीवन ज्योति ।

यह दृश्यमान सकल संसार द्वन्द्वों का पिण्ड है। संसार द्वन्द्वमय है और द्वन्द्व ही संसार है। चर अचर, जीव अजीव जंगम स्थावर अन्धकार प्रकाश सुख दुख पुण्य पाप धर्म अधर्म आदि द्वन्द्वों का नाम ही संसार है। इस अनन्त संसार रूपी समराङ्गण में इन द्वन्द्वों के बीच सतत संघर्ष हुआ करता है। इस संघर्ष में कभी कोई प्रबल होता है कभी कोई। कभी प्रकाश की प्रबलता होती है तो अंधकार की निबिड़ता। कभी पुण्य का प्राधान्य होता तो है कभी पाप का। कभी दुनिया में सुखशान्ति का साम्राज्य होता है तो कभी भयंकर हिंसा का ताण्डव नृत्य। कभी आकाश से देवगण फूलों की वर्षा करते हैं तो कभी पृथ्वी की छाती पर बम के गोले बरसते हैं। कभी शान्ति के झरने फूट पड़ते हैं तो कभी खून की नदियां बह निकलती हैं।

जब दुनिया में पाप का प्राधान्य हो जाता है जब वसुन्धरा पाप के भार से संत्रस्त हो उठती है जब तामसिक प्रकृति का बोलबाला हो जाता है जब धर्म एवं न्याय की हत्या कर दी जाती है जब चारों ओर भीषण रक्तपात हत्या कुन्मार और अग्निकाण्ड के दृश्य दिखाई देते हैं जब पाप अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाता है तब उसकी प्रतिक्रिया अवश्यमेव होती है। पापों की प्रतिक्रिया के लिए प्रकृति महापुरुषों को जन्म देती है। सन्तों के रूप में प्रकृति दुनिया के संत्रस्त आत्माओं को अपना आश्वासन और आशीर्वाद देती है।

सन्त दुनिया के लिए आशीर्वाद और वरदान हैं। ये पाप के भयंकर दावानल से झुलसी हुई दुनिया को शान्ति प्रदान करने वाले देव-दूत हैं। सन्त दुनिया के खून से भरे हुए, उजड़े और सुनसान रेगिस्तान में शान्ति की मन्दाकिनी प्रवाहित करने वाले अक्षय स्रोत हैं। ये विनाश की ओर तेजी से भागने वाली दुनिया को सावधान और सतर्क करने वाले उज्ज्वल प्रकाश के स्तम्भ हैं। विश्व में जो कुछ शान्ति सुख और सात्विकता है उसका श्रेय सन्तों को ही है। सन्त महात्मा संसार को सुखशान्ति का सच्चा मार्ग प्रदर्शित करते हैं। वे अपने परम पावन आचरण से दुनिया को बोधपाठ देते हैं उनके जीवन की जगमगाती हुई ज्योति मार्ग भूले हुए मानवों के लिए आकाश-दीप के समान मार्गदर्शिका होती है। सन्तों को पाकर दुनिया धन्य है ! !

सन्तों की महिमा इसीलिये है कि वे अपना आपका विश्व हित के लिये समर्पित कर देते हैं। वे इसी लिए महान् हैं कि वे स्वार्थ के संकुचित क्षेत्र से ऊंचे

उठे होते हैं और " वसुधैव कुटुम्बकम् " समझ कर विश्व कल्याण को ही अपने जीवन का ध्येय बना लेते हैं। यही सन्तों और महापुरुषों की महत्ता का हेतु है।

विश्व की विशाल वाटिका में असंख्य फूल खिलते हैं और खिलते रहेंगे। ये फूल अल्पकाल के लिये अपनी सुन्दरता और मनोहारिता पर इठलाकर-मंद मंद मुसकरा कर- धराशायी हो जाते हैं। क्षण भर के यौवन पर इतरा कर धूल में मिल जाते हैं। जिस सुमन समूह ने अपने सौरभ से संसार को सुरभित नहीं बनाया वह अकारण ही उत्पन्न हुआ। इसके विपरीत जिस पुष्प समुदाय ने अपने पवित्र सौरभ से संसार को भर दिया जिसने अपने मनोहर सौन्दर्य से संसार की शोभा बढ़ाई, जिसने अपना सर्वस्व—सौरभ दुनिया के लिए लुटा दिया वही सुमन सच्चा सुमन है। यही बात मानव जीवन के सम्बन्ध में समझना चाहिए। विश्व में असंख्य प्राणी जन्म लेते हैं और जैसे तैसे अपना जीवन खोकर मृत्यु के मुख में चले जाते हैं। जीवन और मरण सृष्टि के निरन्तर चलने वाले कार्य हैं। संसार में प्रतिपल सैकड़ों प्राणी जन्म लेते हैं और अपनी जीवन लीला पूर्ण करते हैं। परन्तु उसी प्राणी का जीवन सार्थक है जो दूसरों के लिए जीता है। अपने लिये तो प्रत्येक प्राणी जीता ही है इसमें कोई विशेषता नहीं है। परन्तु जो व्यक्ति अपना जीवन दूसरों के लिये समर्पण करता है उसी का जीना जीना है। जो व्यक्ति दूसरों के हित के लिये आत्म समर्पण करता है उसी का जीना जीना है। जो व्यक्ति दूसरों के हित के लिये अपने जीवन का भोग देता है जो अपने जीवन से दूसरों में प्रेरणा और स्फूर्ति का संचार करता है जो अपना सर्वस्व परोपकार के लिए न्योछावर करता है उसीका जीवन सफल जीवन है। वही कृतकृत्य है और वही धन्य है। ऐसा पुरुष ही महापुरुष महात्मा और सन्त कहा जाता है और सारे संसार में उसकी महिमा का यशोगान होता है।

जैन दिवाकर प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज एक ऐसे ही महात्मा और महापुरुष हैं जिन्होंने अपना समस्त जीवन विश्व कल्याण के लिए और मानव जाति की सेवा के लिए समर्पित कर दिया है। जैन दिवाकरजी की महत्ता इसीलिये है कि उन्होंने अपना जीवन अपने लिए न जीकर विश्व के प्राणियों की सेवा के लिए अर्पित किया है।

प्रकृति इसीलिये महान् है कि वह अपना सारा वैभव दूसरों को लुटा देती है। सूर्य इसीलिये महान् है कि वह दूसरों के लिये तपता है। चन्द्रमा इसीलिये महान् है कि वह दूसरों को शान्ति प्रदान करता है। जैन दिवाकरजी इसीलिये महान् हैं कि वे दूसरों के हित के लिये जीते हैं। सचमुच जैन दिवाकर जैनाकाश के ज्योतिर्मय दिवाकर हैं। आप अपनी अलौकिक प्रतिभा के प्रकाशपुञ्ज से जैनाकाश को उद्भासित कर रहे हैं। जैसे आकाश की शोभा दिवाकर से है ठीक इसी तरह जैन संसार की शोभा जैन दिवाकरजी से है। अस्तु।

—शुभ जन्म—

जिस महान् प्रभावशाली एवं प्रभावक पुरुष के जीवन की रूपरेखा का यहां संक्षिप्त आलेखन किया जा रहा है वे विक्रमीय संवत १६३४ कार्तिक शुक्ला त्रयोदशी के पवित्र दिन इस धरातल पर अवतरित हुए। मालव मण्डल के अन्तर्गत नीमच नगर में श्रीमान् गंगारामजी सा की धर्मपरायणा धर्मपत्नी श्रीमती केशरबाई की पवित्र कुक्ष से हमारे चरित्र-नायकजी का शुभ-जन्म हुआ। महापुरुष अपने जन्म से अपने माता-पिता एवं वंश को सदा के लिए विख्यात बना देते हैं। वस्तुतः उसी व्यक्ति का जन्म सफल है जिसने अपने चरित्र द्वारा अपने माता पिता के नाम को संसार में समुज्ज्वल बनाया। नीतिकारों ने कहा है–

सजातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्।
परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते॥

अर्थात्—वैसे तो इस परिवर्तनशील संसार में असंख्य प्राणी जन्म लेते हैं और मरते हैं परन्तु उसी प्राणी का जन्म लेना सार्थक है जिसके द्वारा जाति कुल धर्म और देश की उन्नति और अभ्युदय हो।

राजा सिद्धार्थ और त्रिशला महारानी इसीलिए विख्यात हैं कि उन्होंने भगवान महावीर को जन्म दिया। महाराज दशरथ और माता कौशल्या इसीलिए अमर हैं कि उन्होंने मर्यादा पुरुषोत्तम राम को जन्म दिया। तात्पर्य यह है कि म महावीर और राम ने अपने आदर्श चरित्रों द्वारा अपने माता पिता का भी सदा के लिए अमर बना दिया इसी तरह हमारे चरित्र-नायकजी ने अपने जन्म द्वारा पिता श्री गंगारामजी को व मातु श्री केशरबाई को सदा के लिए अमर बना दिये। एक महापुरुष के जन्म दाता के रूप में इस दंपत्ती का नाम संसार में सदा विश्रुत बना रहेगा। अस्तु–

यद्यपि महापुरुष कतिपय प्राकृतिक देन पूर्व संस्कार तथा अन्य योग्य सामग्री लेकर पैदा होते हैं तदपि उनपर बाह्य संयोगों का अवश्य प्रभाव पड़ता है। माता पिता जन्म स्थान तत्कालीन वातावरण आसपास का क्षेत्र इत्यादि बातों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। लौकिक कहावत है कि योग्य माता पिता की संतान सुयोग्य हो सकती है। माता पिता चाहें तो अपनी सन्तान को देव बना सकते हैं और चाहें तो दानव। तात्पर्य यह है कि माता के आचरण धर्मनिष्ठा विचार और संस्कार सन्तान में उतरते हैं और उन्हींसे उसके जीवन का निर्माण होता है। यदि यह सच है तो हम जैनदिवाकरजी के जीवन से यह सहज अनुमान कर सकते हैं कि आपके माता पिता कैसे आचारसम्पन्न धर्मपरायण और कर्तव्य पालक रहे होंगे। जिन सुयोग्य माता पिता ने अपने पवित्र संस्कारों के उत्तराधिकार के द्वारा हमारे चरित्रनायकजी को महापुरुष बनने की सामग्री प्रदान की वे हम सबके

लिए कोटिशः धन्यवाद और प्रशंसा के पात्र हैं। मातु श्री केशरबाई विशेष रूप से धन्यवाद की पात्री हैं। जिनकी धर्मपरायणता हमारे चरित्र नायकजी में विशेष रूप से उतरी है और जिनके गृहत्याग और संयम के अङ्गीकार से हमारे चरित्रनायकजी में भी परम पावनी भागवती दीक्षा अङ्गीकार करने की पवित्र प्रेरणा प्रादुर्भूत हुई। धन्य है आदर्श माता केशरबाई जिसने जैन दिवाकर सा पुत्र समाज और विश्व को महापुरुष के रूप में अनमोल उपहार समर्पित किया।

शैशव—काल और शिक्षा

धर्मानुरागी एवं सुसंस्कारी माता पिता की वात्सल्यमयी गोदी में आपका बड़े लाड़—प्यार से लालनपालन किया गया। गर्भ काल में आपकी मातु श्री का आमवृक्ष का शुभस्वप्न दिखाई दिया था। इससे माता पिता को आपके उज्ज्वल भावी की सूचना प्रथम ही मिल चुकी थी, इस पर आपकी सौम्य सुहावनी मुखा कृति और निमित्त शास्त्र में वर्णित शारीरिक शुभलक्षणों के द्वारा यह भली भाँति प्रकट होता था कि यह बालक असाधारण होनहार है। इन सभी कारणों से आपका शैशव जीवन बड़े ही लाड़-प्यार के साथ व्यतीत हुआ। प्रथम तो बालक नैसर्गिक रूप से सुन्दर मालूम होता है उसकी तोतली बोली बड़ी मनोहर होती है तिसपर चमकते हुए उज्ज्वल शुभ भावी सूचना देने वाले चिन्हों से सुशोभित बालक का तो कहना ही क्या ! ऐसे लक्षण सम्पन्न बालक को पाकर माता पिता के हर्ष का कोई पार नहीं था वे उसे दुलराते और झूला झुलाते हुए स्वयं हर्ष के झूले में झूलने लगते थे। इस प्रकार माता पिता की स्नेहमयी गोद में आपका शैशव काल व्यतीत हुआ।

शैशव वय के व्यतीत होने पर योग्य अवस्था में आप स्थानीय ग्राम्य पाठ शाला में विद्याध्ययन के लिए प्रविष्ट हुए। वहां आपने साधारण प्रकार ज्ञान हिन्दी गणित उर्दू और अंग्रेजी का अध्ययन किया। बचपन से ही आपको पुस्तकों के पढ़ने में बड़ा आनन्द आता था। यह आपकी असाधारणता का सूचक था। पन्द्रह वय की अवस्था तक आपने प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। इसी अवस्था में आपको गान कला का शौक लगा। आपका स्वर बड़ा मधुर और कर्ण-प्रिय था। इस प्रकार उगती हुई जवानी में आप अपने भावी जीवन की सामग्री जुटाने में लीन रहे।

—युवावस्था और वैराग्य—

लौकिक कहावत है कि "जवानी दीवानी होती है" परन्तु आप इसके अप-वाद थे। विरले ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो उगती हुई जवानी में मौज शौक की ओर आकर्षित न होते हों। दूसरी बात यह भी है कि जिसका भावी जिस प्रकार का होता है उस वैसे ही सयोग प्राप्त हो जाते हैं। हमारे चरित्रनायक का भावी

जीवन अतिशय समुज्ज्वल होने वाला था तो वे भला मौज शौक की सहेली हवा से कैसे प्रभावित हो सकते थे? महापुरुष एकायक नहीं बनते वे पूर्व जन्म के संस्कारों के साथ अवतीर्ण होते हैं और इस जन्म में भी अपनी कुशलता से अपने भावी जीवन की सामग्री जुटाते हैं और अग्रिम जीवन की भूमिका तैयार करते हैं। तदनुसार यौवन के पदार्पण के साथ जहां साधारण व्यक्तियों में उच्छृंखलता और स्वच्छन्दाचार का आविर्भाव होता है वहां आपमें विचार-गाम्भीर्य और संयम शीलता का आधिक्य था।

सांसारिक व्यवहार के अनुसार युवावस्था आनेपर आपका विवाह प्रतापगढ़ निवासी श्रीमान् पूनमचन्दजी सा की सुपुत्री के साथ होगया। युवावस्था में सामान्य प्राणी विषय वासना में डूब जाता है। उस समय उसे संसार का सारा सुख विषयों में ही दिखाई देता है। उसकी सारी शक्ति और चित्त वृत्तियां वासना की ओर ही केन्द्रित होती हैं। वह विषयों के कीचड़ में बुरी तरह फँस जाता है। परन्तु आप में यह बात नहीं थी। आपका अन्तःकरण विषय-वासना में लगा न था। आपके हृदय में सहज विरक्ति की लहरें तरंगित होती। भर जवानी में विरक्ति के संस्कारों से आपका अन्तःकरण ओत-प्रोत था। इसका कारण यथाविधि पूर्व संस्कारों के साथ आपकी माताजी की धर्मपरायणता भी समझना चाहिए।

जिस प्रकार कमल कीचड़ में होता हुआ भी कीचड़ से लिप्त नहीं होता है इसी तरह वैवाहिक जीवन बिताते हुए भी आप वासना के कीचड़ से लिप्त न हुए। आपकी चित्तवृत्तियां वासना में न डूबीं। जिसने अपने जीवन का लक्ष्य वैराग्य बना लिया हो वह भला वासनाओं में अन्धा कैसे हो सकता है? आपश्री के हृदय में वैराग्य की प्रबल तरंगें तरंगित हो रही थीं। आप किसी अनुकूल संयोग की प्रतीक्षा में थे आपका मन सांसारिक अर्थोपार्जन के व्यवसायों की ओर आकर्षित न हुआ। आप के द्वारा संसार के अनुपम ही लाभ मिलने वाला था इसीलिए सामान्य गृहस्थे चित पैदाइश आदि के कार्यों में आपका चित्त नहीं लगा। आप सब प्रपञ्चों को छोड़कर अपने वैराग्य के लक्ष्य को सम्मुख रखकर साधु मुनिराजों की संगति तथा उनकी सेवाभक्ति में समय व्यतीत करने लगे।

संसारत्यागी महात्माओं और साधु-संतों की सत्संगति करते हुए हमारे चरित्र नायकजी को आत्मिक संतोष प्राप्त होने लगा। आगे चलकर जो व्यक्ति स्वयं आदर्श लोकोपकारी महात्मा बनने वाला हो उसका महात्माओं की संगति से सुख एवं संतोष का अनुभव करना नितान्त स्वाभाविक ही है।

संयोग वश इसी समय विक्रम सं १९५० में आपके पूज्य पिता श्री का देहावसान होगया। आपको पितृवियोग का दुस्सह दुःख सहना पड़ा। आपने अपने विचारों की गम्भीरता एवं सहज वैराग्य भावना की प्रबलता से शान्ति के साथ इस वियोग जन्य दुख को सहन किया। तदनन्तर आपकी धर्मपरायणा

माताजी ने आपके सामने दीक्षा अंगीकार करने की अपनी अभिलाषा प्रदर्शित की उसके उत्तर में आपने कहा कि—माताजी! आपने गृहत्याग कर संयमी जीवन व्यतीत करने की अपनी अभिलाषा प्रगट की है यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। मैं भी आपके इस विचार के पूर्व ही स्वयं दीक्षा अंगीकार करने का निश्चय करचुका हूं। अपन दोनों साथ ही संयम स्वीकार करें। आपके हृदय को स्वाभाविक स्नेह के कारण चोट लगी। वे उत्तर देती हुई बोलीं पुत्र अभी तुम्हारी अवस्था छोटी है। अभी तुम्हारा विवाह हुआ है। तुमने अभी दुनिया का अनुभव नहीं किया है। इसलिए पहले तुम मुझे अनुमति दो और तुम योग्य वय में इच्छानुसार त्यागमार्ग को अंगीकार करना" माता के उस कथन का आपके ऊपर कोई प्रभाव न पड़ा। आपके हृदय में वैराग्य का बीज तो विद्यमान था ही। अब अपनी माता के दीक्षा के विचार से वह वैराग्य बीज अंकुरित और पल्लवित होगया।

जब आपकी धर्मपरायणा माताने आपके वैराग्य-विषयक प्रबल भावों को सुना तो वह समझ गईं कि अब यह गृहस्थावस्था में रहने वाला नहीं है। तथापि उन्होंने कहा कि तू अपनी धर्मपत्नी को उसके पीहर से लेआ और उसके साथ विचार विनिमय करके उसकी अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् दीक्षा का विचार करना। यदि तू उसे भी दीक्षा के लिए समझा सके तो अच्छा है नहीं तो उसकी अनुमति लेकर तू दीक्षित हो जाना। माताके कथनानुसार आप सुसराल गये और वहां से अपनी धर्मपत्नी को लेकर नीमच आगये। आपने अपनी पत्नी के सामने दीक्षा लेने की बात रखी। आपकी पत्नी ने इसे अस्वीकार करते हुए दलील पेशकी कि यदि तुम्हें दीक्षा ही लेनी थी तो विवाह क्यों किया? पहले सांसारिक गृहस्थ धर्म का पालन करो और फिर योग्य समय पर दीक्षा का विचार करना। पत्नी अपने निश्चय पर दृढ़ थी। खूब समझाने पर भी उसने अनुमति नहीं दी इधर आप भी अपने संकल्प पर दृढ़ थे। पत्नी की युक्ति भरी दलील का आपके वैराग्य से ओतप्रोत हृदय पर कुछ भी असर नहीं हुआ। पत्नी ने आपके वैराग्य को दूर करने के लिये यथाशक्त प्रयत्न किए परन्तु आप पर जो रंग चढ़ चुका था वह भला कैसे उतरता? पत्नी के विरोध से आपका वैराग्य और भी अधिक प्रबल हो उठा।

जब आपके प्रबल वैराग्य के समाचार आपके श्वसुर पूनमचंदजी को विदित हुये तो वे बड़े क्रोधित हुए और नीमच आये। यहां आकर उन्होंने भी दीक्षा न लेने के लिये आपको खूब समझाया परन्तु आप पर उसका किञ्चित्मात्र भी प्रभाव नहीं पड़ा। अपनी बात को असफल जानकर पूनमचंदजी ने दूसरा ही मार्ग अपनाया। उन्होंने सरकारी अधिकारियों से कह सुन करके आपको हवालात में बैठा दिया। उनकी धारणा थी कि ऐसा करने से वे आपका वैराग्य दूर कर देंगे। हवालात में बैठा दिये जाने पर आपके श्वसुर वहां आय और व्यंग भरे शब्दों में बोले कि जमाईजी! आनन्द में तो हो! जगह तो पसन्द आई न? यदि यहां नहीं रहना

चाहते हो तो यह इकरार करना पड़ेगा कि मैं दीक्षा नहीं लूंगा। आपने देखा कि यहाँ हवालात में बैठे रहने से तो मैं अपने लक्ष्य को नहीं पहुंच पाऊंगा अतएव उन्होंने आपद् धर्म समझकर अपने श्वसुर के वचन मान लिये और हवालात से मुक्त हुए।

आप श्री की प्रबल वैराग्य भावना के कारण आपके श्वसुर महाशय को इतना कर लेने पर भी संतोष न हुआ। उन्हें यह आशंका सताती रही कि कहीं यह चले न जांय। इस पर अपना पूरा निरीक्षण और नियन्त्रण रखने की इच्छा से वे आपको व आपकी माता को अपने साथ धमोतर (प्रतापगढ़) ले आये। यहां इनकी प्रवृत्तियों पर पूरी पूरी देखरेख रखने लगे। अपनी मातुश्री के साथ आप धमोतर में अपना समय बिताने लगे। आपके हृदय में वैराग्य का संचार बराबर होता रहा परन्तु वह श्वसुर महाशय के निमित्त से बाहर प्रकट न होकर अन्दर ही बना रहा। जिस प्रकार अन्तर्मद वाले गजराज का मद बाहर न आकर अन्दर ही रहकर अपना प्रभाव व्यक्त करता है वैसे ही आपका वैराग्य हृदय में ही बना रहा।

एक बार किसी प्रसंग पर आपकी माता ने महासती श्री रंगूजी म० का वृत्तांत सुनाया। रंगूजी महासतीजी ने अपने बाल वैधव्य काल में शील धर्म पर आये हुए संकट का सामना करने के लिये प्राणोत्सर्ग करने का संकल्प कर लिया। जब आपने अपने शील की रक्षा का कोई दूसरा उपाय न देखा तो मकान की छत पर से गिरने का संकल्प किया और जब आप वैसा करने के लिये तैयार हुई तो क्या देखती हैं कि एक पुरुष खिड़की के पास ऊंट पर बैठा हुआ कह रहा है कि बहन! आओ ऊँट पर बैठ जाओ। मैं तुम्हें तुम्हारे अभीष्ट स्थान पर पहुँचाऊँ। रंगूजी ने अपनी विवेक बुद्धि से यह जान लिया कि यह पुरुष अवश्य मेरा रक्षक है। वह ऊंट पर बैठ गईं और थोड़े समय में ही उसने अपने आपको अपने पीहर में पाया। कोई शंकाशील प्राणी इस चमत्कार पूर्ण घटना की सत्यता में संदेह कर सकता है परन्तु यह सर्वथा सत्य घटना है। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं। पतिव्रताओं के शील में ऐसी गजब की शक्ति होती है कि वह ब्रह्माण्ड को हिला सकती है तो इसमें क्या आश्चर्य है! धन्य है शीलपरायणा महासती रंगूजी को। माता के मुख से रंगूजी की यह सत्य घटना श्रवण कर हमारे चरित्र नायकजी का हृदय वैराग्य से ओत प्रोत होगया। इनके हृदयस्थ वैराग्य को अधिक वेग मिला अब वह प्रबल वैराग्य हृदय में ही सिमित न रह सका। आखिर वैराग्य का प्रवाह सब बन्धनों को तोड़कर बाहर फूट पड़ा और आप यहां से योग्य मौका पाकर निकल गये।

—विरक्त के रूप में—

संसार की असारता का भलीभांति हृदयंगम करके तथा संसार के परित्याग का दृढ़ संकल्प करके आपने साधु मुनिराजों की सेवा भक्ति का लाभ लेने के लिए

सद्गुरु की शरण में जाने के लिए तथा साधुचर्या का पूर्वानुभव करने के उद्देश्य से कई ग्रामों और नगरों में घूमना प्रारम्भ किया। आपने अपनी इस यात्रा में पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी म., श्रीलालजी महाराज नन्दलालजी म सा हीरालालजी म सा पूज्य चौथमलजी म., रघुनाथजी म सा., आदि प्रसिद्ध मुनिराजों के दर्शनों का लाभ उठाया और इन मुनिवरों की सेवा में रहकर साधु जीवन का पूर्व परिचय प्राप्त किया। उदयपुर में विराजमान श्री नन्दलालजी म० सा० की सेवा में रहकर आपने प्रतिक्रमण एवं दशवैकालिक के तीन अध्ययन सीख लिये। इसी तरह जहां आप मुनिराजों के दर्शन के लिये पधारे वहां आपने साधु जीवन की पूर्व भूमिका के रूप में त्याग एवं प्रत्याख्यान अङ्गीकार किये।

गृहस्थ एवं साधु के जीवन में आकाश पाताल का अन्तर होता है। त्याग और भोग की दिशा ही न्यारी न्यारी है। भोग दशा से त्याग मार्ग में एकाएक आजाना दुष्कर होता है। इसके लिये सतत क्रमिक अभ्यास की आवश्यकता होती है। यदि व्यक्ति बिना विचार किये केवल आवेश के वशीभूत सहसा कोई परिवर्तन कर बैठता है तो वह परिवर्तन स्थायी नहीं होता। आवेश का वेग उतरते ही उसे अपने किये हुए कार्य से असंतोष मालूम होने लगता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति अपनी विवेक बुद्धि से विचार करके और खूब मनोमन्थन के बाद कार्य करता है तो उसमें स्थायित्व होता है। अतएव हमारे चरितनायकजी ने गृहस्थाश्रम के त्याग और साधुजीवन के अंगीकार करने में आवेश बुद्धि को परे रखा और पर्याप्त काल तक साधु की दिन चर्या एवं जीवन का सूक्ष्म निरीक्षण किया और जब आपने आत्म परीक्षण करके यह जान लिया कि मैं इस दुष्कर संयम के भार को वहन करने में सफल हो सकूंगा' तभी आपने त्यागी जीवन अंगीकार करने का संकल्प किया यही कारण है कि आप साधुजीवन की भावना में वशीभूत होकर साधु-शिरोमणि के रूप में पूजनीय हो सके हैं।

विभिन्न स्थानों पर परिभ्रमण कर साधु-जीवन का पूरा अनुभव प्राप्त कर लेने तथा अपने गहन मनोमन्थन के पश्चात् आप श्री ने गृहत्याग का दृढ़ संकल्प किया। परन्तु 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' की उक्ति प्रसिद्ध है। श्रेष्ठ कार्यों में अनेक विघ्न उपस्थित हो जाते हैं। यही बात आपकी दीक्षा के सम्बन्ध में भी बनी।

जैन शासन का यह विधान है कि कोई भी व्यक्ति अपने प्रमुख सम्बन्धियों की अनुमति के बिना दीक्षित न होना चाहिए। आपकी दीक्षा में आपकी धर्मपत्नी एवं आपके श्वसुर महाशय अन्तराय रूप थे। यह एक बड़ा भारी विकट विघ्न सन्मुख उपस्थित था। आपके श्वसुर दीक्षा के सख्त विरोधी थे। एकबार जब आप हीरालालजी म सा की सेवामें रहते थे तब केरीग्राम (टोंक स्टेट) के श्रावकगण आपकी दीक्षा के सम्बन्ध में आपके श्वसुर महाशय की आज्ञा प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रतापगढ़ आये। उन श्रावक बन्धुओं ने जब आपके श्वसुर पूनमचन्दजी को बुलवाकर दीक्षा की आज्ञा की बात की तो वे लाल नेत्रकर बोले कि 'खबरदार !

याद रखना ! मेरे पास दो नाली पम्पूक है। एक नाल से गुरुको और दूसरी से शिष्य को परमधाम पहुंचाऊंगा। इतना सुनते ही वे श्रावक वहां से लौट आये और महाराज सा को सब वृत्तान्त कह सुनाया। इस वृत्तान्त से पूज्य चौथमलजी म सा चमके और उन्होंने आपको दीक्षा देने से साफ इन्कार कर दिया। इसपर आप श्री हीरालालजी म के साथ मन्दसौर आये और वहां सेवा में वैरागी के रूप में रहने लगे। आपकी माता भी मन्दसौर ही थीं।

एक दिन आपकी माता ने खूब सोच विचार कर आपसे कहा कि पुत्र ! यदि तेरी इच्छा हो तो अपने पास के सब आभूषण तेरे श्वसुर को देआऊं और उनसे दीक्षा का आज्ञापत्र लिखवा लाऊं ताकि दीक्षा लेने में किसी को आपत्ति न हो। इस पर आप सहमत होगये। आपकी माता उसी समय आपके श्वसुर के पास धम्मोतर गई और उनसे कहा कि मैं अपना कुल आभूषण तुम्हें देती हूं। तुम हम दोनों मां पुत्र को दीक्षा लेने के लिए अपनी अनुमति सूचक पत्र लिखदो।

यह बात आपके श्वसुर ने स्वीकार करली। उनके हृदय में कपट अपना काम कर रहा था। उन्होंने सब आभूषण लेलिये और यह लिख दिया कि मेरे समधिन (व्याणजी) यदि दीक्षा लें तो मेरी आज्ञा है लेकिन मेरे जमाई के लिए मेरी आज्ञा नहीं है। भोली माताने आपके श्वसुर के वचनों पर विश्वास करलिया था। वह इस छल कपट को न समझ सकी कि ये मुख से कुछ और कहते हैं और इस पत्र में कुछ और लिखा हुआ है। जब माताजी ने दूसरी जगह यह पत्र पढ़वाया तब उन्हें इस कुटिलता का भेद मालूम हुआ। किन्तु क्या करती ? वे मन्दसौर आकर अपने पुत्र से कहने लगी कि पुत्र ! अब कोई चिन्ता की बात नहीं ? मैं तेरे श्वसुर को तेरी पत्नी के लिए आभूषण दे आई हूं अब वे यह न कह सकेंगे कि मेरी लड़की का कोई इन्तजाम न किया। अपन ने अपनी जवाबदारी अदा करदी। इसके पश्चात् दोनों-मां पुत्र हीरालालजी म की सेवा में जावरे पधारे। वहां दीक्षा का प्रश्न आया परन्तु श्रीसंघने उसमें श्वसुर की आज्ञा न होने से आपत्ति की। इस तरह आपके दीक्षा ग्रहण में आये हुए विघ्नों का इतिहास बड़ा लम्बा चौड़ा है। परन्तु आपके द्वारा जैन समाज का ही नहीं अपितु समस्त मानव जाति का कल्याण होने वाला था अतएव विघ्न बाधाओं को पार करते हुए आपने अपने ध्येय में सिद्धि प्राप्त कर ही ली।

—दीक्षा—

आपके गुरुदेव श्री हीरालालजी म सा ने जावरे से विहार किया और ताल *उन्हेल होते हुए बालिया ग्राम (इन्दौर रियासत) में पधारे उस समय दोनों माता* पुत्र साथ ही थे। उस अवसर पर माता केशरांबाई ने विचारा की अब विलम्ब करना उचित नहीं है। अब गृहवास का परित्याग करके अणगार धर्म स्वीकार करा ना चाहिए। उन्होंने आपसे कहा कि-पुत्र ! अब अवसर आचुका है। दोनों माता-पुत्र

से विचार विमर्श किया। तदनन्तर नदी के तटपर वट वृक्ष के नीचे संवत् १९५२ फाल्गुन शुक्ला ५ रविवार पुण्य नक्षत्र में आपकी माता ने आपको साधुवेश धारण कराया। जिस प्रकार प्राचीनकाल में वीर क्षत्राणियाँ अपने पुत्रको अपने हाथों से शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित करके प्रसन्नता के साथ रणसंग्राम में भेजती थीं ठीक इसी तरह धर्मपरायणा वीराङ्गना माता ने कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये अपने पुत्र को संयम के साज से सज्जित किया।

साधुवेश धारण कराने के पश्चात् आपको गुरुदेव हीरालालजी म. के सन्मुख खड़ा करके माता केशरबाई ने प्रार्थना की कि "गुरुदेव! मैं आपको शिष्यरूप भिक्षा प्रदान करती हूं। आप इसे स्वीकार करके आभारी करें"। श्री हीरालालजी म. भलीभांति शिष्य की परीक्षा कर चुके थे अतएव उन्होंने भिक्षा स्वीकार की और हमारे चरित्र नायकजी को परम पावनी भागवती दीक्षा प्रदान की। इसके सातवें दिन पंच पहाड़ में आपकी बड़े समारोह के साथ बड़ी दीक्षा की क्रिया सम्पन्न हुई। इस प्रकार आपके जीवन का नवीन अध्याय प्रारम्भ हुआ। आपके जीवन की दिशा का परिवर्तन हुआ। आप अगारवास को छोड़कर अनगार धर्म में प्रव्रजित हुए। आपने संकुचित कौटुम्बिक जीवन को छोड़कर सारे विश्व को अपना कुटुम्ब बना था। अपने मर्यादित प्रेम को विश्वप्रेम के रूप में परिवर्तित कर दिया। अपने आपको विश्वमय बना लिया। विश्व की सेवा में अपने आपको लगा दिया। लोक-सेवा के लिए अपने सर्वस्व को ठुकराकर त्याग मार्ग का अवलम्बन लिया। सांसारिक सुखोपभोग के पर्याप्त साधनों के विद्यमान होते हुए भी लोक सेवा की अदम्य भावना से प्रेरित होकर कठिन तपोमय जीवन अङ्गीकार किया।

जैन साधु का जीवन अर्थात् स्व-पर कल्याण की साधना के लिए कठोर तपश्चर्या। जैन साधु अहिंसा त्याग एवं तपश्चर्या की मूर्ति होते हैं। उनके हृदय विश्वप्रेम और लोकोपकार की भावना से ओतप्रोत होते हैं। संसार के छोटे से छोटे प्राणी के प्रति भी उनका प्रेम उमड़ा रहता है। इसी उज्ज्वल प्रेम के कारण वे संसार के किसी भी प्राणी को तनिक भी कष्ट न हो ऐसा ही कार्य करते हैं। वे अपने कार्यकलापों में इस बात का विशेष लक्ष्य रखते हैं कि उनके द्वारा संसार के लघुतम प्राणी को भी कष्ट न पहुंचने पावे। इसके लिए वे स्वयं कठिन से कठिन कष्टों का प्रसन्नता के साथ सामना करते हैं परन्तु अपने लिए वे किसी को कष्ट नहीं देते। इस विश्वप्रेम की कल्याण भावना से प्रेरित होकर वे असह्य दुःखों को हंसते हुए सहलते हैं। जैन साधु कष्ट-सहिष्णुता एवं आत्मसंयम के अनुपम आदर्श हैं। हमारे चरित्र नायकजी ने स्वपर-हित साधन के लिये जैन साधु का त्यागमय जीवन अङ्गीकार किया।

धन्य हैं वे विरल विभूतियाँ! जो संसार के प्राणियों के सुख के लिए अपने सुखों को कुर्बान करती हैं। धन्य हैं वे महापुरुष! जो संसार के कष्टों का निवारण करने के लिए स्वयं कष्टमय जीवनयापन करते हैं। धन्य हैं हमारे चरित्रनायक

जिन्होंने नवपरिणीता प्रियतमा के प्रणय को ठुकरा कर भर यौवन में संयम का कठिन मार्ग अङ्गीकार किया। धन्य है यह वैराग्य ! धन्य है यह अनासक्ति ! धन्य है यह दृढ़ता ! ऐसे संयम शील मुनिराज सचमुच धन्य हैं।

साधु जीवन का ध्येय स्व-पर कल्याण करना है साधु शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की जाती है-साधयति स्वपर हित कार्याणीति साधुः-अर्थात् जो अपने और पराये हित साधन में निशदिन तत्पर रहता है वही साधु कहलाने का अधिकारी है। जो व्यक्ति जितने अंश में स्वपर हित साधन का काम करता है वह उतने ही अंश में साधुता का पात्र होता। अब हम इस लेख की पंक्तियों में यह बताने का प्रयास करेंगे कि जैन दिवाकरजी ने किस प्रकार स्वपर हित साधन किया और उनके द्वारा विश्व का क्या उपकार हुआ।

—संयम की साधना एवं ज्ञानाभ्यास—

परम एवं चरम कल्याण की साधिका परम पावनी भागवती दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् आपने अपनी सारी शक्ति अपने गुरुदेव की सेवा भक्ति एवं ज्ञानाभ्यास में लगा दी। "विनय धर्म का मूल है" यह समझ कर आपने विनय धर्म का विकास किया और अपने विनय व्यवहारों से गुरुदेव की प्रसन्नता एवं प्रियता प्राप्त की। विनय के साथ ही साथ आपने ज्ञानोपार्जन की ओर विशेष लक्ष रखा। फलस्वरूप विनय और विद्या का मणि काञ्चन सा संयोग आप में दृष्टिगोचर होने लगा। जिनेन्द्र भाषित मुनि के आचार-गोचर का भले प्रकार पालन करते हुए आपने ज्ञानोपार्जन में अपने को तन्मय बनाया।

समस्त अनुभवी आप्त पुरुषों ने ज्ञान एवं क्रिया के द्वारा मोक्ष होना बताया है। एकान्त ज्ञान और एकान्त क्रिया मोक्ष के साधक नहीं हो सकते। क्रिया के बिना ज्ञान पंगु है और ज्ञान के बिना क्रिया अन्धी है। ज्ञान और क्रिया का सहयोग ही मोक्ष का कारण है इस इसीलिये 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः' कहा गया है। आपके संयमी जीवन का लक्ष भी यही सूत्र रहा है। ज्ञान और क्रिया की निर्मल आराधना ही को आपने संयम का लक्ष बनाया और इसी लक्ष की ओर आप क्रमशः आगे बढ़ और बढ़ रहे हैं।

यौवन के विकास काल में संयम की साधना करना तलवार की धार पर चलने से भी विशेष कठिन है। अनुभव बताता है कि विरले ही ऐसे मानवी होते हैं जो भर यौवन में इन्द्रिय-दमन का आदर्श उपस्थित करते हैं। भर जवानी जबकि इन्द्रियों की उच्छृंखलता दुर्दम्य होती है संयमपूर्वक ज्ञानोपार्जन करना बड़ी भारी विशेषता रखता है। इस अवस्था में इन्द्रियों और मन पर विजय पाना सच मुच टेढ़ी खीर है। इसी आशय को व्यक्त करने के लिए आगम की गाथा दी है "मणो साहसिओ भीमो" गीता में अर्जुन अपने इस अनुभव को व्यक्त करते हुए कहता है:—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

अर्थात –हे कृष्ण ! यह मन बड़ा ही चञ्चल शुभ वृत्तियों को मथने वाला बलवान और दृढ़ है। इसका निग्रह करना बड़ा ही कठिन है। मैं ऐसा मानता हूँ कि जैसे वायु को रोकना अत्यन्त कठिन है इसी तरह मन का निग्रह करना भी अत्यन्त दुष्कर है। इस प्रकार जब अर्जुन मनोनिग्रह की अत्यन्त कठिनता अनुभव करता है तो कृष्ण वस्तुतः मनोनिग्रह की कठिनाई को स्वीकार करते हुए तथा मनो-निग्रह के उपाय बतलाते हुए फर्माते हैं—

असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥

हे महापराक्रमी अर्जुन ! यह निस्सन्देह सच है कि मन की चञ्चलता का निग्रह करना बड़ा कठिन है तदपि हे कुन्तीपुत्र ! सतत अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मनोनिग्रह किया जा सकता है।

अर्जुन के समान महापराक्रमी व्यक्ति भी मन की चञ्चलता के आगे हार मानता है तो साधारण प्राणियों का तो कहना ही क्या ! ऐसी अवस्था में यह सहज समझा जा सकता है कि जैन दिवाकरजी ने १७-१८ वर्ष यौवन की वय में मन का मन्थन करके उसे संयम और ज्ञान की ओर गतिशील बनाया यह कितना बड़ा भारी पुरुषार्थ है।

विक्रम सम्वत १६५२ में दीक्षा अङ्गीकार करने के पश्चात् संयम पूर्वक सतत अभ्यास और उत्कट जिज्ञासा वृत्ति के कारण आपने थोड़े ही समय में अनेक सूत्रों का अध्ययन कर लिया। स्वसमय का ज्ञान प्राप्त करके आपने पर समय के ग्रन्थों का भी भलिभांति वाचन मनन और अध्ययन किया। बचपन से ही आपको पुस्त-कों के पठन का बड़ा चाव है इसलिए विविध विषयों के ग्रन्थों एवं पुस्तकों के पढ़ने से आपका ज्ञान खूब विशाल हो गया। आपने आज "प्रसिद्ध वक्ता" के रूप में जो प्रसिद्धि प्राप्त की है वह आपके विशाल अध्ययन की आभारी है। विशाल अध्ययन के बिना कोई भी व्यक्ति सद् वक्ता नहीं बन सकता। वक्ता बनने के लिए विशाल अनुभव और पर्याप्त परिशीलन की आवश्यकता होती है। आपका अध्ययन सर्वतोमुखी है। आपने जैन-सूत्र साहित्य का गहन अध्ययन किया है। बत्तीस आगमग्रन्थों का आपको विशाल ज्ञान है। इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्र-दाय के ग्रन्थों का वैदिक सम्प्रदाय के दर्शनों और पुराणों का और मुस्लिम सम्प्रदाय के कुरआन शरीफ, हदीस शरीफ गुलिस्तां बोस्तां आदि का भी अध्ययन किया है। इस प्रकार आप स्वसमय और परसमय के श्रेष्ठ ज्ञाता बन गए। जैन दिवाकरजी

और जैनेतर तथ्यों और सिद्धान्तों के मर्मज्ञ विद्वान् हैं।

दीक्षा अंगीकार करने के समय से अबतक आपका सतत वाचन मनन और अनुशीलन चालू है। लगभग पचास वर्षों के सतत वाचन एवं अनुभव से प्रत्येक व्यक्ति आपकी विद्वत्ता एवं पाण्डित्य का सहज ही अनुमान कर सकता है। इस पकी हुई उम्र में भी आपके वाचन एवं पठन का कार्यक्रम चलता रहता है। आपका अधिकांश समय ज्ञान ध्यान एवं धार्मिक चर्चा तथा समाजोत्थान की बातों में ही बीतता है। इसलिए आपका ज्ञान बहुत विस्तृत एवं विशाल है आपकी विद्वत्ता एवं विषय प्रतिपादन शैली के कारणही आप एक सफल वक्ता बन सके हैं।

इस प्रकार हमारे चरितनायकजी ने ज्ञानोपार्जन किया। ज्ञान के विकास के साथ ही आप चारित्र धर्म के आचार विचार का बड़ी उग्रता के साथ पालन करते हैं। आपकी उत्कृष्ट चारित्र परायणता अन्य मुनियों के लिए आदर्श रूप है। यों ज्ञान और क्रिया के संयुक्त साधनों के द्वारा जैन दिवाकरजी ने संयम की आराधना की और आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त बनाया तथा पंच महाव्रतों का उग्रता से पालन करके आत्मा का विकास करते हुए स्वहित का साधन किया। अब परहित साधक के रूप में जैन दिवाकरजी की झांकी के दर्शन करिये।

—प्रसिद्ध वक्ता के रूप में—

जो व्यक्ति विश्व में महापुरुष के रूप में विख्यात होने वाला होता है जिसका व्यक्तित्व असाधारण होता है तथा जिसका भावी उज्ज्वल होता है उसमें कुछ प्रकृति दत्त विशेषतायें होती हैं। प्रत्येक व्यक्ति में ऐसी शक्ति अथवा संस्कार नहीं होते कि वह विश्व में असाधारण पुरुष के रूप में विख्यात हो सके। प्रत्येक व्यक्ति भ महावीर के समान तीर्थंकर नहीं होसकता प्रत्येक व्यक्ति हेमचन्द्राचार्य के समान सब विषयों में निष्णात नहीं हो सकता, हरेक व्यक्ति नैपोलियन के समान साहसी नहीं होसकता। हरक व्यक्ति महात्मागांधी नहीं बन सकता। तात्पर्य यह है कि महापुरुषों में कतिपय विशेषताएं ऐसी होती हैं जो असाधारण होती हैं और ये प्रकृति की अनुपम देन होती हैं।

जैन दिवाकरजी में पाई जाने वाली वक्तृत्व की प्रतिभा ऐसी ही प्रकृति की अनमोल देन है। यही कारण है कि आप कुशल वक्ता हैं। अपनी मौलिक वक्तृत्व शक्ति के कारण ही जैन दिवाकरजी की इतनी सर्वव्यापिनी कीर्ति और प्रसिद्धि है। सचमुच आपके वक्तृत्व में कुछ ऐसा जादू है कि वह श्रोताओं को मंत्र मुग्ध बना लेता है। जैन दिवाकरजी के गुणों की मणि माला में वक्तृत्व का गुण सर्वाधिक आकर्षक एवं मनोहर है। इस वक्तृत्व के चमत्कार ने आपकी गुणगरिमा को चार चांद लगा दिये हैं। आपकी वक्तृत्व शैली के आकर्षण ने आपका बहुत ही उच्चपद

पर प्रतिष्ठित कर दिया है। आप स्वभाव सिद्ध वक्ता हैं।

दीक्षा अङ्गीकार करने के प्रथम वर्ष में ही आपको व्याख्यान देने का अवसर प्राप्त हुआ। छावनी (झालावाड़) का चातुर्मास शान्ति और आनन्द के साथ पूर्ण होने पर श्रीमान् हीरालालजी म. ने वहां से विहार किया। उस समय आपके साथ चैनरामजी म. तथा कालूरामजी म. भी थे गुरुदेव ने साधु समुदाय के दो विभाग किये और चैनरामजी म. और चौथमलजी म. को छोटे २ गावों में होते हुए कोटा पधारने की आज्ञा दी। दोनों मुनिवर कोटा पधारे। तब दोनों मुनियों में यह विचार होने लगा कि व्याख्यान कौन बांचेगा ? उस समय श्रीमान् चौथमलजी म. ने कहा कि कोई विचार की बात नहीं मैं व्याख्यान बांचूंगा। वहां आपने ही व्याख्यान दिये। आपके ये प्रारम्भिक व्याख्यान भी जनता को अत्यन्त रुचिकर प्रतीत हुए। इसके पश्चात् हीरालालजी म. सा. भी पधार गये। कुछ दिन के पश्चात् जब वहां से विहार की तैयारी होने लगी तो वहां के श्रावक कहने लगे कि नये महाराज (चौथमलजी महाराज) के मुख से एक व्याख्यान सुनने की हमारी और इच्छा है। इस पर से यह समझा जा सकता है कि प्रारंभ से ही आपकी व्याख्यान शैली कैसी हृदय-ग्राही एवं आकर्षक थी।

संवत १९५५ का चातुर्मास बड़ी सादड़ी में अपने गुरुदेव के साथ पूर्ण करने पर आप निम्बाहेड़ा और चित्तौड़ होते हुए पारसोली (मेवाड़) पधारे।

यहां के रावजी सा. रत्नसिंहजी जो श्रीमान् मेदपाटेश्वर मेवाड़ाधीश हिन्दू पातुर्य महाराणा साहब के सोलह जागीरदारों में से एक थे-जैन धर्म के बड़े अनुरागी थे। आप जैन मुनियों को बड़े आदर भाव भक्ति की दृष्टि से देखते थे। उनकी मान्यता थी कि जैन साधुओं के जैसा त्याग और उच्च एवं आदर्श आचरण अन्यत्र नहीं पाया जाता। रावजी सा० के हृदय में जैन धर्म के प्रति इतनी श्रद्धा और भक्ति थी इसका श्रेय पं० मुनि श्री नन्दलालजी म० सा. सरल स्वभावी कवियर श्री हीरालालजी म० सा. आदि मुनिराजों को है जिनकी सत्संगति के कारण रावजी सा. को जैनधर्म के प्रति अनुराग हो गया। केवल अनुराग ही नहीं, वरन् आपका व्यवहार भी ऐसा उत्तम हो गया था कि आपको जैन श्रावक-कहना अत्युक्ति पूर्ण नहीं है। शिकार करने का विचार तो उनके दिल से निकल ही गया था। उनका स्वभाव बड़ा ही नरम था। जब हमारे चरितनायकजी ने यहां व्याख्यान दिये तो उन रावजी साहब बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि "आपने जो व्याख्यान दिये वे बहुत ही उत्तम हैं। आपके व्याख्यानों को सुनकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है और मुझे पूर्ण विश्वास होगया है कि यदि आपकी यही गति रही तो गुरुकृपा के शुभाशीर्वाद से समय पाकर जैनसिद्धान्त के धार्मिक क्षेत्र में आपका मुख्य और अत्यन्त आदरणीय स्थान होगा।"

रावजी सा. के इन वाक्यों पर से सुज्ञ पाठक भलीभांति समझ गये होंगे कि

दीक्षा के प्रारम्भिक वर्षों में भी जैन दिवाकरजी की व्याख्यान शैली कैसी अद्भुत थी। वस्तुतः रावजी सा० के कथनानुसार ही हुआ और आज हमारे चरितनायकजी का स्थान जैनधर्म के मुनि उपदेशकों में अग्रगण्य है।

इसके थोड़े समय पश्चात् आप मन्दसौर पधारे। अन्य मुनियों के आग्रह से श्री चौथमलजी म० सा० ने व्याख्यान दिया। मन्दसौर में मोतीलालजी बागिया एक शास्त्रवेत्ता श्रावक थे। ये श्रावक महोदय हमारे चरितनायकजी को वैराग्यावस्था में कहा करते थे कि चौथमलजी! तुममें साधु होने के लक्षण नहीं हैं। परन्तु आज श्री चौथमलजी म० सा० के व्याख्यान को श्रवण करके आप दंग रह गये। हमारे चरितनायकजी ने वहाँ धाराप्रवाह व्याख्यान दिया। आचारांग सूत्र का अस्खलित उच्चारण करते हुए उसका सुन्दर विवेचन किया। श्री बागियाजी श्रावक भगवती सूत्र पन्नवणा सूत्र आदि आगमों के तत्वों के वेत्ता थे। उनकी उपस्थिति में बहुत से साधु तक सूत्र बांचने में झिझका करते थे। लेकिन हमारे चरितनायकजी ने सुन्दर शैली से शास्त्रीय व्याख्यान फर्माया जिसे श्रवण करके उक्त श्रावकजी को कहना पड़ा कि "महाराज सा० आपने थोड़े ही समय में अच्छा परिश्रम किया और खूब योग्यता सम्पादन की। हम ऐसा नहीं समझते थे कि आपके व्याख्यान की शैली इतनी हृदयग्राही और प्रभावोत्पादक हो जायगी। वैराग्यावस्था में आपसे मैंने जो शब्द कहे थे उनके लिए मैं आपसे क्षमा चाहता हूँ।' यह आपके प्रारम्भिक व्याख्यानों की हृदयग्राहिता का प्रमाण है।

नीमच और नाथद्वारा के संस्मरण

संवत १९५९ का चातुर्मास नीमच नगर में हुआ। यहाँ आपके उपदेशों के द्वारा बहुत उपकार हुआ। जनता आपके व्याख्यानों को सुन कर चकित हो जाती थी। शहर में आपके व्याख्यानों की धूम थी। नीमच आपकी जन्मभूमि है इसलिए नीमच निवासियों को इस गौरव का अनुभव होने लगा कि हमारी इस भूमि ने कैसे अनमोल रत्न को जन्म दिया। शहर में सब जगह यही चर्चा होने लगी कि हम नहीं समझते थे कि चौथमलजी दीक्षा लेकर ऐसे विद्वान् एवं वक्ता होजावेंगे। ये तो गुदड़ी में छिपे हुए रत्न निकले। इन्होंने अपने नगर को एवं माता पिता के गौरव को बढ़ाया है। वैराग्य अवस्था में तो नर-नारी इनका उपहास किया करते लेकिन अब तो बात ही कुछ और होगई। सर्वत्र आपके चमत्कारपूर्ण उपदेशों की भूरि भूरि सराहना होने लगी। इस प्रकार नीमच नगर में आप प्रसिद्धवक्ता के रूप में समाज के सामने आये।

नीमच का चातुर्मास सानन्द पूर्ण होनेपर आप छावनी जावद बड़ाणे निम्बाहेड़े आदि स्थानों को पावन करते हुए चित्तौड़ पधारे। मार्ग में जैन अजैन मजदूर काश्तकार आदि सभी बहुत बड़ी संख्या में आपके उपदेश—श्रवण का लाभ लेते थे। बड़ाणे के रावजी सा ने आपके व्याख्यानों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की।

आप छोटे बड़े सभी ग्रामों को पावन करके अपने उपदेशामृत का सर्वसाधारण को लाभ करते थे। चित्तौड़ से आप नाथद्वारा पधारे। नाथद्वारा विष्णुपुरी के नाम से प्रसिद्ध है। यह वैष्णवों का बहुत बड़ा तीर्थस्थान है। यहां स्थानकवासियों के बहुत कम घर हैं। जब महाराज श्री नाथद्वारा पधारे तब यहां के श्रावकों ने अपनी अपनी दुकानों पर ही खड़े होकर वन्दना की। ठहरने का स्थान पूछने पर उत्तर मिला कि द्वारका-धीश की बाड़ग पर। तब महाराज श्री वहीं जाकर ठहरे। दूसरे दिन प्रातःकाल आपका व्याख्यान प्रारम्भ हुआ। प्रारम्भ में केवल जैन सम्प्रदाय के मनुष्य ही व्याख्यान में आये क्योंकि व्याख्यान का स्थल एकान्त में था। स्थान की एकान्तता के कारण अधिक लोग व्याख्यान श्रवण का लाभ न लेसके। हां व्याख्यान सुनने पर श्रावकगण तो लट्टू होजाते थे। एकदिन प्रसंगवश आपने यहां के श्रावकों से सम्यस्थल में जहां सर्व साधारण जनता व्याख्यान श्रवण का लाभ लेसके व्याख्यान करवाने का संकेत किया। इसपर लोगों ने कहा कि महाराज! बाजार का नाम न लिजिए, यह तो विष्णुपुरी है। प्रथम तो अजैन लोग आयेंगे ही नहीं यदि आभी गये और कोई कुछ प्रश्न कर बैठा तो आप क्या उत्तर देंगे। आपको दीक्षा लिये अभी थोड़ा ही समय हुआ है इसलिये जैसा चल रहा है वैसा ही चलने दीजिये। यहां के श्रावकगण आपकी प्रतिभा से अज्ञात थे इसलिए उन्होंने ऐसा उत्तर दिया। इस पर महाराजश्री ने फमाया-कि आप चिन्ता न करिये। गुरुदेव के प्रताप से सब ठीक होगा। हम गुरुदेव की आज्ञानुसार स्वतन्त्र विचरते हैं तो तदनुकूल योग्यता होगी तभी तो ऐसा करते हैं। जो कोइ शंका करेगा उसकी शंका का हम योग्यतानुसार उत्तर देंगे। धर्म प्रचार करना हम साधुओं का कर्तव्य है। अगर इस तरह से शंका भय और संकोच से काम करें तो धर्म के प्रचार का आशय पूर्ण नहीं हो सकता। यह विष्णुपुरी है इसलिए यहां जैन धर्म के तत्त्वों का प्रचार करने की अधिक आवश्यकता है"। महाराजश्री के ऐसा कहने पर भी यहां के श्रावकों को संतोष न हुआ। उनके हृदय में शंकाओं ने स्थान कर लिया था। उसी समय उदयपुर निवासी राजमलजी ताकड़िया ने महाराजश्री से प्रार्थना की कि लिलियाकुण्ड नामक स्थल व्याख्यान के लिए बड़ा अनुकूल है। महाराजश्री भी व्याख्यान के समय पर लिलियाकुण्ड की पेढ़ी पर जा विराजे और राजमलजी सम्मुख ही व्याख्यान सुनने के लिये बैठ गये। व्याख्यान प्रारंभ होने पर श्रावकों को विदित हुआ तो उन्होंने इसे ठीक नहीं समझा। उनका हृदय शंकाओं से कांपने लगा। किसी प्रकार १०-१२ श्रावक श्राविकाएं वहां उपस्थित हुईं। लगभग २०-२५ अजैन भी आये। महाराजश्री का व्याख्यान अजैनों को बड़ा रुचिकर लगा। दूसरे दिन १५०-२ अजैन व्याख्यान में आये यह देखकर श्रावकों की शंका दूर हुई और अब वे प्रसन्नता के साथ अधिकाधिक संख्या में योग देने लगे। उत्तरोत्तर श्रोताओं की संख्या बढ़ने लगी। केवल पांच ही व्याख्यानों के होने पर श्रोताओं की भीड़ उमड़ पड़ी। हजारों की संख्या में लोग आपके व्याख्यानों में उपस्थित होते। शहर में जैन आपकों की

संख्या १२५ से अधिक न थी। शेष अजैन जनता ही आपकी वचन धारा से आकर्षित होकर व्याख्यानों का लाभ लेती। राज्याधिकारी भी व्याख्यानों में आते। श्रीनाथजी के महंत भी आते और बड़ी रुचि से धर्मोपदेश श्रवण करते थे। इस प्रकार आपके थोड़े से व्याख्यानों ने नाथद्वारा को मुग्ध कर लिया। विष्णुपुरी रूप से विख्यात नाथद्वारा के नर नारी आपको बड़े आदर और श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। सारे शहर में आपकी प्रशंसा और जय ध्वनि होने लगी।

आपके पवित्र उपदेशामृत के पिपासुओं को कतिपय दिवस पर्यन्त प्रवचन पीयूष का दान करने के पश्चात् आपने यहाँ से प्रस्थान किया। प्रस्थान काल में यहाँ के जैन एवं जैनेतर नर नारियों की आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। वे आपके वियोग से व्यथा का अनुभव कर रहे थे। उस समय का दृश्य बड़ा ही हृदयस्पर्शी था। सारे नगर निवासी जैन अजैन मुसलमान इत्यादि आपको विदा करने के लिये आये और उसी समय बड़े प्रेम एवं आग्रह से चतुर्मास की प्रार्थना भी चरण में रखी। वहाँ से विहार कर मुनि श्री गंगापुर पधारे। वहाँ से श्री संघ का संदेश आया था कि यहाँ विपक्षी पूज्य आये हुए हैं अतः महाराज श्री के पधारने की अत्यन्त आवश्यकता है। यहाँ की अजैन जनता भी आपके पदार्पण की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रही थी इसका कारण यह था कि नाथद्वारा में दिये गये मुनि श्री के व्याख्यानों से दूर २ तक आपकी कीर्ति फैल गई थी। जब गंगापुर निवासियों ने यह हर्ष समाचार सुने कि नाथद्वारा वाले महाराज यहाँ पधार रहे हैं तो उनके हर्ष का कोई पारावार न रहा। सैकड़ों नर नारी महाराज सा० का स्वागत करने के लिये सम्मुख आये। गंगापुर में आपके प्रभावशाली व्याख्यान हुए। कतिपय अजैन बन्धुओं की शंकाओं का आपने निवारण किया। सब लोगों के हृदय पर यह छाप बैठ गई कि वास्तव में महाराज श्री एक चमत्कारिक विभूति हैं।

गंगापुर से विहार करके चित्तौड़ होते हुए महाराज श्री आयरा पधारे। यहाँ पर नाथद्वारा का श्रीसंघ पुनः हमारे चरितनायकजी का चातुर्मास अपने शहर में करवाने की प्रार्थना करने के लिये आया। यह देखकर आयरा के श्रीसंघ को बड़ा आश्चर्य हुआ। रतलाम निवासी धर्मप्रेमी श्रीमान् सेठ अमरचंदजी सा० पीतलिया ने पूछा कि क्या नाथद्वारा में भी जैनियों के घर हैं? इस प्रश्न के उत्तर में नाथद्वारा के श्रीसंघ ने कहा कि-"हाँ, जैनियों के घर हैं तो सही परन्तु अल्प संख्या में हैं। महाराजश्री चौथमलजी के लिए तो हमारा इसलिए विशेष आग्रह है कि नाथद्वारा के जैन अजैन हिन्दू मुसलमान सब उत्सुकता के साथ महाराजश्री के पधारने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इतना ही नहीं वरन् श्रीनाथजी के भक्तगण महाराजश्री को हृदय से याद रहे हैं"। इसपर अमरचंदजी सा० ने कहा कि यदि ऐसी बात है तब तो महाराजश्री का चातुर्मास वहाँ अवश्य कराना चाहिए। यह

धर्म प्रभावना का सुन्दर अवसर है। नाथद्वारा श्रीसंघ के आग्रह और धर्म-प्रभावना के अनुकूल अवसर को लक्ष में रखकर महाराजश्री ने चातुर्मास की स्वीकृति प्रदान करदी। तदनन्तर ग्रामानुग्राम विचरते हुए नियत समय पर महाराजश्री का नाथद्वारा में पदार्पण हुआ। सैकड़ों नर नारी स्वागत के लिए नगर से बाहर आये और जयध्वनि के साथ आपका स्वागत किया। चातुर्मास में आपके प्रभावशाली व्याख्यानों को हजारों स्त्री पुरुष बड़े चाव से श्रवण करते थे। चातुर्मास-काल में व्रत प्रत्याख्यानादि प्रचुर मात्रा में हुए तथा अजैन बन्धुओं ने भी जैन रीति के अनुसार व्रत उपवासादि किये। चातुर्मास की पूर्णाहुति होने पर जब आपका यहां से विहार होने लगा तब सभी नगर निवासी वियोग से व्यथित होकर आंसू बहा रहे थे मानों उनके हाथ से कोई निकल कर जा रहा हो। उस समय का दृश्य बड़ा मार्मिक था। इस तरह नाथद्वारा जैसे अजैनतर प्रमुख तीर्थस्थान में महाराजश्री ने जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रचार किया और अपने अनुपम प्रवचनों द्वारा शासन की प्रभावना की।

अब जैन दिवाकरजी के व्याख्यानों की ख्याति दूर दूर तक फैल गई थी। अब आपका शुभ नाम भारतवर्ष के सभी प्रान्तों में विख्यात हो चुका था। अतएव हरेक प्रान्त के लोग ऐसी चमत्कारिक मूर्ति के दर्शन के लिए लालायित रहते थे। यही बात आगरा निवासियों के सम्बन्ध में भी थी। संवत् १९७१ में भरतपुर से विहार कर आप आगरा पधारे। यहां की जनता कतिपय वर्षों से दर्शनों के लिए लालायित थी। अब दर्शनों का लाभ लेकर जनता ने अपने आपको धन्य माना। आगरा में आपके प्रवचन प्रारम्भ हुए। अबतक जितने जैन धर्मोपदेशकों के यहां व्याख्यान हुए उन सबमें आपके व्याख्यानों में श्रोताओं की संख्या अधिक होती थी। इसका कारण यह था कि आपकी वक्तृत्व शैली बड़ी मनोहर एवं आकर्षक थी। साथ ही आप ऐसे ढंग से विषय का प्रतिपादन करते थे कि आपका व्याख्यान न केवल जैन मतावलम्बियों के लिए अपितु सर्वसाधारण के लिए उपयोगी होता था लोहामंडी में महावीर जयन्ती का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाने के पश्चात् आप मानपाड़ा में पधारे। वहां एक अग्रवाल बन्धु ने अपनी ओर से म० श्री का एक जाहिर व्याख्यान करवाने का आयोजन किया। निर्दिष्ट समय पर बेलनगञ्ज में महाराज श्री का ओजस्वी एवं प्रभावक व्याख्यान हुआ। श्रोताओं की अपार भीड़ थी। धौलपुर निवासी सुप्रसिद्ध इतिहासवेत्ता ला० कन्नोमलजी एम ए. सैशन जज भी व्याख्यान के समय पर आ पहुंचे थे। व्याख्यान के अन्त में लाला कन्नोमलजी ने व्याख्यान की सराहना करते हुए कहा कि— "ऐसे महात्मा का एक व्याख्यान भी लोगों का उद्धार कर सकता है इत्यादि"— ।

सार्वजनिक व्याख्यान होने के बाद आगरा में आप और भी अधिक विख्यात होगये। सर्वत्र आपकी महिमा होने लगी। आगरा निवासियों ने चातुर्मास की

विनती की। उनके अत्यन्त आग्रह भरे शब्दों के कारण आपने विनती स्वीकार की और सं. १९७१ का चातुर्मास आगरे में किया। यहाँ प्रतिदिन आपके ओजस्वी व्याख्यान होते जिनका स्थानीय जनता पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता था। इस प्रकार आगरा में आपके व्याख्यानों की खूब धूम रही।

वक्तृत्व शक्ति की जादुगरिकता

जैन दिवाकरजी महाराज की देश व्यापिनी कीर्ति और प्रसिद्धि का मुख्य कारण आपकी वक्तृत्व शक्ति की जादुगरिकता है। इस मौलिक शैली ने आपको बहुत उच्च पद पर प्रतिष्ठित करदिया है। वास्तव में सुन्दर वक्तृत्व-शैली में गजब की शक्ति होती है। दूसरों पर प्रभाव डालने में वह अपनी सानी नहीं रखता। सद्वक्ता अपनी उस शक्ति के कारण युगान्तरकारी परिवर्तन कर देते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि वक्ता ने अपने वक्तृत्व द्वारा दुनिया के इतिहास को बदल दिया है। विजयी सिकन्दर जब एक के बाद एक देशों पर विजय पताका फहराता हुआ भारत पर आक्रमण करने के लिए आया। तब उसकी विशाल सेना निरन्तर संग्राम करते रहने से ऊब चुकी थी। वह भारत न आकर पुनः यूरोप लौट जाना चाहती थी सारी सेना आगे बढ़ने से इन्कार कर रही थी। 'हम नहीं लड़ेंगे हम नहीं लड़ेंगे' के शब्द सभी सैनिकों के मुख से निकलते थे। ऐसी परिस्थिति में यदि कोई साधारण व्यक्ति होता तो वह निराश और हताश हो जाता। लेकिन सिकन्दर ने एक ऊँचे स्थान पर खड़े होकर अपना भाषण शुरू किया। विजयी सिकन्दर के भाषण ने हताश बनी हुई सेना में नवीन प्राण का संचार कर दिया। जो सेना थोड़े ही क्षण के पहले 'हम नहीं लड़ेंगे" के सूत्र पुकारती थी वही सेना बड़े उत्साह के साथ आगे बढ़ने के लिए उत्सुक हो उठी। निराश और हतवीर्य बने हुए सैनिकों के भी भुजदण्ड फड़कने लगे। सहसा यह परिवर्तन ! आश्चर्य ! महा आश्चर्य ! कहना न होगा कि यह सारा वक्तृत्व शक्ति का चमत्कार है।

वक्तृत्व शक्ति के चमत्कार को कौन नहीं जानता ? बड़े राष्ट्रों का निर्माण तलवार के बलपर नहीं अपितु वक्तृत्व के बलपर होता है। राष्ट्र, जाति और समाज का उत्थान तभी हो सकता है जब व्यक्तिगत उत्थान हो। क्योंकि व्यक्तियों से ही जाति समाज एवं देश बनते हैं। व्यक्तियों को सुधरने पर जाति समाज एवं देश का सुधार स्वयमेव हो जाता है। एक सद्विचारक वक्ता अपने वक्तव्य के प्रभाव से हजारों ही नहीं बल्कि लाखों करोड़ों मानवों का सुधार कर सकता है। जैन दिवाकरजी ने अपने वक्तृत्व के द्वारा हजारों प्राणियों का सुधार किया है। आपके व्याख्यानों को श्रवण करते ही मानव हृदय में अलौकिक परिवर्तन हो जाता है।

आपके व्याख्यान मधुर, सरल मनोरंजक तथा प्रभावशाली होते हैं।

आपके व्याख्यान बड़ी सुललित मधुर एवं हृदयग्राही भाषा में होते हैं। पता नहीं आपके साधारण शब्दों में भी क्या जादू रहता है कि उपदेश का प्रत्येक शब्द कान के रास्ते अन्तर तक आ पहुंचता है और एक अपूर्व आह्लाद उत्पन्न करता है। जिस समय आप अपने प्रभावशाली शब्दों में उपदेश की वर्षा करते हैं तब श्रोतागण चित्रलिखित से रह जाते हैं, मानों किसी अद्भुत रस का पान करने में तल्लीन होरहे हों। श्रोता अपनी सुधबुध भूलकर ऐसी तन्मयता के साथ आपके उपदेशामृत का पान करते हैं कि हजारों की उपस्थिति होने पर भी एकदम सन्नाटा सा छाया रहता है। आप जिस समय अपने हृदय-गत उद्गारों को सरस एवं सुबोध भाषा में व्यक्त करके श्रोताओं के कर्णपुटों में प्रवेश कराते हैं उस समय आपकी छटा एक अपूर्व रूप धारण करलेती है जिससे श्रोताजनों का मन स्वाभाविक रीति से आपकी ओर आकर्षित हो जाता है।

आप जैन सिद्धान्तों के अच्छे ज्ञाता एवं विद्वान् हैं तथापि आप अपनी विद्वत्ता का प्रदर्शन क्लिष्ट शब्दों के प्रयोग के द्वारा कदापि नहीं करते। अपने पाण्डित्य को शब्दों में भरकर आप श्रोताओं के कानों में उसे जबरदस्ती कभी नहीं ठूँसते। कठिन से कठिन बातको सरल और सुबोध भाषा में समझा देना पाण्डित्य का प्रमाण है। जैन दिवाकरजी की सरल विवेचन शैली आपके पाण्डित्य की परिचायक है।

प्रायः देखाजाता है कि एक वक्ता साधारण जनता पर तो खूब प्रभाव जमा लेता है परन्तु शिक्षित और विचारशील समुदाय पर उसका कोई खास असर नहीं पड़ता। इसी प्रकार एक ऐसा वक्ता होता है जो शिक्षित समुदाय पर प्रभाव डाल सकता है परन्तु साधारण जनता में वह आदर नहीं पा सकता। जैन दिवाकरजी ऐसे वक्ता हैं जिनका प्रभाव साधारण जनता और शिक्षित वर्ग पर समान रूप से पड़ता है। सभी श्रेणियों के मनुष्यों पर आपके व्याख्यान का प्रभाव पड़ता है। यह आपकी एक मुख्य विशेषता है। हम देखते हैं कि मुनि महाराज के पास यदि आज एक धुरन्धर विद्वान् आता है तो कल एक अबोध किसान। कभी वे नगर निवासियों को उपदेश देते हैं तो कभी ग्राम निवासियों को। तात्पर्य यह है कि जैन दिवाकरजी के व्याख्यान ऐसी शैली से होते हैं जो सब प्रकार के मनुष्यों के लिए उपयोगी एवं लाभप्रद होते हैं।

जैन दिवाकरजी न केवल प्रखरवक्ता ही हैं अपितु वे मानव-प्रकृति के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। आपके उपदेशों को सुनकर श्रोता यह समझने लगते हैं कि मुनि श्री हमारे हृदय के रहस्यों को जानते हैं और हमारे दुःखों के निवारक और पापों से त्राण करने वाले हैं। मुनि श्री अपने प्रवचनों में केवल पुस्तकीय एवं शास्त्रीय उदाहरण ही नहीं रखते वरन् वे प्रत्यक्ष अनुभवों की पृष्ठभूमि पर मानव हृदय का परिष्कार करते हैं। वे साधारण अनुभवों के द्वारा भी ऐसी सचोट बात कह देते हैं

कि वह श्रोताओं के हृदयतल को छू लेती है। रात दिन की साधारण बात को भी वे इस ढंग से प्रतिपादित करते हैं कि वह एकदम नवीन मालूम होने लगती है। तात्विक विषयों के प्रतिपादन में भी मनोरंजन का पुट लगा देना आपकी एक प्रमुख विशेषता है।

जैन दिवाकरजी ने तात्विक धार्मिक सामाजिक नैतिक दार्शनिक एवं व्यावहारिक विषयों पर बड़ी गम्भीरता से विवेचन किया है एवं कर रहे हैं। मानवजीवन को सर्वाङ्ग सुन्दर बनाने के लिए आप भरसक प्रयत्न कर रहे हैं अतएव आपके व्याख्यानों के विषय भी तदनुकूल ही होते हैं। आपने बाल विवाह वृद्ध विवाह कन्याविक्रय वरविक्रय अहिंसा धर्म मांसाहार मदिरापान कुशील सेवन सगति एकता सगठन क्षमा दया सत्य क्रोध मोक्ष मार्ग मनुष्यकर्तव्य लोकसेवा भक्ति वैराग्य आध्यात्म ज्ञान प्रेम, आत्मज्ञान दृढ़ता इच्छाशक्ति कर्तव्य पालन,, संसार की असारता सामाजिक जीवन दुराग्रहत्याग, सदाचार विद्या तपस्या का आदर्श जीवन सग्राम में विजय अतीतस्मृति धार्मिक पतन ब्रह्मचर्य इन्द्रिय निग्रह पर्यूषणपर्व और जैनधर्म जैनधर्म की श्रेष्ठता धर्म की तात्विक एवं व्यावहारिक मीमांसा गार्हस्थ्य जीवन मन की महत्ता सत्यनिष्ठा सुख का उपाय आत्मसिद्धि मंगलमार्ग इत्यादि कतिपय आध्यात्मिक सामाजिक व्यावहारिक एवं नैतिक विषयों पर गवेषणापूर्ण तथा अनुभवगम्य विवेचन किया है और कर रहे हैं। सामाजिक जीवन को ऊँचा उठाने के लिये आपने भगीरथ प्रयत्न किया है।

आपके प्रवचनों के प्रभाव से अनेकों आत्माओं का उद्धार हुआ है अनेकों विपथगामी व्यक्ति सन्मार्ग के पथिक बने हैं। पाप के भयंकर गर्त में गिरे हुए व्यक्तियों ने धर्म का आश्रय लिया। इस प्रकार मुनि श्री मानव जाति की नैतिक एवं धार्मिक प्रगति के लिये देवदूत का काम कर रहे हैं।

धार्मिक उदारता —

आपके प्रवचनों की एक बड़ी भारी विशेषता यह है कि आप किसी भी धर्म का खंडन नहीं करते। आपका हृदय अत्यन्त उदार और सहिष्णु है। आपको किसी भी सम्प्रदाय या मजहब से घृणा या द्वेष तो है ही नहीं, साथ ही आप सभी को प्रेम की दृष्टि से देखते हैं। आपका यह कथन है कि "मनुष्य को धर्म सम्बन्धी मतान्तरों के विवाद में न फँसकर कर्तव्य पालन की ओर लक्ष्य देना चाहिए। धर्म का उच्च आदर्श तो आमोन्नति एवं लोकसेवा है। इसी उद्देश्य से प्रवृत्ति होनी चाहिए। दीन दुखियों के दुःखों का निवारण करना बहुत बड़ा धर्म है। आपकी इस धार्मिक उदारता के कारण आपके व्याख्यान में मुसलमान ईसाई आर्यसमाजी एवं वेदधर्मावलम्बी इत्यादि सब मजहबों के व्यक्ति खूब रस लेते हैं। आपके

व्याख्यान सार्वजनिक होते हैं । आप विषयका इस रीति से प्रतिपादन करते हैं कि हर मतावलम्बी यह समझता है कि मुनि श्री हमारे ही धर्म के सम्बन्ध में कह रहे हैं । आपकी यह धार्मिक उदारता बड़ी आदर्श एवं आदरणीय है । आज के युग में मत मतान्तरों मान्यताओं को झूँठी ठहराने और अपने आपको ही सच्चा सिद्ध करने का वृथा प्रयास करना हानिकारक है । धार्मिक विवादों का समय अब नहीं रहा । अब तो आवश्यकता इस बात की है कि मनुष्य के मानसिक और व्यावहारिक जीवन को उत्तम बनाने वाले ही उपदेश दिये जावें । जैनदिवाकरजी महाराज अपनी धार्मिक उदारता के द्वारा यह आवश्यकता पूर्ण कर रहे हैं । आपके प्रवचनों द्वारा जैन, मुसलमान बोहरा वैष्णव आदि की पारस्परिक सहयोग की भावना फली फूली है । प्रसंगवश यहां संवत् १९७९ के उज्जैन चातुर्मास में मुनि श्री की सेवा में रहने वाले मयाचन्दजी महाराज के ३३ उपवास के तपः पूर्ति महोत्सव के अवसर पर यहां के अजैन बन्धुओं ने जो सहयोग दिया उसका उल्लेख करना अनुचित न होगा वह इस प्रकार है —

तपस्वी श्री मयाचन्दजी म. ने ता. २१-७-२२ श्रावण शुक्ला ८ बुधवार से ३३ उपवास की तपश्चर्या प्रारम्भ की जिसकी पूर्ति १०-८-२२ भाद्रपद शुक्ला ८ बुधवार को थी । इस तप-पूर्ति महोत्सव के शुभ प्रसंग पर उज्जैन के कपड़े के मील प्रेस जीन कसाईखाना इत्यादि बन्द रहने चाहिये ऐसा सोचकर श्रीसंघ का एक शिष्टमण्डल (डेप्युटेशन) विनोद मील के एजेन्ट बाबू मदनमोहनजी के पास गया । एक दिन मील बन्द रखने में रु ७०० की हानि होती थी । तदपि दिगम्बर जैन धर्मावलम्बी बाबू मदनमोहनजी ने उसकी पर्वाह न करके उस दिन मील बन्द रखा । इसी प्रकार खान साहब सेठ नजरअली अल्लाबक्सजी के मील मालिक सेठ लुकमान भाई ने भी मील बन्द रखा । इस्लाम के अनुयायी होने पर भी आपने इतनी उच्च सहयोग की भावना प्रदान की । इतनी ही नहीं किन्तु उक्त अवसर पर मोहर्रम के दिन होने पर आगम जाति भोज में भी मौठ चावल पकवाए । अर्थात् उस दिन जाति भोज के लिए भी उन्होंने किसी तरह का अभक्ष्य (मांसादि) वस्तु का उपयोग नहीं किया । इस प्रकार १०० बकरों को अभयदान मिला । कहने का तात्पर्य यह है कि अजैनों में भी इतनी सहयोग की भावना उत्पन्न हुई इसका श्रेय जैन दिवाकरजी की प्रभावमयी वाणी को ही है ।

तपः पूर्ति के दिवस महाराज श्री का "अहिंसा परमो धर्म" पर प्रवचन हुआ जज साहब मौलवी फाजिल जज साहब मिस्टर बोस आदि प्रतिष्ठित सज्जनों ने व्याख्यान का लाभ लिया । व्याख्यान समाप्त हो जाने पर जज साहब ने कहा कि अपने व्याख्यानों एवं उपदेशों के द्वारा कौमी एकता का वातावरण तैयार करने का प्रयास करके श्री जैन दिवाकरजी म. राष्ट्र की बहुत बड़ी सेवा कर रहे हैं ।

व्याख्यानों का प्रभाव क्यों !

जैन दिवाकरजी म. के व्याख्यानों की सर्वत्र धूम रहती है जहां जैन दिवाकरजी म. का पदार्पण होता है वहां नई चहलपहल हो जाती है धार्मिक जागृति की लहर दौड़ जाती है। छोटे गांव हों अथवा बड़े शहर हों जहां आप श्री का पदार्पण हुआ या होता है वहां किसी उत्सव के समान ठाठ जम जाता है। लोगों के झुण्ड के झुण्ड आपके दर्शनों के लिए आते हैं और आपके कथा व्याख्यान रूपी अमृत का आस्वादन कर अपने आपको धन्य मानते हैं यह किसी एक स्थान विशेष की बात नहीं वरन् सर्वत्र ऐसा होता है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि आपके भाषण में इतना प्रभाव क्यों है?

इसका समाधान यह है कि व्याख्याता का प्रभाव उसके व्यक्तित्व आत्म बल त्याग माधुर्य उत्साह भाषण-शैली वाक्य रचना तथा सबसे अधिक उसके हृदय की शुद्धि पर निर्भर है। यदि वक्ता का हृदय दुखियों के दुख से दुखित अत्याचारियों के अत्याचार से विक्षिप्त तथा पापियों के पाप से पीड़ित है यदि वह पीड़ित मानवता की दुर्दशा पर आंसू बहाता है यदि वह अज्ञान एवं दुख के गहन अन्धकार में पड़ी हुई मानव जाति के साथ पूर्ण करुणामयी सहानुभूति रखता है और यदि वह दुखियों को दुख से छुड़ाने के लिए दृढ़ संकल्प कर चुका है तो क्या यह सम्भव है कि उसकी वाणी में अलौकिक शक्ति, उसके शब्दों में आध्यात्मिक चमत्कार, उसके विचारों में प्रतिभा उसके भावों में सत्यता और उसके चरित्र में विचित्रता एवं विशेषता न हो?

जो व्यक्ति दुखियों के प्रति सहानुभूति रखता हो जो उन्हें दुख से मुक्त करने के लिए कटिबद्ध हो जो दूसरों को दुख मुक्त करने के लिए स्वयं तपोमय जीवन यापन करता हो और जो जैसा कहता है वैसा ही आचरण करता हो उसके वचनों में यदि अनुपम चमत्कार हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसे सद्गुणों से अलंकृत व्यक्ति दुनिया में नयायुग उपस्थित करने की क्षमता रखता है।

जैन दिवाकरजी के भाषण के प्रभाव का कारण आपका अति उच्च चरित्रबल और सरल स्वभाव भी है। आप पंच महाव्रतों एवं मूल उत्तर आचार विचारों का बड़ी सावधानी से पालन करते हैं। आपके हृदय में राग द्वेष की भावना नहीं सी है अतएव आपका आत्म-बल अत्यन्त उच्च कोटिका है। ऐसे आत्म बल सम्पन्न सुवक्ता की वाणी को नरनारी बड़े चाव एवं रुचि के साथ श्रवण करें उसके पवित्र हृदय से निकलने वाली वाणी—सुधा का पान करने के लिए अपार भीड़ उमड़ पड़े तो इसमें आश्चर्य ही क्या? संसार में दूसरों को उपदेश देने वालों की संख्या अल्प नहीं है परन्तु जो उपदेश का स्वयं पालन करते हों जो जैसा कहते हैं वैसा ही पालन करते हों ऐसे व्यक्तियों की बड़ी कमी है। सुधारक वही कहा जा सकता है जो अपने से ही सुधार का आरम्भ करे। उसका अमिट

प्रभाव पड़ता है जो अपने शुद्ध आचरण द्वारा अपने व्यक्तिगत जीवन को आदर्श बनाले। जो व्यक्ति स्वयं पाप का सेवन करता है और वह सभा में खड़ा होकर उस पाप कर्म का न करने का उपदेश करता है तो उसका कोई असर नहीं होसकता। उसका उपदेश करना केवल प्रलाप मात्र है। 'खुदरा फजीतह दीगरा नसीहत आप खाये काकड़ी दूजों को दे आखड़ी" इत्यादि लौकिक कहावतों के अनुसार काम करने वाले व्यक्ति का कदापि प्रभाव नहीं पड़ सकता है। समाज पर या व्यक्तियों पर उसीका असर पड़ सकता है जो सदाचार सम्पन्न हो। जैन दिवाकरजी म० ने अपने जीवन को पवित्राचार, दृढ़ आत्म संयम एवं उत्कृष्ट तपोमय जीवन के द्वारा अति उच्च श्रेणी पर स्थापित कर लिया है। यही कारण है कि उनके वचनों में इतना प्रभाव और शक्ति है। यही कारण है कि सफलता उनके आगे हाथ बांध कर खड़ी रहती है और वे जनता की रुचि व प्रवाह को अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वसाधारण पर जैन दिवाकरजी का इतना प्रभाव कैसे पड़ता है। साधारणतया लोग व्याख्यान के सूक्ष्म तर्क अकाट्य प्रमाण गम्भीर गवेषणा ऐतिहासिक और दार्शनिक प्रमाणों के लम्बे चौड़े वचनों की अपेक्षा सच्चे हृदय से निकले हुए उत्साह एवं सहानुभूति आशा और आश्वासन पूर्ण स्पष्ट सुबोध एवं व्यवहारोपयोगी वाक्यों से अधिक प्रभावित होते हैं। वचनों की सरलता और सुबोधता का विशेष असर होता है। उपदेशक की बाहरी आकृति और शब्द का लालित्य निस्सन्देह बड़े महत्व की वस्तु है तदपि सबसे अधिक महत्व और मूल्यवान वस्तु विषय की आन्तरिक आत्मा है।

जिस व्यक्ति को जैन दिवाकरजी म का एक भी प्रवचन सुनने का सुअवसर मिला है वह भली भांति जानता है कि आप अपने प्रवचनों में ऐसी ही बातों का निर्देश करते हैं जो जीवन को ऊँचा उठाने के लिए परमोपयोगी हों। काल्पनिक पुराणों एवं दार्शनिक कथाओं की भूल भुलैयों में आप श्रोताओं को नहीं उलझाते बल्कि उनके सामने ऐसे विषयों को उपस्थित करते हैं जिनसे प्रत्येक व्यक्ति का जीवन उत्थान की ओर अग्रसर हो। व्यक्तियों का व्यक्तिगत कौटुम्बिक जातीय सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन उच्च कोटि का हो यही आपके व्याख्यानों का आशय रहता है। इसीलिए सर्वसाधारण पर जैन दिवाकरजी के व्याख्यानों की एवं उच्च कोटि के पवित्र आचरण की गहरी छाप अंकित हुई है और हो रही है। आपके पवित्र उपदेशों के द्वारा अनेक आत्माओं ने अपना कल्याण सिद्ध किया। अतएव आपका प्रभाव सर्वसाधारण पर हो इसमें कोई नवीनता नहीं है।

—धर्म-प्रचारक के रूप में—

इस कथन में अल्प भी अतिशयोक्ति नहीं है कि वर्तमान जैनधर्म के इतिहास में जैन दिवाकर मुनि श्री चौथमलजी म का धर्म-प्रचारक के रूप में बहुत ही

ऊँचा स्थान है। आपने अपने दीक्षा काल से लगाकर अद्यावधि भगवान् महावीर के अहिंसा एवं सत्य के सिद्धान्तों का समस्त भारत में प्रचार किया। आपके सुमधुर एवं रसीले प्रवचनों के कारण आपको अपने प्रचार कार्य में असाधारण सफलता प्राप्त हुई एवं हो रही है। आपके शब्दों में ऐसा अद्भुत जादू भरा हुआ है कि श्रोता चित्रलिखित से बनकर आपके वचनामृत का पान करते हुए नहीं अघाते। इस अद्भुत वक्तृत्व शैली के कारण आपने दूर दूर प्रान्तों में जैनधर्म का प्रचार किया और उसके सिद्धान्तों के रहस्यों का दुनियां को भान कराया। आपने अपने प्रवचनों द्वारा जैनधर्म की अपूर्व प्रभावना की है। एक महान् शासन प्रभावक के रूप में आपका नाम जैनधर्म के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अङ्कित रहेगा।

जैन दिवाकरजी की शैली भी बड़ी अनोखी एवं निराली है। अन्य धर्म प्रचारकों की अपेक्षा आपकी प्रचार शैली भी कुछ विशेषता रखती है। धनी निर्धन राजा रंक उच्च-जातीय,हीन-जातीय इत्यादि सब प्रकार की जनता में आपने धर्म-प्रचार किया है। राणा-महाराणा राजा महाराजा ठाकुर सेठ साहूकार एक ओर आपके परम पवित्र प्रवचन के पियूष का पान करके अपने आपको धन्य मानते हैं तो दूसरी ओर आप समाज में घृणा पात्र समझे जाने वाले जातिमद के कारण ठुकराये हुए व्यक्तियों को भूल नहीं जाते। आप में जैन मुनि के योग्य साम्यभाव विद्यमान है। आप जिस भावना के साथ एक पुण्यशाली धनवैभव सम्पन्न व्यक्ति को उपदेश प्रदान करते हैं उसी भावना से तुच्छ, हीन जातीय उपेक्षित अपमानित एवं दीन गिने जाने वाले व्यक्तियों को भी उपदेश का दान करते हैं। जिस प्रकार सूर्य और चंद्रमा अपने प्रकाश के वितरण में ऊँच नीच का भेद नहीं रखते जैसे मेघ की धारा भेदभाव बिना सर्वत्र समरूप से गिरती है इसी तरह जैन दिवाकरजी महाराज की उपदेश धारा भी ऊंचनीच का विचार किये बिना अभेदरूप से समस्त वर्गों पर बरसती हैं वे मनुष्यों को उपदेश प्रदान करते हुए किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रखते। आप चमारों खटीकों और वेश्याओं तक को अपना पवित्र सन्देश सुनाते हैं और उन्हें ऊँचा उठाने का प्रयास करते हैं। ऐसे समाज द्वारा उपेक्षित एवं अपमानित वर्ग में भी आप नैतिक एवं धार्मिक भावना भरते हैं। कितने ही हिंसकों ने आपके उपदेश से आजीवन हिंसा का त्याग किया है कितने ही मांस भक्षकों ने मांस भक्षण को छोड़कर अपना कल्याण किया है कितने ही शराबियों ने शराब त्यागी है तथा कतिपय व्यक्तियों ने गांजा भांग तमाखू आदि मादक द्रव्यों का त्याग किया है। आपके व्याख्यानों के द्वारा कतिपय समाजों की कुरीतियां दूर हुई हैं और उनमें सुन्दर रिवाजों का प्रचलन हुआ है। आपके द्वारा होने वाले उपकारों का विशद वर्णन आगे किया जावेगा।

महाराजश्री ने ऊंचे नीचे छोटे बड़े जैन अजैन आदि का किसी भी प्रकार

का भेदभाव न रखते हुए सभी श्रेणियों की जनता में भगवान महावीर की अहिंसा एवं सत्य का प्रचार किया है। सभी पर आपने जैनधर्म की श्रेष्ठता का प्रभाव डाला है। इसी तरह जैन अजैन सभी को आपने उपदेश से आभारी बनाया है। मानव जाति के नैतिक एवं धार्मिक धरातल को ऊंचा उठाने में आपने जो भाग लिया है वह सर्वथा प्रशंसनीय एवं अनुकरणीय है।

जैन मुनियों के कल्प के अनुसार उन्हें पैदल भ्रमण करना होता है। इस मुनिमर्यादा के अनुसार पैदल भ्रमण करते हुए भी आपने भारतवर्ष के विभिन्न प्रान्तों में विहार किया है। आपके प्रचार का क्षेत्र बहुत विस्तृत रहा है। मेवाड़, मालवा मारवाड़ आदि राजपूताने के प्रान्त तो आपकी प्रधान विहार भूमि हैं ही साथ में आपने दिल्ली, आगरा कानपुर बम्बई पूना अहमदाबाद लखनऊ आदि दूरवर्ती नगरों तक परिभ्रमण करके वहां की जनता को लाभ पहुंचाया है एवं धर्म का प्रचार किया है।

कानपुर लखनऊ इत्यादि यू पी प्रान्त के नगरों में स्थानकवासियों की संख्या नगण्यसी ही है परन्तु जैन दिवाकरजी म ने वहां भी आपने प्रभावशाली प्रवचनों द्वारा सत्य व अहिंसा धर्म का प्रचार करके शासन का महत्व बढ़ाया। आपके प्रवचनों का इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि कानपुर निवासी लाला फूलचंदजी ने जैन दिवाकरजी म का चातुर्मास कानपुर में करवाने के लिये अत्यधिक आग्रह किया। धर्मप्रेमी लालाजी के आग्रह को मान देकर स १९९४ का चातुर्मास कानपुर में किया। इसके पहले कानपुर में किसी भी स्थानकवासी मुनि का चातुर्मास नहीं हुआ। यह सर्व प्रथम ही अवसर था कि कानपुर में स्थानकवासी जैन साधु का चातुर्मास हुआ। लाला फूलचंदजी सा ने समस्त व्यय अपनी ओर से किया। लालाजी का धर्म प्रेम बड़ा ही सराहनीय है। इस चातुर्मास में दर्शनार्थी यात्रियों के लिये इतना सुन्दर प्रबन्ध लालाजी की ओर से किया गया था कि सब के मुह से ये ही शब्द निकलते थे कि ऐसी सुन्दर व्यवस्था और दर्शनार्थियों का स्वागत अन्यत्र कहीं दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

लालाजी ने अपनी धर्मशाला में चातुर्मास करवाया था। चातुर्मासकाल में जैनदिवाकरजी म के व्याख्यानों में हजारों नर नारियों की भीड़ जमा हो जाती थी। कानपुर जैसे नवीन क्षेत्र में पं मुनि श्री ने अपना ऐसा प्रभाव डाला कि स्थानीय जनता के हृदय में जैन धर्म एवं उसके साधुओं के प्रति गहरी श्रद्धा पैदा होगई।

शासन की प्रभावना के लिये चातुर्मास काल में विविध आयोजन हुए। जैन दिवाकरजी म द्वारा संग्रहीत जिनेन्द्रदेव की पवित्र वाणी का सचित्र सकलन रूप 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' ग्रन्थ के सम्मानार्थ निर्ग्रन्थ-प्रवचन सप्ताह बड़े समारोह के साथ मनाया गया। निर्ग्रन्थ प्रवचन सप्ताह मनाने का आशय अपनी मान प्रतिष्ठा

एवं पूजा नहीं है अपितु जिनेन्द्र देव की वाणी का सम्मान करना ही है। ऐसे आयोजनों से तीर्थंकरों की पवित्र वाणी का प्रचार होता है और सर्व साधारण को यह विदित होता है कि जैन शासननायकों ने दुनिया के कल्याण के लिये कैसा कल्याणकारी मार्ग का प्रदर्शन किया। इस दिनों में निर्ग्रन्थ-प्रवचन' का वाचन एवं विवेचन किया जाता है। जिसे श्रवण कर भव्य आत्माएँ आत्मिक आनन्द के सागर में गोते लगाने लगती हैं। वे भव्यात्मा जीव इसे श्रवण कर आध्यात्मिक मस्ती से झूमने लगते हैं। निर्ग्रन्थ-प्रवचन सप्ताह के अन्तिम दिवस विराट् जुलूस निकाला गया था। इसी चातुर्मास में जैन दिवाकरजी म० की सेवा में एक मुमुक्षु आत्मा की दीक्षा भी बड़े समारोह से हुई। इसी तरह कवि अवसर पर कवि सम्मेलन का भी आयोजन हुआ था। कहने का तात्पर्य यह है कि कानपुर जैसे नवीन क्षेत्र में जहाँ पहले कभी जैन मुनि का चातुर्मास नहीं हुआ-जैन दिवाकरजी ने स्थानकवासी जैनधर्म की नींव दृढ़ की तथा भगवान् महावीर के सिद्धान्तों का प्रचार किया।

इसी तरह लखनऊ में स्थानकवासी का केवल एक ही घर है। जब आप श्री लखनऊ पधारे तब आपका किसी तरह का सत्कार नहीं हुआ लेकिन दूसरे दिन जब आपने व्याख्यान प्रारंभ किया तब दो चार श्वेताम्बर और एक दो भाई दिगम्बर सम्प्रदाय के ही आये परन्तु इसके पश्चात् तो श्रोताओं की संख्या अपने आप बढ़ती गई और हजारों पर पहुंच गई। दिगम्बर सम्प्रदाय की तरफ से व्याख्यान कराये गये और व्याख्यान के अन्त में सात दिन तक उनकी ओर से प्रभावना बाँटी गई। श्रीयुत् अजितप्रसादजी सा जैन एडवोकेट ने आप श्री का एक व्याख्यान करवाया था। आपके व्याख्यानों का वहाँ ऐसा प्रभाव पड़ा कि वहाँ के नरनारी आप श्री से चातुर्मास की विनती करने लगे और हजारों रुपय खर्च करने के लिये तैयार होगये परन्तु कानपुर का चातुर्मास स्वीकृत हो चुकने से वहाँ चातुर्मास की विनती स्वीकृत नहीं हुई। जब जैन दिवाकरजी म का वहाँ से विहार होने लगा तब सैकड़ों नर नारी आपको विदा देने के लिये कोसों तक साथ आये। विचार ने की बात है कि जब आपका पदार्पण हुआ तब तो स्वागतार्थ कोई नहीं आया और जब विहार हुआ तब सैकड़ों स्त्री पुरुष साथ थे! यह है जैन दिवाकरजी म के प्रवचनों का प्रभाव। लखनऊ में जैन दिवाकरजी म ने जैन सिद्धान्तों का अच्छा प्रचार किया और उनका वहाँ काफी अच्छा असर पड़ा। इसी तरह संयुक्तप्रान्त के अन्य कतिपय ग्रामों एवं नगरों में घूम घूम कर आपने अपने धर्म का प्रचार किया।

कानपुर के चातुर्मास के बाद जब आप इटावा पधारे तो यहाँ कलकत्ता का डेप्युटेशन आप श्री को कलकत्ता पधारने के लिये विनती करने के लिए आया। लेकिन दूरी की अधिकता के कारण उधर पधारने की स्वीकृति आप न दे सके। तत्पश्चात् आप धर्म प्रचार करते हुए आगरा पधारे। यहाँ दिल्ली का श्रीसंघ चातु

मांस की विनती करने के लिये आया। दिल्ली वालों का यह कहना हुआ कि ये पहले कभी किसी मुनिराज के पास डेप्युटेशन लेकर विनती मनवाने के लिये नहीं गये। आप श्री की सेवा में ही इतनी अधिक संख्या में उपस्थित हुए हैं। अतएव हमारे आग्रह को मान देना चाहिए। दिल्ली संघ का आग्रह होने से संवत् १९६५ का चातुर्मास दिल्ली में हुआ।

भारत की राजधानी दिल्ली में जब आप श्री का चातुर्मास था तब आपकी सेवा में एक जर्मन महोदय कुछ प्रश्नों को लेकर उपस्थित हुए। ये सज्जन अंग्रेजी में बोलते थे और प्रोफेसर चूर्णचंदजी सा दुभाषिये का काम करते। ये जर्मन महाशय की बात का हिन्दी में अनुवाद करके महाराज श्री को कहते और महाराज श्री जो फर्माते उनका अंग्रेजी अनुवाद करके उन महाशय को सुनाते। महाराज श्री के उत्तर से आगन्तुक महोदय को बड़ा संतोष हुआ। आगन्तुक महोदय एवं महाराज श्री के बीच जो प्रश्नोत्तर एवं वार्तालाप हुआ उसका पूरा विवरण अलग पुस्तक रूप में प्रकाशित हुआ है अतएव यहां उसकी चर्चा करके पृष्ठों का कलेवर बढ़ाना उचित नहीं।

दिल्ली के चातुर्मास में हिन्दूकुल सूर्य हिज हाइनेस महाराजाधिराज महाराणा साहब श्रीमान् सर भूपालसिंहजी साहेब बहादुर के० सी० आई० ई० ऑफ उदयपुर ने जैन दिवाकरजी म सा के व्याख्यान-श्रवण का लाभ लिया तथा चातुर्मास उदयपुर में करने के लिये अत्यधिक आग्रह किया। इस पर जैन दिवाकरजी म ने फर्माया कि साम्प्रदायिक विधिविधान के अनुसार फाल्गुन मास के पहले कहीं की भी चातुर्मास की विनती स्वीकार नहीं कर सकते अतएव फाल्गुन के बाद जैसा अवसर होगा वैसा किया जायगा। इसपर फाल्गुन महीने के पश्चात् पुनः उदयपुर महाराणा साहेब ने अपने विश्वस्त राजकर्मचारी को भेजकर चातुर्मास का आग्रह करवाया। अतएव सं १९९६ का चातुर्मास उदयपुर का स्वीकार किया गया।

यहां यह बताने का प्रयोजन इतना ही है कि जैन दिवाकरजी म का प्रभाव नरेशों पर भी कितना अधिक है। नरेशों के राजमहलों से लेकर गरीबों के झोपड़ों तक जैन दिवाकरजी म ने जैनधर्म के सिद्धान्तों का प्रचार किया और अहिंसा तथा नैतिक कर्तव्यों की ओर जन समुदाय का ध्यान आकृष्ट किया।

—नरेशोंपर आपका पुण्य प्रभाव—

वर्तमान जैनधर्म के प्रचारकों में से राजा महाराजाओं पर जितना जैन दिवाकरजी म का प्रभाव है उतना अन्य किसी का भी नहीं यह निस्संदेह और बिना किसी अतिशयोक्ति के कहा जा सकता है। आप कुछ ऐसे ही संस्कार लेकर अवतरित हुए हैं कि जो कोई व्यक्ति एक बार आपके सम्पर्क में आजाता है वह

आपकी भव्य मुखाकृति पर अद्भुत तेज से चौंधिया जाता है और सदा के लिए आपका अनन्य उपासक हो जाता है। आपके मुख मण्डल पर ऐसी आभा एवं प्रसन्नता नृत्य करती रहती है कि बड़े बड़े व्यक्ति भी सहज ही आपकी ओर आकर्षित हो जाते हैं। आपकी भव्याकृति के साथ ही साथ आपकी सरल प्रकृति भी दर्शक को मोहित किये बिना नहीं रहती। भव्याकृति सरल प्रकृति एवं वाणी का प्रभावोत्पादक अतिशय ये ही सब कारण हैं कि बड़े २ नरेश एवं महाराजा भी आपके ऊपर अत्यन्त श्रद्धा रखते हैं। अपने इस पुण्य—प्रभाव के कारण जैन दिवाकरजी महाराज सा ने राजमहलों तक अहिंसा का संदेश पहुँचाया और अनेक राजाओं महाराजाओं तथा ठाकुरों को प्रतिबोध देकर हिंसा के पाप से उन्हें छुड़ाया और इस प्रकार असंख्य संमस्त प्राणियों को अभयदान दिलाने में आप मूल सहायभूत हुए।

जिन जिन नरेशों एवं महाराजाधिराजों ने आपकी व्याख्यान–सुधा का आस्वादन किया और फलस्वरूप जो धर्म का प्रचार हुआ उसका संक्षिप्त विवरण देना यहां अत्यावश्यक है। वह इस प्रकार है:–

हिन्दूकुलावतंस महाराजाधिराज महाराणा फतेहसिंहजी साहब

भगवान् महावीर के सत्य एवं अहिंसा के सिद्धान्त को ग्रामानुग्राम प्रचारित करते हुए, उदयपुर श्रीसंघ की अत्यन्त आग्रह भरी प्रार्थना को मान देकर जैन दिवाकरजी म. ११.१२-१९२४ के दिवस उदयपुर शहर में पधारे। प. मुनि महाराज श्री के स्वागतार्थ नरनारियों का विशाल समूह जयघोषण से गगनमण्डल को शब्दायमान कर रहा था। मेवाड़ की पाटनगरी में जैन दिवाकरजी म. के प्रवचन होने लगे। धर्मरूपी रंगभूमि के महारथी श्री जैन दिवाकरजी म. के प्रवचनों की गम्भीर गर्जना से पापियों के दिल दहल उठे। यह आप श्री का अतिशय पुण्य प्रभाव है कि जहां आप विराजमान होते हैं वहां धर्म की पवित्र धारा अस्खलित रूप से प्रवाहित होने लगती है। साथ ही साथ दया का महासागर कल्लोल करता हुआ तरंगित होने लगता है। उदयपुर में आपके प्रवचनों की धूम रही। सर्व धर्मानुयायी जैन वैष्णव मुस्लिम ईसाई आपके भाषणों को अत्यन्त रस के साथ श्रवण करने लगे। सर्वत्र शहर में आपके व्याख्यानों की चहल पहल थी। जैन दिवाकरजी म. की यह प्रशंसा हिन्दूकुलावतंस हिज हायनेस महाराजाधिराज महाराणा साहेब श्रीमान् सर फतेहसिंहजी सा बहादुर जी सी आई ई जी सी वी ओ महाराणा ऑफ उदयपुर तथा उनके सुपुत्र स्वनामधन्य श्रीमान् युवराज महाराजकुंवार सा सर भूपालसिंहजी बहादुर. के सी आई ई के कानों तक पहुंची।

हिन्दु गौरव के आदर्श छत्रपति मेवाड़ाधिपति महाराणा सा ने सर्व श्री फतेलालजी महोदय को सूचना की कि 'महाराज श्री का शुभ पदार्पण महलों में

हिन्दुआ सूर्य स्व० महाराना श्रीफतहसिंहजी साहेब

उदयपुर (मेवाड़)

आपने—श्रीजैनदिवाकरजी म. के उपदेशों से प्रभावित हो

हमेशा के लिए ४ अगते पलवाने के पट्टे लिख दिये।

हिन्दुआ सूर्य महाराना श्री भूपालसिंहजी साहेब
उदयपुर (मेवाड़)

आपने—श्रीजैनदिवाकरजी म. के उपदेशों से प्रसन्न हो हमेशा के लिए ४ अगते पलवाने के पट्टे लिख दिए।

करवाने की व्यवस्था करो। श्रीयुत् फतहलालजी के द्वारा महाराणा सा के संदेश के मिलने पर आपने शिष्यमण्डल सहित "शिवनिवास" नामक राजमहल में जैन दिवाकरजी म का पदार्पण हुआ श्रीमन्त महाराणा साहब ने विनय एवं भक्तिपूर्वक महाराज श्री का स्वागत किया। धर्मनायक एवं जननायक का पवित्र सम्मिलन हुआ।

प्रारम्भिक शिष्टाचार के पश्चात् जैन दिवाकरजी म ने प्रबोध देना आरम्भ किया। महाराज श्री ने उपदेश प्रदान करते हुए फर्माया कि "हे मेवाड़ाधिपते राजन्! यह समस्त संसार पुण्य एवं पाप की लीलामात्र है। अच्छे कर्म करना पुण्य है और बुरे कर्म करना पाप है। दुनिया में जो कुछ सुख साधन हैं ये पुण्य हैं और बुरे कर्म करना पाप है। दुनिया में जो कुछ सुख साधन हैं ये पुण्य के फल हैं और जो अनिष्ट है वह पाप का परिणाम है। आपने अपने पूर्वभव में अनेक पुण्यकर्मों का उपार्जन किया है इसीलिए आप इतने विशाल राज्य के स्वामी बन सांसारिक सुखों का उपभोग कर रहे हैं। अनेक पूर्व संचित पुण्यों के एकत्रित होने पर आपको और हमको यह मनुष्यजन्म प्राप्त हुआ है। संसार में छोटे २ कीड़ों और जन्तुओं की असंख्य राशि दृष्टिगोचर होती है। जैन शास्त्रों ने चौरासी लाख जीव योनियां बताई हैं। इन चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करते जब पुण्य अत्यन्त प्रबल होता है तब यह देव दुर्लभ मानव शरीर प्राप्त होता है। यह मानव जीवन चिन्तामणि रत्न के समान अनमोल है। इसी शरीर से परमात्मपद की प्राप्ति होसकती है। देवता भी इसे प्राप्त करने के लिए लालायित रहते हैं। ऐसा अनमोल रत्न सहसा आपके हाथ लग गया है अतएव इसका यथेष्ट लाभ उठाना चाहिए।

हे राजन! मनुष्य जन्म आर्यक्षेत्र उत्तम कुल दीर्घायु पञ्चेन्द्रियों की सकलता आरोग्य उपदेशश्रुति श्रद्धा तथा तदनुसार आचरण की योग्यता इतनी बातों का संयोग मिलना अति कठिन है आपने पूर्व जन्म में अनेक शुभकार्य किये हैं इसलिये आपको ये साधन उपलब्ध हुए हैं। इसलिये आपको परभव के लिये भी विशेष पुण्योपार्जन करना चाहिये।

आप सूर्यवंशी हैं। यह सूर्यवंश भगवान् ऋषभदेव से चला आ रहा है इस वंश के अनेकों नरेशों ने अपने पराक्रम के द्वारा परमपद प्राप्त किया है। अब आप भी चतुर्थाश्रम की वय में हैं। इस आश्रम में प्रभु भजन एवं आत्म चिन्तन के लिए उपयुक्त बनें। दीन दुखियों के प्रति दया की भावना प्रदर्शित कीजिए।

हे प्रजावत्सल नरेन्द्र! प्रजा का न्याय से पालन करना आपका कर्त्तव्य है प्रजा को अपने पुत्र के समान समझकर न्याय नीति से उसका पालन करना राजाओं का धर्म है। संसार में न्याय का प्रचलन करना नीति की रक्षा करना नरेन्द्रों का कर्त्तव्य है। राजा इसीलिए राजदण्ड को धारण करता है हमारा उद्देश्य भी यही है कि हम जनता को पाप से बचावें। अकर्तव्य और अधर्म से

मनुष्यों को बचाने के लिये ही हमारा उपदेश होता है। इस नाते से आपका और हमारा एक काम है। अन्तर इतना है कि हमारा उपदेश प्रेम से होता है और आपका कार्य भय से। आप यदि चाहें तो अपार सुधार कर सकते हैं। मैं आपसे इतना कहना चाहता हूँ कि आप बड़े प्रेम के साथ अपनी आज्ञा का पालन करें। दीन दुखियों के साथ करुणा और प्रेम का व्यवहार करें। हम साधु हैं। हमें किसी तरह की धन दौलत की इच्छा नहीं है। हम आपसे यही चाहते हैं कि आप अपने राज्य में अहिंसा धर्म का जितना पालन करा सकें उतना पालन करावें। आपके राज्य में मूक पशुओं का वध नहीं होना चाहिए। 'इत्यादि"।

इस आशय का जैन दिवाकरजी महाराज ने महाराणा साहब को प्रतिबोध दिया। इसे श्रवण कर महाराणा साहब अत्यन्त प्रसन्न हुए और उत्तर में निवेदन किया कि-आप श्री ने मुझे उपदेश सुनाकर बड़ी कृपा की है। आपके उपदेश से मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है और मैं चाहता हूँ कि आपके उपदेश के अनुसार कार्य करने की मुझमें शक्ति पैदा हो। आपकी जीवदया सम्बन्धी शिक्षा को सुनकर मुझे हर्ष हुआ है। इसके बाद महाराणा श्री ने महाराज श्री के पधारने और विहार करने के दिन सारे शहर में अगता रखे जाने की राज्याज्ञा घोषित की। इस प्रकार महाराणा साहब को उपदेश प्रदान करने से हजारों जीवों को अभयदान दिलवाने में जैन दिवाकरजी म० सफल हुए।

तत्पश्चात् संवत् १९८८ के उदयपुर चातुर्मास में दूसरी बार महाराणा सा० का संदेश श्रीयुत मदनसिंहजी सा० की मार्फत मिला कि यदि महाराज श्री यहां पधार कर उपदेश प्रदान करें तो ठीक हो। इस प्रकार संदेश मिलने पर महाराज श्री अपनी शिष्य मण्डली सहित शिवनिवास राजमहल में पधारे। श्रीमन्त महाराणा सा ने अत्यन्त विनय पूर्वक मुनि श्री का स्वागत किया।

तत्पश्चात मुनि श्री ने उपदेश प्रदान करते हुए अठारह पापों का विवेचन किया। महाराणा श्री बड़ी तन्मयता के साथ उपदेश श्रवण करते थे। इसका प्रमाण यह है कि वे बीच बीच में महाराज श्री से प्रश्न भी करते जाते थे। पुण्य एवं पाप के सुन्दर एवं सारगर्भित विवेचन को सुनकर महाराणा सा० अत्यन्त प्रसन्न हुए।

महाराज श्री के कथन से महाराणा सा ने चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (महावीर जयन्ती) के दिन सारे शहर में जीवहिंसा न करने की घोषणा करवादी। हर महावीर जयन्ती के दिन तब से उदयपुर में अगता पाला जाता है।

उपदेश समाप्ति पर जब महाराज श्री अपने स्थान पर पधारने लगे तब महाराणा सा० ने फर्माया कि धूप में आपने पधारने की कृपा की आपको कष्ट हुआ होगा"। इस पर महाराज श्री ने फर्माया कि शीत अथवा उष्ण परिषह को सहन करके भी उपकार करना हमारा कर्तव्य है। इस प्रकार महाराणा सा० को प्रति

बोध देकर जैन दिवाकरजी महाराज साहेब अपने स्थान पर पधारे। इस पर से सभी सुज्ञ पाठक समझ सकते हैं कि महाराज श्री का प्रभाव हिन्दूकुल सूर्य महाराणा सा० पर कितना पड़ा और इससे कितने प्राणियों को अभयदान मिला।

हिजहाइनेस महाराजाधिराज महाराणा भूपालसिंहजी सा०, उदयपुर

वर्तमान मेवाड़ेश्वर हिन्दुकुल दिवाकर महाराजाधिराज महाराणा श्रीमान् भूपालसिंहजी सा० बहादुर के सी० आई ई० आफ उदयपुर, जैन दिवाकरजी महाराज सा० के परम भक्त हैं। जैन दिवाकरजी म० के प्रति आपकी अतिशय श्रद्धा तथा बड़ा अनुराग है। जब आप युवराज थे तभी से आपका महाराज श्री के प्रति बड़ा भारी आकर्षण है। जब ११-१२-१९२५ को महाराज श्री का उदयपुर में पदार्पण हुआ था और वहां अपने मुखारविन्द से उपदेशामृत की अमोघ धारा बरसा रहे थे तब महाराज कुमार साहेब ने ड्योढ़ी वाले महताजी सा० स्वनामधन्य श्रीमान् मदनसिंहजी महोदय और कोठारीजी साहेब श्रीमान् रंगलालजी सा तथा उनके सुपुत्र कालूलालजी सा० इत्यादि उच्च पदाधिकारियों द्वारा महाराज सा० की सेवा में संदेशा भिजवाया कि "महाराज श्री समोर राजभवन में पधार कर दर्शनों का लाभ दें"। यह संदेशा मिलने पर ता १९-१-२६ को महाराज श्री अपने शिष्यमंडल के साथ सज्जन निवास उद्यान के समोर राजमहल में पधारे।

जैसे प्राचीनकाल के नरेश ऋषि महर्षियों के आगमन होनेपर अभ्युत्थान नमस्कार आदि द्वारा उनका सन्मान करते थे। इसी तरह युवराज महाराज कुमार साहेब ने भी श्रद्धा एवं भक्ति के साथ महाराज श्री का सत्कार किया। योग्य आसन पर आसीन होने के बाद तथा प्रारम्भिक शिष्टाचार की बातों के बाद महाराज श्री ने उपदेश प्रदान करना आरम्भ किया। महाराज श्री ने अपनी लाक्षणिक शैली से राज धर्म प्रजा के प्रति राजा का कर्त्तव्य अहिंसा जीवदया अधिकार का उपयोग आदि उपविषयों को मिलाकर कर्त्तव्य पालन के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर उपदेश प्रदान किया। प्रजा के सुख दुख की जानकारी रखने के लिए कोई सुन्दर योजना करने के लिए भी महाराज श्री ने फर्माया। अपने व्याख्यान के उपसंहार में महाराज श्री ने यह फर्माया कि हम जो उपदेश करते हैं वह एकान्त निस्वार्थ भाव से ही करते हैं। हमें किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं है। हम यदि चाहते हैं तो केवल यही कि आपके राज्य में अहिंसा का अधिक से अधिक ख्याल रखा जावे। आप जैसे नरकेशरी के आश्रय में प्राणी मात्र को अभय दान देने का संदेश मिलना चाहिए। इसलिए हम यह चाहते हैं कि आप जीव-दया का कोई महत्वपूर्ण काम करें।

श्री महाराजकुमार सा का मन गुरुदेव के अति मननीय एवं मनोरंजक भाषण को सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। उन्होंने महाराज श्री का भेंट करने के लिए सारे शहर में जीवदया के पालन की समय में २१७१७ की राज्याज्ञा दी। इस

प्रकार महाराज कुमार सा ने जीवदया के पट्टे लिखकर गुरुदेव को भेंट किये और अपनी दयालुता का परिचय दिया।

जब गुरुदेव का सं १६८२ का चातुर्मास उदयपुर में था तब आश्विन कृष्णा पञ्चमी को पुनः महाराजकुमार सा का संवाद मिला कि 'महाराज श्री समोर बाग में पधार कर मुझे आभारी करें'। इस प्रकार श्रीमान् मदनसिंहजी सा के मार्फत संदेश मिलने पर महाराज श्री समोर बाग में पधारे। युवराज महाराज कुमार सा ने विनय एवं भक्ति पूर्वक महाराज श्री का स्वागत किया। प्रारम्भिक वार्तालाप के बाद महाराज श्री ने उपदेश—प्रदान किया।

माणुस्स विग्गहं लद्धुं सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडि वज्जन्ति तवं खंति महिंसय॥

इस उत्तराध्ययन सूत्र की गाथा का महाराज श्री ने बड़ी रोचक शैली से प्रतिपादन किया। धर्म श्रवण के अवसर की दुर्लभता के प्रतिपादन के पश्चात् प्राणी मात्र पर दया दृष्टि रखने का मनुष्यमात्र का कर्त्तव्य है' इस विषय पर शास्त्रीय गाथा हेतु एवं मनोरंजक परन्तु भावगाम्भीर्य युक्त दृष्टान्तों के द्वारा लगभग १ घंटे तक प्रवचन किया। व्याख्यान को श्रवण करते २ महाराज कुमार सा तथा अन्य राजकर्मचारी हर्षोल्लास से मग्न होकर झूमते थे। महाराज श्री के व्याख्यान को श्रवण कर महाराज कुमार सा ने फरमाया कि आपके वचनों को सुनते सुनते कभी तृप्ति आती ही नहीं अतएव फिर कभी और अवसर होने पर कृपा करावेगा।

तत्पश्चात् महाराज श्री ने फर्माया कि कल श्रीमन्त महाराणा सा ने उपदेश श्रवण किया था और उन्होंने सदा के लिये चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (महावीर जयन्ती) के दिन जीवदया प्रति पालन का हुकम निकालने का फर्माया है। आप श्रीमान् भी ऐसे गुणी पिता के गुण सम्पन्न पुत्र हैं अतएव यदि आप पौष कृष्ण १० (पार्श्वनाथ-जयन्ती) को सारे शहर में जीवदया के पालन की राज्याज्ञा घोषित कर सकें तो बहुत उपकार का काम है। महाराज श्री के इन शब्दों को श्रवणकर युवराज साहब ने फर्माया कि इसमें क्या बड़ी बात है। मैं उक्त तिथि पर अगता पालन का फरमान निकलवा देता हूँ।

तत्पश्चात् महाराज श्री अपने निवास स्थान पर पधारे। ये यह युवराज कुमार के साथ महाराज श्री की दूसरी भेंट हुई।

इसके बाद जब उदयपुर से विहार करने का समय आया उसके एक दिन पूर्व अर्थात् कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा को पुनः महाराज श्री के पास महाराणा सा का संदेश आया। महाराज श्री अपनी शिष्यमण्डली सहित नियतिवास में पधारे और अपने उपदेशामृत से महाराणा सा को पावन किये। महाराणा सा को उपदेश प्रदान करके महाराज श्री लौट ही रहे थे कि युवराज कुमार सा का संदेश मिला

स्व० महाराजा श्रीसज्जनसिंहजी साहेब, रतलाम

आप—श्री जैनदिवाकरजी महाराज का उपदेश श्रवण कर बड़े प्रसन्न हुए।

महाराजा श्रीजयसिंहजी साहेब, अलवर

आपने—श्रीजैनदिवाकरजी महाराज का व्याख्यान श्रवण कर उपदेश की बड़ी सराहना की।
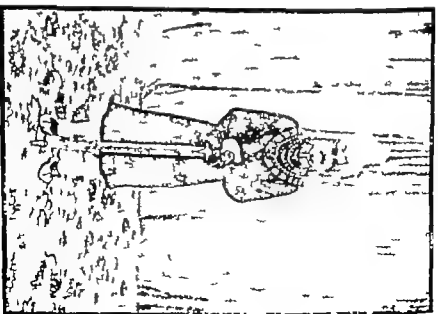
महाराज श्री 'सूर्यप्रकाश' महल में पधारने की कृपा करें। महाराज श्री यहां पधारे और महाराज कुमार सा० को पुनः प्रथम व्याख्यान वाणि से आप्लावित किया।

महाराज कुमार सा० ने कहा कि आप तो अब पधार रहे हैं। लेकिन फिर से यहां पधारने की कृपा करियेगा। महाराज श्री यहां से अपने स्थान पर पधारे।

युवराज कुमार सा० पर महाराज श्री का कैसा प्रभाव है इसका एक और उदाहरण यहां अंकित करना उचित ही है। वह इस प्रकार है—

उदयपुर से विहार करने के पश्चात् मुनि मण्डल में से एक मुनिजी की तबियत अस्वस्थ होगई अतएव मगसर सुदि के दिन पुनः महाराज श्री को उदयपुर पधारना पड़ा। महाराज श्री शहर से बाहर श्रीमान् मेहता जी सा० श्री लक्ष्मण सिंहजी सा० की धर्मशाला में विराजे। जब ये समाचार युवराज कुमार सा० ने सुने तो उन्होंने उत्तर दिया कि "महाराज श्री बाहर ही क्यों विराज गये। शहर में क्यों नहीं पधारे? तब उपस्थित महाशय ने उत्तर दिया कि 'हुजूर! जो महाराज श्री शहर में पधारे तो पुनः आते और जाते समय आपके फर्मान के अनुसार सारे शहर में अगता रखे जाने का सवाल है। उसपर राजकुमार सा० ने फर्माया कि इसमें क्या बात है। पुनः दो दिन अगता रखा जावे। इसमें कोई हरकत नहीं।

पाठकों! इन शब्दों में कितना माधुर्य एवं प्रेम टपक रहा है। ये शब्द क्या इस बात के प्रमाण नहीं है कि महाराज श्री का कैसा पुण्यप्रभाव महाराज कुमार सा० के ऊपर है? सचमुच महाराणा सा० ने ये शब्द कहकर अपनी विशालता हृदय की उदारता धर्म निष्ठा एवं साधुसेवा के प्रति शुद्ध प्रेम का प्रदर्शन किया है। इतना उच्च अधिकार तथा विशाल राज्य के स्वामी होने पर भी महाराज श्री के प्रति जो आदर्श हार्दिक श्रद्धा है वह सचमुच प्रशंसनीय है। धन्य है जैन दिवाकरजी म० और धन्य है उनका पुण्यप्रभाव !!

इतना ही नहीं महाराणा बनने के पश्चात् आपने सं० १९९५ में दिल्ली में महाराज श्री के व्याख्यान श्रवण का लाभ लिया तथा चातुर्मास उदयपुर करने के लिये प्रार्थना की। इसके पश्चात् जब महाराज श्री किशनगढ़ पधारे तब आपने विश्वस्त राजकर्मचारी को भेजकर उदयपुर में चातुर्मास करने की प्रार्थना की थी। महाराज श्री ने यह प्रार्थना मंजूर की। वहां से विहार कर अजमेर होते हुए महाराज श्री ब्यावर पधारे। ब्यावर के श्रीसंघ ने अपने यहां चातुर्मास कराना चाहा अतएव उदयपुर महाराणा सा० की सेवा में पत्र भेजा कि ग्रीष्म ऋतु आ गई है अतएव आप फरमावें तो जैन दिवाकरजी म० का चातुर्मास ब्यावर में कराने की हमारी उत्कट अभिलाषा है। इस पर महाराणा सा० ने उत्तर दिया कि चातुर्मास तो उदयपुर ही होना चाहिए। जैन दिवाकरजी म० महाराणा साहब की प्रार्थना

को मान देकर उदयपुर पधारे।

उक्त बात से महाराणा साहब का कितना प्रेम झलकता है। उन्होंने जैन दिवाकरजी म० की चातुर्मास की विनती करके अपने उत्कट धर्म प्रेम का परिचय दिया है। महाराणा सा० की ही विशेष प्रार्थना से सं १९९९ का चातुर्मास उदयपुर में हुआ। महाराणा सा ने अनेक बार धर्मोपदेश श्रवण किया जिसके फलस्वरूप अनेक उपकार हुए। महाराणा सा० ने इस चातुर्मास में यात्रियों के स्वागत के लिये १०००) एक हजार रुपये श्री को भेंट किये।

उक्त सभी हकीगतों से यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि वर्तमान मेवपाडे श्वर महाराणा सा० जैन दिवाकरजी म० के प्रति कैसी श्रद्धा और सद्भावना रखते हैं। जैन दिवाकरजी म० का पुण्यप्रभाव कैसा अनुपम है और साथ ही कैसा आदर्श है महाराणा सा० का धर्मप्रेम!

हिजहाईनेस महाराजा सर मल्हारराव बाबा साहेब पवार,देवास २

संवत् ११७८ के चातुर्मास के पश्चात् इन्दौर होते हुए जैन दिवाकर म० सा० का देवास में पदार्पण हुआ। यहां दरबार हाईस्कूल में आपके प्रभावशाली प्रवचन हुए। एक दिन श्रीमान् देवास नरेश सर मल्हारराव बाबा साहेब के सी० एस आई व्याख्यान में पधारे। श्रीमंत महाराजा सा० की बाल्यकाल से धार्मिक शिक्षा की ओर अभिरुचि है। आपको धर्म विषय का अच्छा ज्ञान भी है। जब महाराजा सा जैन दिवाकरजी म० सा० के व्याख्यान में पधारे तब आपने जिज्ञासा बुद्धि से कतिपय प्रश्न किये। महाराज श्री ने यथायत् उत्तर प्रदान किया तब से जैन दिवाकरजी म० के प्रति आपका बड़ा भारी अनुराग एवं भक्तिभाव हो गया। जब कभी महाराज श्री देवास पधारते हैं तब श्रीमंत महाराजा सा अवश्य मेव व्याख्यान श्रवण का लाभ लेते हैं।

आप प्रायः जैन दिवाकरजी म के निवासस्थानपर भी पधारते और उपयोगी विषयों पर चर्चा करते हैं।

एक दिन श्रीमान् महाराजा सा ने महाराज श्री से प्रार्थना की कि आप कुछ दिन यहां विराजकर जनता का अज्ञानान्धकार दूर करने की कृपा करें। सरकार की विनती को स्वीकार कर महाराज श्री यहां विराजे और कतिपय दिवस पर्यन्त आपके तुकोजीगंज के मैदान में व्याख्यान होने लगे। श्रीमान् सर तुकोजीराव बापू साहिब महाराजा पंवार के० सी एस आई० तथा अन्य दीवान राय बहादुर नारायणप्रसादजी इत्यादि प्रतिष्ठित महानुभावों ने व्याख्यान श्रवण किये। मुसलमान भाईयों ने भी प्रभावना बांटी। सरकार के अनुरोध से घन्टाघर तथा राजवाड़े में महाराज श्री के व्याख्यान हुए। सरकार ने सर्वसाधारण को बड़ा दान दिया। राजवाड़े के व्याख्यान के दिन महाराजा सा० की तरफ से पेड़े की प्रभावना बांटी गई। महाराजा सा० ने आहारादि ग्रहण करने के लिये महाराज

श्री से प्रार्थना की। सरकार ने जैनधर्म की क्रिया के अनुसार आहार-दान किया। आप महाराज श्री को पहुँचाने के लिये खुले पांव राजवाड़े के दरवाजे तक पधारे।

श्रीमत महाराजा महाराराव साहब बड़े आदर्श नरेश हैं। आपमें कतिपय असाधारण आदर्श गुण हैं। वर्तमान नरेशों में शिकार का शौक विशेष पाया जाता है परन्तु आप इसके अपवाद हैं आप मांस भक्षण नहीं करते, शिकार नहीं खेलते तथा आपने राज्यस्थ बिन्ध्यवासिनी देवी के मन्दिर में जहां वार्षिक लगभग ५० जीवों का वध हुआ करता था उसे सर्वथा बंद करके जीवदया का अनुपम उदाहरण पेश किया है। धन्य है ऐसे आदर्श नरेश को जिन्होंने मूक एवं भोले प्राणियों पर दया करके अन्य नरेशों के लिये आदर्श उपस्थित किया है। आप जैन दिवाकरजी म के परम भक्त हैं।

नवाब साहेब सर शेर मुहम्मदखांजी बहादुर, पालनपुर

सं १९७२ का चातुर्मास जैन दिवाकरजी म सा ने पालनपुर में किया। व्याख्यान में सर्वसाधारण लोग आते थे। महाराज श्री के व्याख्यानों की प्रशंसा श्रीमान् नवाब साहेब सर शेर मुहम्मद खां साहब बहादुर के कानों तक पहुँची अतः वे एक हाफिज और एक पंडित को लेकर व्याख्यान के समय दर्शन के लिए पधारे। महाराज श्री के सारगर्भित व्याख्यान को सुनकर बड़े प्रमुदित हुए। नवाब सा अपने हृदय की भक्ति को प्रकट करते हुए बोले कि मेरा बड़ा भारी सौभाग्य है जो आप जैसे महात्मा के दर्शन हुए और आपकी पवित्र वाणी सुनने का मुझे सुयोग मिला। व्याख्यान के पश्चात् नवाब सा ने महाराजश्री के साथ कुछ तात्त्विक चर्चा की जिसके परिणाम स्वरूप नवाब सा और अधिक प्रमुदित हुए। वे लगभग २-२॥ घंटे तक महाराज श्री की सेवा में ठहरे। जाते समय नवाब सा की दृष्टि दान खाते की लगी हुई पेटी पर पड़ी और उन्होंने उसी समय चालीस रुपये उस पेटी में डाल दिये। उसके पश्चात् भी नवाब सा कई बार महाराज श्री के समाचार मंगवाया करते और व्याख्यान के सम्बन्ध में पूछते रहते थे। आपकी इच्छा तो ऐसी थी कि हमेशा व्याख्यान सुना जाय परन्तु वृद्धावस्था एवं अशक्ति के कारण वे ऐसा न कर सके। इसके पश्चात् वे एक बार और व्याख्यान में पधारे और उसदिन खूब उपकार हुआ।

शीतकाल प्रारम्भ हो गया था। थोड़ी थोड़ी सरदी पड़ने लगी थी। श्रीमान् नवाब सा ने महाराज श्री को देने के लिए दो बहुमूल्य दुशाले मंगवाये और अपने कर्मचारी मथा भाइ से बोले कि—ये दुशाले महाराजा श्री

को भेंट करें तो कैसा हो ? मथा भाई ने कहा महाराज श्री दुशाले नहीं लेते क्योंकि वे परिग्रह के त्यागी हैं। यदि वे बहुमूल्य दुशाले लेते होते तो हम ही क्यों न उनको भेंट देते ? तब नवाब सा ने पुनः प्रश्न किया कि 'तो महाराज श्री की क्या भक्ति करें' । मथा भाई ने कहा कि 'दया एवं परोपकार में लगा देना ही महाराज सा की सच्ची भक्ति है ।

उक्त प्रसंग के उद्धरण से नवाब सा के हृदय में महाराज सा के प्रति कैसी भक्ति है इसकी अपने आप झाँकी मिल जाती है। नवाब सा ने अपने सारे इलाके में राजकर्मचारियों को सूचना कर दी थी कि महाराज सा यहाँ पधारें तो उनकी सेवा में जरा भी त्रुटि न हो। चातुर्मास के पश्चात् विहार करने पर मार्ग में नवाब सा के दामाद श्री जबरदस्तखांजी साहेब ने महाराज सा के दर्शन किये और उपदेश श्रवण करके कई जीवों पर गोली न चलाने की प्रतिज्ञा की।

पालनपुर के नवाब सा जैन दिवाकरजी म के उपदेशों से कैसे प्रभावित हुए ! यह ऊपर स्पष्ट बताया जा चुका है।

—राजा अमरसिंहजी साहब, बनेड़ा—

सं १९८१ के प्रारम्भ में महाराज श्री बनेड़ा (मेवाड़) पधारे। यह राज्य उदयपुर में शाहपुर से उत्तर पूर्व में स्थित है। महाराज श्री के व्याख्यान की कीर्ति सुन कर यहां के राजा श्रीमान् अमरसिंहजी सा भी व्याख्यान में पधारे व्याख्यान सुन कर आपने महाराज श्री के शुभागमन को अपना सौभाग्य समझा तथा उपदेश शैली की प्रशंसा करते हुए पुनः श्रवण करने की इच्छा प्रदर्शित की। दूसरे दिन पुनः आपने व्याख्यान श्रवण का लाभ लिया और तीसरे दिन का व्याख्यान नजर बाग में कराने के लिए विनती की ताकि राजमहिलाएं भी आपकी पवित्र वाणी का लाभ ले सकें। राजा साहब की विनती के अनुसार तीसरा व्याख्यान नजर बाग में में हुआ। सर्वसाधारण जनता भी वहां उपस्थित हुई थी राजा साहब की ओर से दाख एवं बादाम की प्रभावना वितरित की गई।

मध्याह्न के समय पुनः राजा सा महाराज श्री की सेवा में पधारे। महाराजा सा को शिक्षा से बहुत प्रेम है। आपने अपने राज्य में शिक्षा की समुचित व्यवस्था कर रखी है। संस्कृत साहित्य की वृद्धि के लिये एक मुनिकुलब्रह्मचर्याश्रम भी स्थापित किया है। इससे मालूम होजाता है कि राजा सा को शिक्षा का कितना शौक है। आपकी शिक्षा के प्रति अभिरुचि है इसका कारण यह है कि आप स्वयं शिक्षित हैं। महाराज श्री की सेवा में पधारकर आपने कई प्रश्नोत्तर किये तथा कतिपय विषयों पर धर्म-चर्चा हुई।

राजा साहब ने यह प्रश्न किया कि-कतिपय यूरोपीय विद्वान यह कहते हैं

कि जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा है। क्या यह बात ठीक है? इस प्रश्न के उत्तर में महाराज श्री ने फरमाया कि जैन धर्म एक स्वतन्त्र एवं प्राचीन धर्म है। यह किसी धर्म विशेष की शाखा या रूपान्तर नहीं है। यह अनादिकालीन है। तदपि इस अवसर्पिणी काल के मुख्य प्रथमावतार श्री ऋषभदेव हुए हैं जिनका समय करोड़ों वर्ष पूर्व का है आपने वेद में भागवत आदि के प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों को इस विषय में भ्रान्ति है इसका कारण यह है कि उन्होंने सत्य जैनधर्म का उसके असली ग्रन्थों के आधार से अध्ययन नहीं किया। अब अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि जैनधर्म एक मूलधर्म है और यह प्राचीन धर्म है। डा० जकोबी साहब ने यह भलीभांति सिद्ध कर दिया है। महाराज श्री के ऐसे पुष्ट प्रमाणों से युक्त उत्तर को सुनकर राजा साहब की शंका दूर हुई।

इसके पश्चात् हिंसा अहिंसा अहिंसा की व्यावहारिकता जैनमुनियों की अहिंसकता इत्यादि विषयों पर प्रश्नोत्तर हुए। प्रसंगवश महाराज श्री ने महासती चन्दनबाला का वृत्तांत अत्यन्त रोचक शब्दों में सुनाया तथा राजा श्रेणिक एवं अनाथी मुनि के संवाद को लेकर अनाथ सनाथ की बड़ी भावपूर्ण व्याख्या की। इसको सुनकर राजा सा० को बड़ी प्रसन्नता हुई और वे बोले कि 'आप से बात चीत करके बड़ी प्रसन्नता हुई। मेरा बड़ा सौभाग्य है जो आप जैसे महात्मा के दर्शन हुए। आपका व्याख्यान कितनी महत्व वाले का कद्द नहीं लगता। कृपा करके एक व्याख्यान महल में भी फरमायें।

राजा साहब की भावना का मान रखकर श्री ने एक व्याख्यान महल में दिया। अन्तःपुर में राजमाता राजरानी एवं राजकुमारी आदि ने भी व्याख्यान श्रवण किया। तत्पश्चात् राजा साहब ने मलमल के थान भेंट रूप में देने का आग्रह किया परन्तु महाराज श्री ने फर्माया कि हमारी उत्तम से उत्तम भेंट यही है कि आपकी ओर से दया अथवा परोपकार का कार्य हो जाय। इस पर राजा साहब ने कहा यह कार्य में करूँगा ही। आप इसमें से भी कुछ स्वीकार करिये। राजा सा० के अत्याग्रह से महाराज श्री ने तीन हाथ वस्त्र ले लिया।

महाराज श्री के उपदेश से राजा साहब ने यह प्रतिज्ञा की कि मैं पर्युषण पर्व में शिकार नहीं करूँगा। मादा जानवरों की शिकार जानबूझ कर कभी न करूँगा तथा धर्म शुक्ला अष्टादशी के दिन राज्य में तातील रखी जायगी।

उक्त प्रतिज्ञाओं का पट्टा लिखकर महाराज श्री को भेंट किया। तब से आप जैन दिवाकरजी म० सा० के प्रति हार्दिक श्रद्धा रखते हैं।

श्रीमान् राजराणा दूलहसिंहजी सा०, बड़ीसादड़ी।

संवत् १९८८ में जावरा से विहार कर मन्दसौर नीमच आदि क्षेत्रों को

पालन करते हुए महाराज श्री बड़ी सादड़ी (मेवाड़) पधारे । वहां जनता के आग्रह से जाहिर व्याख्यान हुआ । व्याख्यान के दिन श्रीमान् राजराणा दूलह सिंहजी सा० मोटर में बैठकर व्याख्यान स्थान के समीप होकर किसी कार्य वश बाहर पधार रहे थे। राजराणा साहब की दृष्टि यहां एकत्रित हुए विशाल जन समुदाय पर पड़ी और धाराप्रवाह वक्ता की बुलन्द आवाज उनके कर्ण पुटों में पहुँची इससे उनके मन में उत्कंठा पैदा हुई और उन्होंने ड्राइवर से पूछा कि यह बुलन्द आवाज किसकी है और यहां इतनी विशाल मेदिनी क्यों एकत्रित हुई है ड्राइवर ने कहा हुजूर ! यहां प्रसिद्ध वक्ता पं० मुनि श्री चौथमलजी म० सा० पधारे हुए हैं । मैं समझता हूँ यह उनकी ही आवाज है "ड्राइवर ने इतना कहकर अपनी दृष्टि ऊपर दौड़ाकर निश्चय कर लिया कि ये चौथमलजी म० सा० ही व्याख्यान फरमा रहे हैं । तब उसने निश्चयात्मक आवाज से कहा कि हुजूर ! ये चौथमलजी म० ही व्याख्यान फरमा रहे हैं तब राजराणा सा० ने मोटर उसी स्थान पर लेजाने की आज्ञा दी जहां महाराज श्री शान्त मेदिनी में अपनी गम्भीर ध्वनि के द्वारा धर्मोपदेश कर रहे थे ।

ड्राइवर ने अपने स्वामी की आज्ञा का पालन किया । नियत स्थान पर आने के बाद राजराणा साहब एकदम मोटर से उतर पड़े और मुनि श्री को साविनय प्रणाम कर के उनके सामने जा विराजित हुए। इस प्रकार राजराणा साहब के आकस्मिक आगमन से सभा श्रोताओं को बड़ा विस्मय एवं कुतूहल हुआ । व्याख्यान की समाप्ति पर्यंन्त राजराणा सा० यहां विराजमान रहे। उस समय उनके मुख मंडल पर झलकने वाले भावों से यह स्पष्ट प्रतीत होता था कि मुनि श्री के उपदेश से उनके हृदय में आनन्द की तरंगें तरंगित होरही थीं।

इसके दो दिन बाद राजराणा साहब का एक आग्रह भरा संदेश महाराज श्री की सेवा में आया कि "आप अपने पवित्र चरण कमलों के द्वारा महल को पवित्र करिये और रनवास को भी उपदेशामृत का लाभ प्रदान करके आभारी कीजिए । विज्ञप्ति को मान देकर पं० मुनि श्री राजमहल में पधारे और यहां सार गर्भित प्रसंगोचित व्याख्यान दिया । महाराज श्री के अमृतोपम उपदेश को श्रवण कर यहां आनन्द व्याप्त हो गया।

व्याख्यान के बाद बातचीत के दौरान में राजराणा साहब ने कहा कि—'महाराजश्री ! यहां एक कसाई मुझे मनमाना कर देकर भी मांस बेचने की दुकान खोलने के लिए भारी प्रयत्न कर रहा है परन्तु मैंने उसकी प्रार्थना का पूर्ण रूप से निषेधात्मक उत्तर दे दिया है । मामूली रुपया पैसा बहुत भी कर के लोभ से अनेक निरपराध पशुओं की हिंसा होगी और अनेक अनर्थ उत्पन्न होंगे ऐसा समझ कर मैंने सर्वथा इन्कार कर दिया है । यह बात सुन कर महाराजश्री ने कहा कि आप जैसे क्षत्रियों के लिए ऐसा ही करना उचित है । हम साधु आप जैसे मरदों से यही

आशा रखते हैं कि आप जीव-दया का कार्य करें। आप जैसे क्षत्रियों के राज्य में प्राणी मात्र को अभय मिलता रहे यही हम चाहते हैं। आपके इस दयामय कार्य की सराहना किये बिना नहीं रह सकते। आप भविष्य में भी जीव दया के लिए विशेष प्रयत्न करेंगे ऐसी हमें आशा है।

यह बात श्रवण कर राजराणा साहब ने महाराजश्री की सेवामें प्राणी मात्र को अभयदान का एक पट्टा लिख कर भेंट किया। राजराणा साहब के शुभ प्रयत्न से अन्य सरदारों ने भी यथाशक्ति भिन्न-भिन्न त्याग प्रत्याख्यान किये। यह है जैन दिवाकरजी म सा का पुण्य प्रभाव।

इनके अतिरिक्त अनेकानेक नरेशों एवं रईसों पर जैन दिवाकरजी म सा का अच्छा प्रभाव है। रतलाम सैलाना ताल सारंगी पीपलदा भींडर, कोसीथल बम्बोरा कांठेड़ा, सतूम्बर बेदला गोगुन्दा पिपलौदा इत्यादि। मालवा मेवाड़ और राजपूताने के अनेक नरेशों ठाकुर साहबों एवं रईसों ने महाराजश्री के व्याख्यानों को श्रवण करने का लाभ उठाया है और फलस्वरूप जीव दया के पट्टे लिखकर भेंट किये हैं। इस छोटे से लेख में सबका उल्लेख करना असम्भव है अतएव संक्षेप में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि समस्त राजपूताने के नरेशों ठाकुर साहबों जागीरदारों एवं उमरावों पर महाराजश्री के अनुपम प्रभाव एवं व्याकरण की गहरी छाप है। क्षत्रिय नरेशों को जीव दया का उपदेश देकर प्राणी रक्षा का गुरुतर कार्य करने में जैन दिवाकरजी म सा की कोई सानी नहीं। जैन दिवाकरजी म सा ने अपने इस अनुपम प्रभाव का सदुपयोग मूक एवं निर्दोष पशुओं की हिंसा को रोकने में किया है।

अभयदाता के रूप में

जैन साधु अहिंसा और सत्य का जीता जागता प्रचारक है। उसका ध्येय हिंसा को मिटा कर संसार में अहिंसा का एकाधिपत्य स्थापित करना है। इसी उद्देश्य से वह स्वयं कठिन अहिंसामय जीवन जीकर अहिंसक जीवन का आदर्श उपस्थित करता है। वह दुनियां में फैली हुई रक्त क्रांति हिंसा तथा अत्याचार को देखकर दहल उठता है। उसके हृदय में प्राणी मात्र के लिए प्रेम भरा होता है अतएव वह छोटे से छोटे प्राणी को भी अपने ही समान समझ कर उसकी रक्षा का पूरा प्रयत्न करता है। जैन दिवाकरजी म ऐसे अहिंसक मुनियों में अति उच्च कोटि के महापुरुष हैं। आपने अपने जीवन का ध्येय प्राणी-रक्षा ही बना रखा है। आपने अपने अनुपम व्यक्तित्व और वक्तृत्व के कारण अगणित जीवों को प्रबोध देकर जीव रक्षा का महान् कार्य किया है। हजारों मूक एवं निर्दोष प्राणियों को आपने अभयदान दिलवाया है।

प्राणी-जगत् में मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है यह सत्य है मगर इसका यह अर्थ नहीं

कि मनुष्यों के सिवाय अन्य पशुओं अथवा पक्षियों में चेतना ही नहीं है। अथवा मनुष्य को अन्य प्राणियों पर मनमाना अत्याचार करने का अधिकार है। जैसे मनुष्य को सुख दुख का संवेदन होता है उसी प्रकार पशुओं को भी होता है। पशुओं में भी चेतना की अखण्ड धारा प्रवाहित हो रही है। मगर उन्हें व्यक्त भाषा प्राप्त नहीं है। वे मानवीय भाषा में पुकार नहीं सकते और मनुष्य के कान उनकी पुकार नहीं सुन सकते। तब कौन उन्हें सहृदयता का दान दे? मनुष्यों के कान पशुओं के करुणक्रन्दन को सुन नहीं सकते मगर हृदय की करुणा अन्तःकरण की संवेदना उसे अवश्य सुन सकती है। किन्तु वह करुणा और संवेदना विरलों को ही प्राप्त होती है। जिन्हें वह प्राप्त होती है वह महामानव की महिमा से मण्डित है और सच्चे अर्थ में मानवता के अधिकारी है।

जैन दिवाकरजी म की करुणा का प्रवाह बहुत विस्तृत और हृदय की संवेदना तीव्र है। इसी से मूक पशुओं का चीत्कार उन्हें सुनाई दिया। उन्होंने सोचा कि हरएक प्राणी को जीने का अबाधित अधिकार है। जीना और दूसरों को जीवित रहने देना ही धर्म है। जो प्राणी दूसरों के जीने के अधिकार का हरण करता है वह अत्याचारी है। मनुष्य पशुओं का वध करता है अर्थात् बड़ा भाई अपने छोटे भाई के प्राणों का ग्राहक बना हुआ है। ऐसा करके बड़ा भाई अपने बड़प्पन को कलंकित करता है और यहां तक कि कुटपन के योग्य भी नहीं रहता। मानव-समाज को इस कलंक के घोर पाप से अक्षम्य अपराध से बचाने की ओर महाराजश्री का ध्यान गया। उन्होंने अहिंसा का प्रभावशाली उपदेश दिया। इतना ही नहीं वरन् अहिंसा का व्यापक रूप से एवं स्थायी रूप से पालन कराने के लिए आपने राजपूताना के अनेकानेक राजाओं को और ठाकुरों को भी इस भावना के लिए उद्यत किया। आपके सदुपदेश ने बहुत से राजाओं एवं जागीर दारों ने अपने-अपने राज्यों में हिंसाबन्दी की स्थायी आज्ञाएं जारी की हैं और आप को इस आशय की सनदें लिख कर भेंट की है।

मेवाड़ मालवा एवं मारवाड़ के अनेकों जागीरदारों को जीव दया का अमृत पिलाया है और अमुक अमुक अवसरों पर उन्होंने जीव हिंसा की पूर्ण रूपसे अथवा आंशिक रूपसे पाबन्दी की है। महाराजश्री का समस्त जीवन ही जीव रक्षा के काय के लिए अर्पित हो चुका है। जहां कहीं आपश्री का पदार्पण होता है वहां अगणित जीव राशि को अभय मिलता है इस प्रकार न केवल मानव जाति पर अपितु पशु-पक्षियों पर भी आपश्री का बड़ा भारी उपकार है।

प्रायः मनुष्य स्वभाव ऐसा है कि वह परम्परागत रूढ़ियों एवं रीतिरिवाजों को पकड़ रहता है। जो प्रथा या रिवाज परम्परा से चला आ रहा है उसको बिना सोच समझ वह पालन करता जाता है। बहुत कम मनुष्य उसकी अच्छाई या बुराई उपयोगिता और अनुपयोगिता तथा लाभ हानि का विचार करते है। अधि

स्व० महाराजा श्री तुकोजीराव बापु साहेब, देवास १

आप श्री जैन दिवाकरजी महाराज के उपदेशों से बड़े प्रभावित हुए।

स्व० महाराजा श्री मल्हारराव बाबा साहेब, देवास २
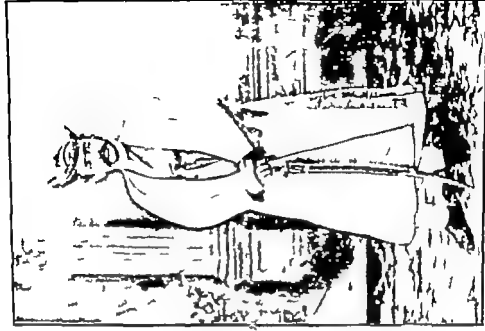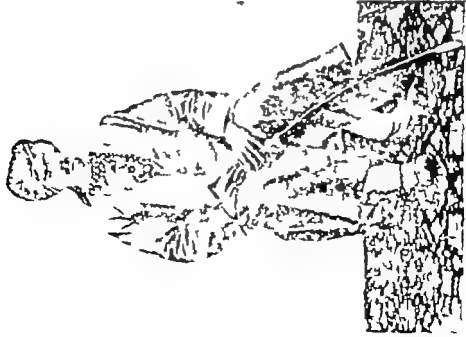
आप—श्री जैन दिवाकरजी महाराज के अनन्य भक्त थे।

आपके दिल पर—श्री जैन दिवाकरजी महाराज के उपदेश का गहरा असर पड़ा

आपने अपनी स्टेट में—श्री जैन दिवाकरजी महाराज के उपदेश से आकर्षित हो, जो अगते पलवाने का पट्टा लिख दिया।
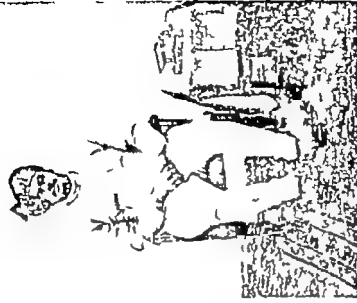
कांश व्यक्ति तो अन्धानुकरण करते चलेआते हैं। ऐसी स्थिति में परम्परागत रीति रिवाज को बदलना बड़ी टेढ़ी खीर है। इसका अनुभव हरेक सुधारक एवं उपदेशक का हुआ है और होता है। क्षत्रिय और राजपूत जाति में किसी समय से शिकार खेलना निर्दोष पशुओं का संहार करना धर्म के नाम पर बलिदान करना इत्यादि अनेक हिंसक प्रथाएं चालू होगईं जो परम्परा से अब तक चली आ रही है। फल स्वरूप अनेक स्थानों पर देवीदेवताओं के मन्दिरों पर दशहरा आदि के प्रसगों पर अनेकों मूक प्राणियों का बलिदान कर दिया जाता है। यह प्रथा भारत के प्रायः सभी प्रान्तों में है। यह हिंसक प्रथा भारत के जन समुदाय के हृदयों में इतना गहरा घर किये हुए है कि एकायक इसका छोड़ना अत्यन्त कठिन है। परन्तु जैन दिवाकरजी म० के उपदेश में ऐसा कुछ अपूर्व चमत्कार और आकर्षण है कि अनेक क्षत्रिय नरेशों एवं जागीरदारों तथा ठाकुर साहबों ने शिकार खेलने बलिदान करने और किसी तरह पशुपक्षियों को मारने के प्रत्याख्यान कर लिए। पर परम्परागत प्रथा को तोड़ने में बड़े भारी पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। जैन दिवाकरजी म० के सदुपदेश से इन हिंसक प्रथा का त्याग हुआ यह क्या दिवाकरजी म के प्रबल प्रभाव का प्रतीक नहीं है? अवश्य ही है।

जिन जिन नरेशों जागीरदारों ठाकुर साहबों एवं उमरावों ने जो जो धार्मिक रूप से प्रत्याख्यान किये हैं और फलस्वरूप जो जीवदया के कार्य हुए हैं उनकी तालिका यदि बनाई जाय तो एक बड़ा भारी अलग ग्रन्थ तैयार हो सकता है। अतएव विस्तार के भय से सबका यहां उल्लेख नहीं किया जा सकता। विशेष जिज्ञासु महोदय 'आदर्श उपकार और' 'आदर्श मुनि (गुजराती व हिन्दी आवृत्ति) ग्रन्थों को देख सकते हैं। यहां अति संक्षेप में खास खास जीवदया के कार्यों का ही उल्लेख किया जाता है जिसपर से पाठकगण समझ सकेंगे कि जैन दिवाकरजी म ने अपना जीवन पर के कल्याण के लिए समर्पित करके मानव एवं पशु समाज पर कितने भारी उपकार किये हैं।

आदर्श उपकार

'जैन दिवाकरजी म० का नरेशों पर पुण्य प्रभाव' का वर्णन करते हुए नरेशों द्वारा उपदेश श्रवण के पश्चात् भेंट रूप में दिये गये जीवरक्षा विषयक पट्टों का प्रथम नाम निर्देश किया जा चुका है तदपि जैन दिवाकरजी म० सा० के द्वारा होने वाले उपकारों के वर्णन में उनका मुख्य स्थान होने से स्पष्ट रीति से यहां उल्लेख करना आवश्यक है।

जैन दिवाकरजी म० कल्याण की प्रतिमूर्ति है। उनके हृदय में मूक पशु पक्षियों के लिये अपार स्नेह भरा पड़ा है। मांस शौक एवं आमोद प्रमाद के लिए अथवा धर्म विषयक भ्रान्त धारणा के लिए बचारे मूकपशुओं का निर्दयता के साथ

घात किया जाता हुआ देखकर जैन दिवाकरजी म० को बड़ी गहरी चोट लगी उनका दयालु एवं कोमल मानस इस दामयीय कृत्य को सहन न कर सका। अतः एव उन्होंने अपने उपदेश की धारा इस अत्याचार को धोने के लिए बहायी। उन्होंने मूकपशुओं पर होने वाले अत्याचार को समूल मिटाने का संकल्प किया और इसी ध्येय को लेकर भारत के हर प्रान्त में उन्होंने परिभ्रमण कर अपने उपदेशामृत के द्वारा मानव को मानवोचित कर्म का ध्यान दिलाया। जैन दिवाकरजी म०सा अपने पचास वर्ष के संयम काल में इस ध्येय में कितने सफल हुए यह निम्न उपकार सम्बन्धी तालिका से प्रतीत होजाता है:—

श्रीमन्त महाराणा सा० श्री फतेहसिंहजी सा०, उदयपुर—जब जैन दिवाकरजी महाराज साहब का उदयपुर में पदार्पण हुआ तब आपने अनेकों बार महाराज श्री को महलों में पधार कर व्याख्यान फरमाने का अत्यन्त आग्रह किया। फलस्वरूप महलों में मुनि श्री के व्याख्यान हुए। महाराणा सा पर उन व्याख्यानों का अच्छा असर पड़ा। फलस्वरूप में उन्होंने चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (महावीर जयन्ती) के दिन उदयपुर में परिपूर्ण जीवदया के पालन का फरमान जारी किया तब से हमेशा के लिये महावीर जयन्ती पर सारे शहर में अगता पालने के लिए राज्य की ओर से घोषणा होती है।

श्रीमन्त महाराणा सा० श्री भूपालसिंहजी सा०, उदयपुर—महाराज श्री के प्रभावशाली प्रवचनों से आप बहुत प्रभावित हुए हैं। महाराज श्री के सदुपदेश से आपने पौष कृष्णा १० (पार्श्वनाथ जयन्ती को सारे शहर में अगता रखने की राजाज्ञा घोषित की। साथ ही आपने यह भी फरमान निकाला कि जब जब जैन दिवाकर श्री चौथमलजी म सा० उदयपुर पधारें तब उनके आगमन के तथा विहार के दिन सारे शहर में अगता रखा जावे। इस राज्याज्ञा का बराबर पालन होता है।

जोधपुर नरेश की समग्र राजधानी में जीवदया प्रतिपालन—संवत १९७७ में महाराज श्री ने जोधपुर में चातुर्मास किया। यहाँ पर आपकी सेवा में रहने वाले तपस्वी श्री फौजमलजी महाराज ने ६७ दिनों की तपश्चर्या की। जब तपश्चर्या की पूर्ति का समय सन्निकट आया तब उस दिन जीवहिंसा सर्वथा न होने देने के लिए प्रयत्न किया गया। श्रावकगण मिलकर राजसभा में गये। वहाँ उन्होंने तपश्चर्या का वृतान्त सुनाकर अगता रखवाने की राजाज्ञा के लिए प्रार्थना की। हिज़हाइनस लेफ्टिनेन्ट जनरल महाराजा सरप्रतापसिंहजी बहादुर जी सी० एस० आई जी सी- वी० ओ० जी सी० वी० एल० डी० डा० सी एल ए० डी० सी नाइट ऑफ सेन्ट जॉन ऑफ जेरूसेलम रिजेन्ट आफ मारवाड़ स्टेट ने यह प्रार्थना स्वीकृत की। महाराजा साहब ने कोतवाल

के द्वारा घोषणा करादी कि अमुक दिन हिंसा बिलकुल बन्द रहे । कतिपय कसाइयों ने कहा कि हाकिमों के यहां तथा सरकारी रसोड़े में मांस हमेशा जाता है यह कैसे बन्द रहेगा। इस प्रश्न का पुनः महाराजा सा० से निराकरण किया गया । महाराजा सा० ने फरमाया कि तपश्चर्या की पूर्ति के दिन कहीं पर भी मांस काम में न लाया जाय । यहां तक कि शेरों को भी मांस के बदले दूध दिया जाय । इस प्रकार उस दिन कसाइयों में हिंसा बिलकुल बन्द रही । हलवाई भड़भूंजे तथा सम्पोली लोहार आदि भय ने अपने कार्य बन्द रखे । कसाइयों के २०० बकरों के प्राण बचाये गये तथा रावराजा रामसिंहजी ने ३० बकरों को अभय-दान दिया ।

संवत् १९८४ में पुनः महाराजश्री का चातुर्मास जोधपुर में हुआ । महाराज श्री के सदुपदेश से पर्यूषण पर्व के दिनों में व्यापार न करने का यहां के श्रावकों ने ठहराया । महाराजश्री ने फरमाया कि जब आप लोग इन पवित्र दिनों में अपना व्यवसाय चालू रखते हैं तो आप दूसरों से—अजैन जनता से यह आशा कैसे कर सकते हैं कि वे आपके इन पवित्र दिनों में अपना रोजगार बन्द रखें और जीव दया का पालन हो । पहले आपको अपना व्यवसाय बन्द रख कर दूसरों पर छाप डालने की कोशिश करनी चाहिए । महाराजश्री के इन उपदेशों ने जोधपुर के श्रावकों ने इन दिनों में अपना व्यवसाय बन्द रखने का निश्चय किया । जो कोई इस नियम का भंग करेगा उसे जीव दया खाते में २१) का दण्ड भरना होगा । जोधपुर की जैन जनता ने जब यह निर्णय कर लिया तो आगे यह प्रयत्न किया गया कि संवत्सरी के दिन सारे राज्य में जीव दया के प्रतिपालन की राज्याज्ञा घोषित हो । श्रीमन्त महाराजा सा० ने सारे राज्य में संवत्सरी के दिन जीव दया प्रतिपालन की घोषणा करवादी ।

महाराजा सा० ने सम्पूर्ण राज्य में भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी और पंचमी के दिन जीव हिंसा न करने का फरमान निकाल दिया । साथ ही साथ सरकारी महकमों में काम करने वाले जैन बन्धुओं को उनके पर्व दिवसों के लिए छुट्टी प्रदान करने का भी फरमान महाराजा सा० की ओर से प्रकट किया गया । इस महान शुभ कार्य के उपलक्ष में स्थानकवासी जैन कान्फरन्स की ओर से महाराजा सा० की सेवा में तार द्वारा अभिनन्दन एवं धन्यवाद भेजे गये ।

इसी चातुर्मास काल में भाद्रपद शुक्ला ९ के दिन रणबंका राठौड़ वंशावतंस जोधपुर नरेश श्रीमान् हिज हाईनेस महाराजा सर उम्मेदसिंहजी साहब बहादुर के दादा साहब श्रीमन्त महाराजा साहब श्री फतहसिंहजी सा० के. सी. आई. ई., होम मेम्बर स्टेट कौंसिल महाराज श्री दर्शन के लिए पधारे । उन्होंने महाराज श्री से लगभग पौन घंटे तक विविध प्रश्न किये । महाराज श्री ने उन प्रश्नों के बड़ी सुन्दर शैली में उत्तर दिये । महाराज श्री की तरफ से समयानुकूल योग्य समाधान पाकर वे बहुत प्रसन्न हुए ।

भाद्रपद शुक्ला सप्तमी के दिन ठाकुर सा० श्रीमान् शिवनाथसिंहजी ने महाराज श्री का उपदेश श्रवण किया तथा भाद्रपद मास में शिकार नहीं करने की प्रतिज्ञा की। इसी प्रकार पाटोदी के ठाकुर सा० ने प्रतिज्ञा की कि 'मैं मेरे जीवन में ऐसे प्राणियों की शिकार कदापि नहीं करूंगा जो निरपराधी हों तथा भाद्रपद मास में तो कतई शिकार नहीं करूंगा।

बदनौर ठाकुर साहब—संवत् १९८५ में जैन दिवाकरजी म० बदनौर पधारे। यहाँ के ठाकुर सा० भूपालसिंहजी—जो उदयपुर के महाराणा सा० के १६ उमरावों में से हैं—ने उदयपुर में महाराज श्री के व्याख्यान-श्रवण का सौभाग्य प्राप्त किया था तभी से उनकी यह भावना रहती थी कि जैन दिवाकरजी म० कभी बदनौर पधारें तो मैं और मेरी प्रजा मुनिश्री के उपदेशामृत का पान कर कृतार्थ बनें। आज अपनी हार्दिक भावना की सहसा पूर्ति होने से ठाकुर सा० के हर्ष का पारावार न रहा। ठाकुर सा० ने तीन व्याख्यान सुने और जीव दया विषयक एक पट्टा लिख कर भेंट किया।

केरिया के महाराज गुलाबसिंजी सा०—आपने जैन दिवाकरजी म० के व्याख्यानों को सुन कर जीव दया का पट्टा भेंट किया। विहार के समय महाराजा सा० मुनिश्री को पहुंचाने के लिए बहुत दूर तक साथ थे। यहाँ से विहार कर जब मुनिश्री निम्बाहेड़ा (मारवाड़) पधारे तब भी आप व्याख्यान श्रवण करने के लिए केरिया से निम्बाहेड़ा पधारते। निम्बाहेड़ा के ठाकुर सा० भी व्याख्यान में पधारते। आपने भी अनेक प्राणियों को अभयदान देने का पट्टा लिख कर महाराजश्री को भेंट किया। जब महाराज श्री का निम्बाहेड़े से विहार हुआ तब केरिया के महाराज तथा स्थानीय ठाकुर सा० दोनों पहुंचाने पधारे थे।

रावत सा० सुजानसिंहजी सा० भगवानपुरा—आप उदयपुर महाराणा सा० के बत्तीस उमरावों में से हैं। आपका तथा आपके राजकुमार साहब का अत्याग्रह होने से महाराज श्री भगवानपुरा पधारे। यहाँ मुनिश्री के ८ भाषण हुए। समस्त राजपरिवार ने व्याख्यान श्रवण किया। रनिवास की सभी महिलाओं ने भी उपदेशामृत का पान किया। राजस्थान की तरफ से जीव दया का पट्टा भेंट किया गया। रनिवास की महिलाओं ने पक्षी तथा हिरण का मांस न खाने की प्रतिज्ञा की।

रावतजी सा० ठिकाना मजा—आपने अपने कामदार को भेज कर महाराज श्री की सेवा में प्रार्थना करवायी कि—'कृपा करके मजा को पावन कीजिए और अपने उपदेश-सुधा की वर्षा कीजिए। वृद्धावस्था का मेरा शरीर होने से मैं आपकी सेवा में हाजिर न हो सका। कृपया अवश्य चरणों का लाभ प्रदान करें।' इस आग्रह भरी

प्रार्थना को मानकर महाराज श्री भैंसा पधारे। यहां महलों में व्याख्यान हुए। व्याख्यानों के प्रभाव से प्रभावित होकर रावतजी सा० ने जीवदया का पट्टा भेंट किया।

सेराम्राद—यहां के ठाकुर सा० श्रीमान् वाघसिंहजी सा ने उपदेश श्रवण कर जीवदया का पट्टा भेंट किया।

हमीरगढ़—यहां के रावतजी सा श्रीमान् मदनसिंहजी सा० जो महाराणा सा उदयपुर के बत्तीस उमरावों में से हैं-से व्याख्यान सुनकर भक्तिभाव प्रदर्शित करते हुए जीव दया का पट्टा भेंट किया।

पुठोली—यहां के ठाकुर सा ने उपदेश श्रवण करके अपने आपको धन्य माना। आपने महाराज श्री के व्याख्यान से प्रभावित होकर इस प्रकार प्रतिज्ञा की : महावीर जयन्ती पार्श्वनाथ जयन्ती और पुठोली में जैन दिवाकरजी म० के आने जाने के दिन पुठोली भर में जीवहिंसा नहीं होगी। पुठोली की सीमा में जो नदी है उसमें कोई कभी भी मछलियां न मार सके-इसके लिए नदी के किनारे शिलालेख गड़वाने का विचार व्यक्त किया।

यहां से विहार कर महाराज श्री चित्तौड़ होते हुए बोल्छड़ी पधारे। यहां घटियावली के ठाकुर सा श्री शम्भुसिंहजी पुठोली के ठाकुर सा श्री प्रतापसिंहजी सा० पोलाहेड़ा के ठाकुर सा श्री सज्जनसिंहजी और बोल्छड़ी के ठाकुर सा श्री भूपालसिंहजी चारों एक साथ थे। चारों को एक स्थल पर ही जैन दिवाकरजी म के शुभ दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मुनि श्री के दर्शनों से चारों ठाकुर साहबों को बड़ा हर्ष हुआ। व गद्‌गद् होकर बोले कि आपके दर्शनों से हमारी मनोकामना सिद्ध हुई है।

घटियावली के ठाकुर सा० जैन दिवाकरजी म० के सदुपदेशों से बहुत प्रभावित हुए। ठाकुर सा ने एक शिलालेख गड़वाया कि तालाब में किसी भी जीव की हिंसा करने की सख्त मुमानियत है। आपने ऐसी व्यवस्था कर दी कि विजया दशमी के दिन एक पाड़े को छोड़कर अन्य किसी जानवर का वध नहीं होने पायेगा। तथा महावीर जयन्ती पार्श्वनाथ जयन्ती और जैन दिवाकरजीम० के घटियावली आने जाने के दिन जीवदया का प्रतिपालन किया जायेगा।

पोलाहेड़ा के ठाकुर सा० ने वैशाख श्रावण भाद्रपद और कार्तिक इन चार मास में शिकार न करने की प्रतिज्ञा ली। साथ ही उन्होंने महावीर जयन्ती पार्श्वनाथ जयन्ती और जैन दिवाकरजी म० के पोलाहेड़ा में आने जाने के दिन जीवहिंसा बन्दी की घोषणा करने का निश्चय किया। बातचीत के दौरान में आपने कहा कि चार साल से मैंने दारू पीना छोड़ दिया है।

बोल्छड़ी के ठाकुर सा० ने प्रत्येक अमावस्या महावीर जयन्ती और पार्श्व

नाथ जयन्ती के दिन जीवहिंसा न करने की प्रतिज्ञा ली।

पालनपुर —के ठाकुर सा श्रीमान् पृथ्वीसिंहजी सा० ने महाराज श्री के पवित्र उपदेश से प्रत्येक ग्यारस अमावस्या और पूर्णिमा के दिन शिकार न करने की प्रतिज्ञा की।

सरकाण्णः—के ठाकुर सा श्रीमान् हमीरसिंहजी सा० ने उपदेश सुनकर पार्श्वनाथ जयन्ती के निमित्त होने वाले मेले के अवसर पर स्वयं शिकार न करने की प्रतिज्ञा की तथा उक्त अवसर पर किसी अन्य का भी शिकार नहीं करने देने की कार्रवाई करने का विचार प्रकट किया। आपने यह भी प्रतिज्ञा ली कि प्रति वर्ष पांच बकरों को अभयदान दूंगा। एकादशी पूर्णिमा अमावस्या तथा सोमवार को शिकार नहीं करूंगा और न इन दिनों में मांस-भक्षण ही करूंगा।

मोरवाड़े—के कुमार सा श्री सरदारसिंहजी सा ने तथा फतेहपुर के ठाकुर सा श्रीमान् कल्याणसिंहजी सा ने मुनि श्री के सदुपदेश को सुनकर क्रमशः दो और एक बकरे को अभयदान देने की प्रतिज्ञा की तथा दोनों ने यह प्रतिज्ञा की कि एकादशी पूर्णिमा और अमावस्या को शिकार नहीं करेंगे और न मांस ही भक्षण करेंगे।

पाली —के ठाकुर सा ने मुनि श्री के सारगर्भित प्रवचन को सुनकर जीवन पर्यन्त एकादशी अमावस्या और सोमवार को शिकार न करने तथा प्रत्येक महीने में दो बकरों को अभयदान देने की प्रतिज्ञा की।

कोटा—के ठाकुर सा श्री मोकमसिंहजी सा तथा कोटड़ी —के ठाकुर सा फतहसिंहजी सा ने निम्न लिखित प्रतीज्ञाएँ की—

(१) हम कदापि पर-स्त्री गमन नहीं करेंगे।
(२) प्रतिवर्ष दो बकरों को अभयदान देवेंगे।
(३) वैशाख एवं भाद्रपद में शिकार नहीं खेलेंगे।
(४) चैत्र शुक्ला त्रयोदशी तथा पौष कृष्णा दशमी के दिन भी शिकार न करेंगे।

सरपाल—के ठाकुर सा मानसिंहजी और आलमसिंहजी सा ने आकाश में चलने वाले तथा घास खाने वाले जानवरों को न मारने की तथा महावीर और पार्श्वनाथ जयन्ती के दिन हिंसा न करने की प्रतिज्ञा की तथा भैरूजी के दशहरे पर प्रति वर्ष बकरा मारा जाता था उसे आगे पर न मारने की प्रतिज्ञा ली।

देलवाड़ा—यहाँ के महाराणा श्रीमान् यशवन्त सिंहजी सा जो उदयपुर के महा

राणा सा के १६ उमरावों में से हैं–ने महाराजा श्री का उपदेश श्रवण करके बड़ी प्रसन्नता प्रकट की। आपने अपने हाथों से मुनि श्री को लौंग मिश्री आदि बहराने का लाभ लिया। तथा जीवदया का पट्टा लिखकर भेंट किया। झाला की मदार वाले ठाकुर सा श्रीमान् जयसिंहजी सा ने तीतर जलकुकड़ी मृग एवं मछलियों का शिकार न करने की प्रतिज्ञा की।

मारोड़ी——(मेवाड़) के ठाकुर सा श्रीमान् अमरसिंहजी सा तथा यशवन्तसिंहजी सा ने मुनिश्री के व्याख्यान सुनकर जीवन पर्यन्त जीवहिंसा न करने तथा मांस मदिरा का सेवन न करने की प्रतिज्ञा की।

फरिवाड़े के ठाकुर सा जो महाराणा सा के बत्तीस उमरावों में से हैं ने प्रतिज्ञा की कि एकादशी अमावस्या और पूर्णिमा के दिन अगता पाला जायेगा। इन दिनों में शिकार भी नहीं खेला जायगा। नवरात्रि में दूज के दिन किसी का वध न किया जायगा। महावीर और पार्श्वनाथ जयन्ती के दिन भी अगते रखे जायेंगे तथा जन्माष्टमी रामनवमी तथा शिवरात्रि के दिन भी जीवदया का प्रतिपालन होगा।

कोठारिया——यहां के रावतजी सा श्रीमान् मानसिंहजी सा ने महाराज श्री के दर्शन किए तथा व्याख्यानों का लाभ लिया। आपने एक व्याख्यान महलों में करवाया। राजमहिलाओं ने भी व्याख्यान सुना। उपदेश सुनने के पश्चात् रावतजी सा. ने भेंट स्वरूप निम्न लिखित प्रतिज्ञाएं की।–

(१) जीवन पर्यन्त मदिरा पान न करूँगा।
(२) जीवन पर्यन्त पर स्त्री गमन न करूँगा।
(३) मुनिश्री के यहां पधारने तथा यहां से विहार करने के दिन अगते रखे जायेंगे।
(४) पहले जितने दिन अगते मुकर्रर किए गए हैं उतने ही दिन शिकार नहीं करूँगा तथा मांस भक्षण नहीं करूंगा।

मोरवास——यहां के ठाकुर साहब अर्जुनसिंह जी सा ने जीवहिंसा न करने की प्रतिज्ञा की।

मोही——यहां के ठाकुर सा दीपसिंहजी सा न जितने दिन मुनिश्री यहां विराजे उतने दिन अगते पलवाये और जीवदया का पट्टा लिखकर भेंट किया।

लासाणी——यहां के ठाकुर साहब श्रीमान् खुमानसिंहजी सा मुनिश्री के अनन्य भक्त हैं। जब महाराजश्री लासाणी पधारे तब आप मुनिश्री की सेवा में दिनमें दो बार पधारते थे। ठाकुर सा के बाग में ही महाराजश्री विराजमान थे। ठाकुरसा के स्वनाम धन्य युवराज तथा छोटे कुमार साहब ने भी उपदेश सुनने का लाभ लिया।

ठाकुर सा० ने जीवदया का पट्टा समर्पित किया। अब महाराज श्री वहाँ से ताल पधारे तो आप भी व्याख्यान सुनने के लिये ताल पधारे और रात को वहीं रहे। दूसरे दिन मांगलिक सुनने के बाद जब आप जाने लगे तो बोले कि 'आपके दर्शनों से तृप्ति आती ही नहीं'। आपकी महाराज श्री के प्रति अनन्य भक्ति है।

ताल:—लासाणी से विहार कर महाराज श्री ताल पधारे। यहाँ के ठाकुर सा ने अपना पिरावरी में ही महाराज श्री का निवास कराया। ठाकुर सा व उनके कुमार ने उपदेश सुनने का लाभ लिया। विहार के समय ठाकुर सा ५ मील तक पहुँचाने आये थे। ठाकुर सा का धर्म प्रेम सराहनीय है। आपने जीवदया का पट्टा महाराज श्री को समर्पित किया। आपने पट्टे में इस प्रकार प्रतिज्ञा की है:-

(१) कार्तिक व वैशाख महिने में शिकार नहीं खेलेंगे। बाकी के महिनों में से प्रतिमास में आठ दिन के सिवाय बाकी २२ दिनों में शिकार न की जायगी।

(२) महावीर जयन्ती और पार्श्वनाथ जयन्ती को सदा अगता पाला जावेगा।

(३) स्वामीजी चौथमलजी म० के पधारने व विहार करने के दिन अगता रहेगा।

(४) प्रत्येक मास की ग्यारस तथा अमावस्या के दिन मांस भक्षण नहीं किया जायेगा।

(५) भाद्रपद मास में हमेशा अगता पलाया जावेगा और शिकार नहीं की जावेगी।

(६) श्रावण मास के सोमवारों को हमेशा के लिये अगता पाला जावेगा।

(७) स्वामीजी चौथमलजी म० सा का ताल पधारना हुआ इस खुशी में इस मर्तबा इस साल के लागत के आने वाले करीब १०-७ बकरे अमरे कराये जावेंगे।

(८) पर्यूषणपर्व में कतई अगता पाला जायेगा।

(९) पहल के किये हुए त्याग भी बदस्तूर पाले जावेंगे।

घड़ीसादड़ी —यहाँ के राजराणा साहब श्रीमान् कुलेहसिंहजी सा ने व्याख्यान श्रवण करने के पश्चात् महलों में महाराज श्री के पुनः व्याख्यान करवाये और व्याख्यान की समाप्ति होने पर इस प्रकार प्रत्याख्यान किये।

(१) पक्षियों की शिकार इच्छा करके न करेंगे।

(२) मादा जानवरों की भी इच्छा करके शिकार न करेंगे।

(३) तालाब में मच्छियों तथा अन्य जीवों की शिकार बिना इजाजत कोई न कर सकेगा। इसके लिए शिलालेख तालाब की पाल पर स्थापित
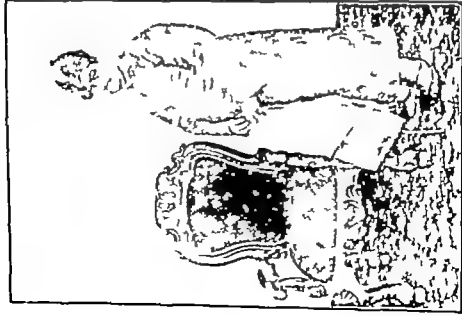
महाराजा श्री दिलीपसिंहजी साहब, सैलाना

स्व० नवाब साहेब श्री शेरमोहम्मदखाँ, पालनपुर

आप श्री जैन दिवाकरजी महाराज के उपदेशों से बड़

आप—श्री जैन दिवाकरजी महाराज के ओजस्वी व्याख्यानों

मेम्बर सी डब्ल्यू एस रायें चीफ मिनिस्टर साहेब,
अलवर

आपने—श्री जैन दिवाकरजी महाराज का उपदेश बड़े मनन-पूर्वक श्रवण किया ।

राष्ट्रनेता राजा श्री महेन्द्रप्रतापजी, वृन्दावन

आपका—स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर
श्री जैन दिवाकरजी महाराज की सेवा में शुभागमन
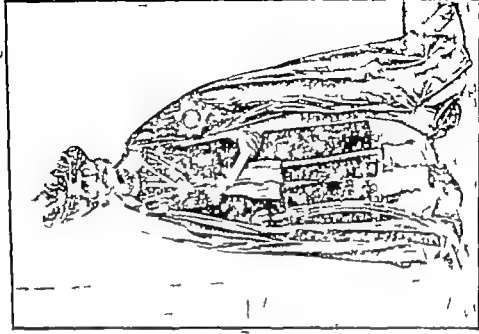
किया जायेगा।

राजराणा सा. के प्रयत्न से अन्य कतिपय सरदारों ने तथा राजकर्मचारियों ने विविध प्रत्याख्यान किये। तलावदा के ठाकुर सा. झाला अमरसिंहजी ने मृग और मछलियों को न मारने की प्रतिज्ञा ली। (२) माहारसिंहजी झाला ने किसी भी जानवर को न मारने की प्रतिज्ञा ली तथा पक्षियों का मांस न-खाने का नियम लिया। (३) श्री चमनदास जी आढ़िया ने मृग तथा पक्षियों का शिकार नहीं करने की प्रतिज्ञा ली। इसी तरह अन्य कई सरदारों ने कई जानवरों को न मारने तथा मांस मदिरा का सेवन न करने की प्रतिज्ञा की। विस्तार भय से सबका वर्णन नहीं किया जाता है।

राजराणा सा ने अपने पत्र में इस बात का जिक्र किया है कि "आज के व्याख्यान में कितनेक जागीरदार व हजूरियों ने हिंसा वगैरह न करने की प्रतिज्ञा की है उम्मेद है वे मुआफिक प्रतिज्ञा पाबन्द रहेंगे।

थोहेड़ा—यहां के रावतजी मा. श्रीमान् माहरसिंहजी सा. को पहले जैनसाधुओं के व्याख्यान सुनने का चाव नहीं था। आपकी रुचि इस ओर नहीं थी परन्तु अब जैन दिवाकरजी म० यहां पधारे और उनका उपदेश प्रारम्भ हुआ तो रावत जी सा. तथा उनके सुपुत्र नारायणसिंहजी मा. भी सेवा में उपस्थित हुए। एक ही व्याख्यान के सुनने से रावतजी मा. में जागृति पैदा हुई और बाद में उन्होंने कई व्याख्यान कर पाये। फलस्वरूप आपने इस प्रकार प्रतिज्ञा करके प्रतिज्ञा पत्र महाराज श्री को भेंट किया :—

(१) मादा जानवर तथा चिड़ियां आदि पक्षियों की शिकार न की जायगी और न करने दी जावेगी।

(२) मोर कबूतर सफेद बेकड़ जो मुसलमान लोग मारते हैं-न मारने दिये जावेंगे।

(३) पर्यूषणपर्व में व श्राद्ध पक्ष में आम तौर पर जो बेचने के लिये जा नवर आदि काटते हैं उनकी रोक की जावेगी।

(४) पर्यूषणपर्व में दारू की भट्टियां कलाल बन्द रखी जावेंगी।

लूणदा—यहां के रावतजी श्रीमान् अमानसिंहजी मा. ने भी महा राज श्री के सदु पदेश से पैंतालीस ग्राम में खरगोश की शिकार न करने छोटे पक्षियों की शिकार न करने मांदा जानवरों की शिकार न करने की प्रतिज्ञा ली तथा नदी गोमती व महादेवजी श्री केरेश्वर के पास श्रावण मास में मछलियां न मारने की ग्राम की राजाज्ञा घोषित की।

धानोड़—यहां के रावतजी श्रीमान् कल्याणसिंहजी मा. ने महाराज श्री के व्याख्या नों से प्रभावित होकर इस प्रकार प्रतिज्ञा की :-

(१) आपके पधारने व विहार करने के दिन अगता रहेगा।
(२) पचीस बकरे अमरिये कराये जावेंगे।
(३) यहाँ के तालाबों व नदियों में बिना इजाजत कोई मछलियाँ न मार सकेगा।
(४) मादा जानवरों व पक्षियों की शिकार न की जावेगी।

मिएडर—यहाँ के महाराज श्रीमान् भूपालसिंहजी सा. ने तीन व्याख्यान सुने और परिणाम में जीवदया का पट्टा भेंट किया। पट्टे में हिरन व छोटे पक्षियों की शिकार न करने की प्रतिज्ञा की तथा जिसदिन महाराज श्री का पधारना तथा विहार करना हो उसदिन खटीकों की दूकानें बन्द करवाने के लिए लिख दिया।

खम्नोरा—यहाँ के रावतजी सा. श्रीमान् मोड़सिंहजी सा. ने व्याख्यान सुनने के बाद नीचे लिखी प्रतिज्ञाएं करके पट्टा अर्पित किया है—

(१) मैं अपने हाथ जानकर पाड़ा नहीं मारूंगा न मछलियाँ ही मारूंगा
(२) एकादशी के दिन हमेशा के लिए मेरे रसोड़े में मांस न बनेगा। मैं स्वयं न खाऊँगा। इस दिन खटीकों की व कलालों की दुकानें बंद रहेंगी व कुम्हारों के अवाड़े न पकेंगे। अगता रहेगा।
(३) नदी में समर-दो के नीचे से बड़ुवा तक कोई भी मछलियाँ न मार सकेगा।
(४) एकादशी के दिन बैल पाठी नहीं लादने दिये जावेंगे।
(५) आपके पधारने और विहार करने के दिन अगता रहेगा
(६) सात बकरों को अभयदान दिया जावेगा।

कुरावड—यहाँ के रावतजी सा. श्रीमान् बलवन्तसिंहजी सा. ने महाराज श्री के हृदयग्राही व्याख्यानों को सुनकर इस प्रकार प्रतिज्ञाएँ कीं—

(१) कुरावड़ नदी तालाब पर जलचर जीवों की हत्यापर रोक रहेगी।
(२) आपके शुभागमन तथा प्रस्थान के दिन जीवहिंसा का अगता रहेगा।
(३) मादा जानवर इरादतन नहीं मारे जावेंगे
(४) पक्षियों में सात जातियों के सिवाय दूसरे जाति के जीव की हिंसा न होगी
(५) भाद्रपद कृष्णा अष्टमी से भाद्रपद-पूर्णिमा तक खटीकों की दुकानें बन्द रहेंगी।
(६) भाद्रपद में पहले से अगता रहता है सो बदस्तूर रहेगा।
(७) प्रतिमास एकादशी अमावस्या व पूर्णिमा को अगता सदा से रहता है यह बदस्तूर कायम रहेगा।
(८) आश्विन मास की नवरात्रि में एकदिन

(९) दरवाजे नवरात्रि में एक पाड़े का बलिदान होता है वह बंद कर दिया जायगा।
(१०) नवरात्रि में माताजी करणाजी पांगलीजी के पाड़ा नहीं चढ़ाया जायेगा
(११) दस बकरों को अभयदान दिया जायगा।

थांठरमा—यहां के रावतजी सा श्रीमान् दिलीपसिंहजी सा ने भी व्याख्यान सुन कर इस प्रकार प्रतिज्ञा की:—

(१) मादी जानवर की शिकार इच्छापूर्वक न की जायगी।
(२) पशुपक्षी का मांस भक्षण न किया जायगा।
(३) प्रायः मुसलमान लोग मोर, कबूतर आदि पक्षियों की शिकार किया करते हैं अब से उनको रोक करा दी जावेगी।
(४) नवरात्रि और दशहरे पर जो चौगान्या व माताजी के बलिदान के लिए पाड़ों का वध किया जाता है अब वह नहीं होगा।
(५) फूलसागर तालाब में मच्छें नहीं मारी जावेंगी।
(६) पांच बकरों को अभयदान दिया जावेगा।
(७) एकादशी पूर्णिमा जन्माष्टमी रामनवमी शिवरात्रि वसंतपञ्चमी महावीर जयन्ती स्वामीजी चौथमलजी म सा के आगमन और प्रस्थान के दिन इन तिथियों पर अगता पाला जावेगा

देवला—यहां के रावतजी रावबहादुर श्रीमान् नाहरसिंहजी सा ने महाराज श्री के उपदेश से महावीर जयन्ती पार्श्व जयन्ती पर्यूषण पर्व आदि के अवसर पर अगता पालने की घोषणा करवायी। महाराज श्री के यहां पधारने और वहां से विहार करने के दिन भी अगते रखे जाने के लिए आपने हुक्म निकाल दिया।

सलुम्बर—उदयपुर के चातुर्मास में यहां के रावतजी सा ने महाराज श्री के दर्शनों एवं व्याख्यान श्रवण का लाभ लिया। उससे प्रभावित होकर आपने कतिपय प्रतिज्ञाएं लीं। उनमें से मुख्य २ इस प्रकार हैं:—

(१) चैत्र शुक्ला त्रयोदशी तथा पौष कृष्णा दशमी को सदा अगता रखा जायेगा।
(२) नवरात्रि में पाड़ों का वध होता है उनमें से एक पाड़े को अभयदान दिया जायेगा।
(३) मादा जानवर की शिकार नहीं की जायगी।
(४) कतिपय पक्षियों की शिकार नहीं की जावेगी तथा उनका मांस भी काम में नहीं लिया जायगा।
(५) सलुम्बर के तालाब में बिना इजाजत कोई शिकार न कर सकेगा। इसके अतिरिक्त महाराज श्री जब सलुम्बर में पधारें तब उनके आग

मन और विहार के दिन अगले पाले आवेंगे।

साथही जब महाराज श्री कृपा करके सलुम्बर ग्राम को पावन करेंगे उस समय जीवहिंसा न करने की और भी प्रतिज्ञा ली जावेगी।

मेवाड़ के अन्य कतिपय क्षेत्रों ठिकानों और ग्रामों का पावन करते हुए महाराज श्री का मालव भूमि में पदार्पण हुआ।

रतलाम—नरेश महाराजा सर सज्जनसिंहजी सा.—संवत १९७८ का चातुर्मास रतलाम में हुआ। आश्विन कृष्णा १२ तदनुसार ता. २८ सितम्बर सन् १९२१ को हिज हायनेस मेजर जनरल महाराजा सर सज्जनसिंहजी साहब के सी एस आई के सी वी ओ अपने कौन्सिल के मेम्बरों सरदारों और अफसरों के साथ व्याख्यान सुनने के लिए पधारे। सरकार का स्वास्थ्य अच्छा नहीं था औषधि का सेवन हो रहा था तो भी १॥ घण्टे तक विराजकर बड़े ध्यान से महाराजा साहब का व्याख्यान सुनते रहे। बीच में ३-४ बार जैन दिवाकरजी म. ने व्याख्यान बंद करना चाहा किन्तु महाराजा सा. ने वैसा न होने दिया। आखिर में व्याख्यान के सम्पूर्ण होजाने पर आपने महाराजा श्री से निवेदन किया कि "अभी तो आप विराजेंगे ही मैं फिर भी दर्शनों का लाभ लूंगा।

सारंगी—रतलाम का चातुर्मास पूर्ण करके महाराज श्री सारंगी पधारे। वहां के ठाकुर सा. श्रीमान् जोरावरसिंहजी सा. ने बड़ी श्रद्धा भक्ति प्रदर्शित की। वहां महाराज श्री ने एक दिन परस्त्रीगमन-निषेध पर ओजस्वी भाषण दिया। इस व्याख्यान के प्रभाव से अनेक लोगों ने परस्त्रीगमन न करने की प्रतिज्ञा की। व्याख्यान के पश्चात् ठाकुर सा. की ओर से एक पत्र आया। उसमें ठाकुर सा. ने लिखा था—

"आप कृपापूर्वक मेरे गांव में पधारे। व्याख्यान सब पक्षपात रहित एवं उपदेश पूर्ण थे। अवसर न होने से आपका विराजना अधिक न हुआ इससे मैं असन्तुष्ट रहा। आज आपने परस्त्रीगमन निषेध पर जो व्याख्यान दिया वह बड़ा महत्व पूर्ण था। मुझे यह लिखते बड़ी प्रसन्नता होती है कि आपमें विषय को समझाने की ऐसी उत्तम रीति है कि जिससे हर एक बात मनुष्य हृदय पर असर कर जाती है। यहां की जनता को आपने धार्मिक और शारीरिक पतन से बचाया इसके लिए कोटिशः धन्यवाद। मैंने उस समय प्रतिज्ञा नहीं की थी इससे सम्भव है आपको शंका उत्पन्न हो, किन्तु उसका कारण था। वह यह कि मैं क्षत्रिय हूं। क्षत्रिय धर्म में परस्त्रीगमन निषिद्ध है। उसपर मुझे एक कविता याद है मैं इसको हमेशा याद रखता हूं और उसका पालन करता हूं।

—छप्पय—

यह विरद रजपूत प्रथम मुख झूठ न बोले।
यह विरद रजपूत काहू परत्रिय नहीं खोले॥

वृद्धाश्रम का उद्घाटन एवं उदयपुर से विहार का एक दृश्य—
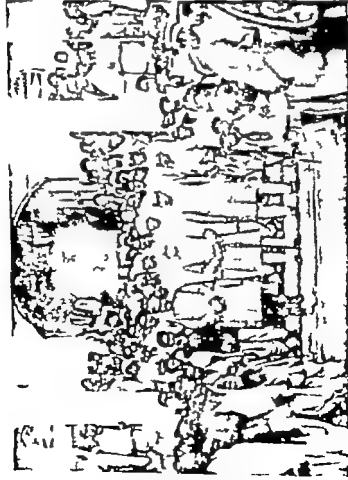
स्मरणजयन्ती के अवसर पर श्रीमान रायबहादुर राज्यभूषण सेठ कन्हैयालालजी साहेब भण्डारी इन्दौर के द्वारा चित्तौड़गढ़ वृद्धाश्रम के उद्घाटन का एक दृश्य।

सं० १९९६ के चातुर्मास के पूर्ण पर श्रीजैनदिवाकरजी महाराज

गंगापुर (मेवाड़) एवं सोपुर के जिनघर

४४

२१
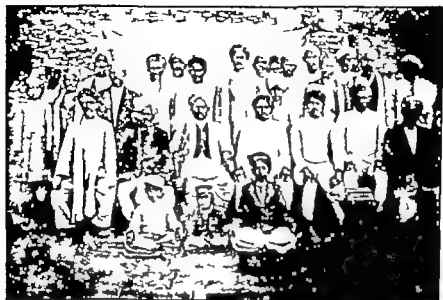
आप सभी जिनघर भाइयों ने श्रीजैन दिवाकरजी महाराज के उपदेशों से प्रभावित हो मदिरा और मांस का जीवनपर्यन्त त्याग कर जैन दीक्षा ली।

यह विरद रजपूत दान बकर कर ओरे।
यह विरद रजपूत मार मारिया दल मोरे।
उमराव पाँव पाछा धरे वांकि मतो अपभूतरो।
करतार हाथ दीधी करद यह विरद रजपूत रो॥"

उक्त पद्य से ठाकुर सा० की उत्कृष्ट भक्ति और गुणानुराग टपक रही है। एक दिन महाराज श्री ने "अहिंसा परमोधर्म" इस विषय पर व्याख्यान दिया। इससे ठाकुर सा० पर पर्याप्त असर पड़ा। फलस्वरूप उन्होंने अपने राज्य में दो सरक्यूलर जारी किये। एक सरक्यूलर द्वारा सारंगी परगने में बिना इजाजत शिकार करने की पाबन्दी लगायी गई और दूसरे के द्वारा धार्मिक पर्व तिथियों तथा पर्यूषण पर्व के दिनों में मछलियों के शिकार की सर्वथा रोक कर दी गई। ठाकुर सा० महाराज के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते हैं।

नामली—यहां के ठाकुर सा० श्रीमान् मानमहिपालसिंहजी सा० तथा उनके राजकुमार श्री राजेन्द्रसिंहजी सा० ने महाराज श्री के नामली पधारने पर अच्छी भक्ति प्रदर्शित की। आपने व्याख्यान श्रवण किया और उससे प्रभावित होकर महावीर तथा पार्श्वनाथ जयन्ती के दिन अगते रखना मंजूर किया।

पंचेड़—जैन दिवाकरजी म० सा० संवत् १९९२ में पंचेड़ पधारे। यहां के ठाकुर सा० श्रीमान् रघुनाथसिंहजी और उनके सुयोग्य भ्राता श्री चैनसिंहजी सा० जैन धर्म से पहले पहल इसी बार महाराज श्री के द्वारा परिचित हुए। महाराज श्री के व्याख्यानों और सदुपदेशों का आप पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि आपने कतिपय जानवरों को न मारने की प्रतिज्ञा करली। जैन साधुओं में से सर्व प्रथम महाराज श्री से ही पंचेड़ के ठाकुर सा० का परिचय हुआ और ठाकुर सा० बड़े प्रभावित हुए। तब से जैन साधु तथा जैन धर्म के सम्बन्ध में उनकी बड़ी श्रद्धा होगई।

सैलाना—यहां के श्रीमंत सरकार श्री दिलीपसिंहजी सा० ने जैनदिवाकरजी महाराज के तीन व्याख्यान श्रवण किये तथा व्याख्यान के अन्त में अपनी हार्दिक भक्ति प्रकट करते हुए आपने कहा कि-सचमुच आप जैसे निःस्वार्थ त्यागी महोपदेशकों की वाणी में ही ओजस्विता और आकर्षण-शक्ति रहती है और इसके द्वारा अनेक उपकार होते रहते हैं। आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप यह चातुर्मास यहीं करें। उत्तर में महाराज श्री ने फरमाया कि 'यह चातुर्मास तो उदयपुर के लिये निश्चित हो चुका है। तब आपने उपस्थित जनता की ओर देखकर कहा कि आगामी चातुर्मास यहीं कराने की आप लोग अवश्य कोशिश करना। महाराज श्री से भी विनती स्वीकार करने की कृपा करने की प्रार्थना की।

सीतामऊ—सं० १९९१ में जैन दिवाकरजी महाराज सीतामऊ पधारे। यहां के हर

दार, राजकुमार और महारानियों ने सवा घण्टे तक महाराज श्री का मधुर उपदेश श्रवण किया। वहां से महाराज श्री भाटखेड़ी पधारे। यहां के रावतजी सा श्री विजयसिंहजी सा श्री स्वागत के लिये सम्मुख आये थे। रावतजी सा के आग्रह से राज कचहरी में व्याख्यान हुए। रावतजी सा ने महावीर जयन्ती और पार्श्वनाथ जयन्ती के दिन राज्य में अगता पालने की प्रतिज्ञा की।

रायपुर—ता २१ मई १९३५ को मुनि श्री रायपुर पधारे। स्वागत के लिये श्रीमान् रावतजी सा बड़ी दूर तक पधारे थे। जय ध्वनि के साथ मुनि श्री का ग्राम में पदार्पण हुआ। मुनि श्री ने मांगलिक के स्तवन फरमाये तत्पश्चात् श्रीमान् रावतजी सा ने उपस्थित जनता को सन्देश सुनाया कि आज वे मुनिराज हमारे यहां पधारे हैं जिनका मधुर उपदेश विश्ववन्द्य मेवाड़ निवासी न श्रवण किया हमारा यह अहोभाग्य है कि मुनि श्री का यहां शुभागमन हुआ है। मेरे पास ऐसा कोई शब्द नहीं है कि मैं मुनिमहाराज की तारीफ कर सकूं। तत्पश्चात् रावतजी सा ने दया विषय का पट्टा भेंट किया।

आषाढ़ शुक्ला पञ्चमी को मुनि श्री कुमाड़ी पधारे। दोपहर का कप्तान दौलतसिंहजी सा मुनि श्री की सेवा में पधारे। सायंकाल को रावसाहब श्री विजयसिंहजी सा दर्शन के लिये पधारे। दूसरे दिन यहीं व्याख्यान हुआ। कोटा से अनेक स्त्री पुरुष व्याख्यान सुनने के लिये आये थे। वहां से महाराज श्री कोटा पधारे।

कोटा नरेश—ता २४ सितंबर १९३५ को याद घर (कासर्वेट इन्स्टिट्यूशन) में जैन दिवाकरजी म का लगभग डेढ़ घण्टे तक अनुपम व्याख्यान होता रहा। लेफ्टिनेन्ट कर्नल हिजहाइनेस श्री महाराव सर उम्मेदसिंहजी साहब बहादुर जी० सी० एस० आई जी सी० आई० ई जी बी० ई कोटा नरेश महाराज कुमार सा मेजर जनरल श्री ओंकारसिंहजी सा सी आई ई दीवान कोटा स्टेट राजा साहब कुमाड़ी प्राइवेट सेक्रेटरी जज साहब कमिश्नर साहब माल आदि राज्य के सभी अधिकारी व्याख्यान में उपस्थित थे। अहिंसा तथा आत्म तत्व का बड़ी मनोहर शैली से महाराज श्री ने प्रतिपादन किया। समस्त उपस्थित वर्ग पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। मुनि श्री के इस व्याख्यान की नगर भर में चर्चा रही क्योंकि "याद घर" में कोटा नरेश के सम्मुख जैन मुनि का यह प्रथम ही भाषण हुआ है।

हाड़ौती प्रान्त में विचरते हुए मुनि श्री पीपलदा पधारे। यहां आपके सार्वजनिक व्याख्यान हुए। इन प्रभावशाली उपदेशों से प्रभावित होकर सरकार ने प्रत्येक महिने की एकादशी एवं अमावस्या को मूक पशु पक्षियों का शिकार करना तथा मांस भक्षण करना छोड़ दिया। गेंता में मुनि श्री का एक व्याख्यान आम बाजार में हुआ और दूसरा सरकारी महलों में। समस्त राजवर्गीय जनता ने उप-

देश भषण का लाभ लिया। रानीवास से भी माँ साहिया महारानी साहिया आदि व्याख्यान सुन रही थीं। मुनि श्री के ओजस्वी व्याख्यान श्रवण कर गंता के महाराज श्री तेजराजसिंहजी मा० तथा उनके लघु भ्राता श्रीमान् यशवन्तसिंहजी मा० ने जीवन पर्यन्त मदिरा पान का त्याग कर दिया उस दिन उन्होंने गरीबों व अनाथों को भोजन प्रदान किया। तथा चैत्र शुक्ल त्रयोदशी और पोष कृष्ण दशमी को स्टेट भर मे अगता रखने के लिये अगता रखने का पट्टा मुनि श्री की सेवा में भेंट किया।

ता० २१-१-३६ को मुनि श्री इन्द्रगढ़ शहर में पधारे। यहाँ दीवान साहब राज साहब आदि राज्य कर्मचारियों और शहर की जैन अजैनेतर समस्त जनता व्याख्यान में उपस्थित थी। जैन दिवाकरजी म० ने अहिंसा पर सारगर्भित प्रवचन करते हुए देवी देवताओं के नाम पर होने वाले बलिदानों की सख्त टीका की। इस लोमहर्षण प्रथा का अन्त करने के लिये महाराज श्री ने यहाँ के नरेश से अनुरोध किया। दरबार बोले कि इस विषय पर जरूर विचार किया जायगा। अभी तो मैं इतना कहता हूँ कि महावीर जयन्ती और पार्श्वनाथ जयन्ती के दिन स्टेट भर में पशु-वध बन्द रहेगा।

इसी तरह उनीयारा के नरेश श्रीमान् सरदारसिंहजी सा० उनके राजकुमार तथा अन्य राज कर्मचारी एवं नागरिक जनता ने व्याख्यान श्रवण किया। यहाँ के दरबार श्री ने महाराज श्री की स्तुति करते हुए अनुरोध किया कि जैन धर्म की कर्म फिलासफी बड़ी गहन है अतएव आज आप इसी विषय पर उपदेश फरमायें। महाराज श्री ने बड़े ही सरल एवं सरस शब्दों में दो घण्टे तक कर्म सिद्धान्त पर विवेचन किया। दरबार श्री पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा और उन्होंने महावीर जयन्ती और पार्श्वनाथ जयन्ती के दिन स्टेट भर में अगता पालने का अभिवचन दिया। इसी तरह बणजारी बेड़ाला पचेवा तथा विजयपुर के ठाकुर सा० ने व्याख्यान सुन कर अनेक प्रतिज्ञायें लीं।

तात्पर्य यह है कि मेवाड़ मालवा तथा मारवाड़ के अनेकानेक नरेशों ठाकुरों एवं जागीरदारों को अपने प्रभावशाली प्रवचनों से प्रभावित करके महाराज श्री ने जीव दया के प्रचार का भगीरथ प्रयास किया है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट विदित होता है कि महाराज श्री ने अपना ध्येय जीव दया प्रचार का बनाया और जहाँ कहीं भी आपका पदार्पण हुआ वहाँ आपने इसके लिये बड़ा परिश्रम उठाया। महाराज श्री ने जितने नरेशों और ठाकुर साहबों को उपदेश देकर जीव हिंसा की आंशिक बन्दी करवाई उतने नरेशों और ठाकुर साहबों पर अन्य किसी भी वर्तमान जैन मुनि का प्रभाव नहीं है यह अनुपम प्रतिभा जैन दिवाकरजी म० को ही प्राप्त है। पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि आपके उपदेशों से कितने मूक प्राणियों को अभयदान मिला है। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि जैन

दिवाकरजी म. ने अपना सम्पूर्ण जीवन ही धर्मोपदेश एवं जीव दया के प्रचार के निमित्त अर्पित कर दिया।

सामाजिक सुधार।

जैन दिवाकरजी म० के प्रवचनों में मनरंजन की ही सामग्री नहीं होती है अपितु वे अनमोल शिक्षाओं से भरे हुए होते हैं। अलबत्ता इतना जरूर है कि आप हितशिक्षाओं को भी ऐसे ढंग से कहते हैं कि उससे अरुचि उत्पन्न नहीं होती। मनोरंजन के साथ ही साथ जीवनोपयोगी समुचित शिक्षाओं से ओत प्रोत व्याख्यान प्रदान करना आपकी एक मुख्य विशेषता है। आपके व्याख्यानों के द्वारा समाज का सामाजिक एवं नैतिक माप दंड ऊंचा उठा हुआ है। आप अपने व्याख्यानों में पाण्डित्य का प्रदर्शन नहीं करते लेकिन जीवनोपयोगी शिक्षा को ऐसे सरल और सुबोध शब्दों में कह जाते हैं कि वह आबाल वृद्ध के हृदय में आसानी से असर कर जाती है। यही कारण है कि आपके व्याख्यानों के द्वारा अनेक ग्रामों में अनेक जातीय एवं सामाजिक सुधार हो सके हैं। आप श्री के सदुपदेश से अनेक ग्रामों के पारस्परिक जातीय मनमुटाव और वैमनस्य दूर हुए जातीय और सामाजिक रीति रिवाजों में आपके सदुपदेश से बहुत कुछ सुधार हुआ। सच्चे धर्मोपदेशक का यह कर्तव्य है कि वह आध्यात्म और मोक्ष की बातें समझाने के पूर्व सामान्य जनता को धर्म की व्यवहारिकता का ज्ञान करावे और धर्म के आधार रूप नीति और सामाजिक रीति के सुधार की ओर आम जनता का लक्ष्य आकर्षित करे। श्री जैन दिवाकरजी म. ने यह कार्य बहुत अच्छी तरह किया है। आपके व्याख्यानों में से आम जनता को व्यवहारिक धर्म और समाज सुधार की प्रेरणा मिलती है। यहां उदाहरण के तौर पर कतिपय समाज सुधारों का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है जो जैन दिवाकरजी म. के सदुपदेशों के कारण हुए हैं।

संवत १९६५ में उदयपुर के समीप मोई नामक ग्राम में जैन दिवाकरजी म. पधारे। वहां भीलों ने जो तीन चार हजार भीलों के अग्रगण्य माने जाते थे आपके व्याख्यान सुने। आपके सरल उपदेश से उन भीलों के हृदय पर बड़ा प्रभाव पड़ा और उनके दिल में दया का संचार हुआ। उन लोगों ने महाराज श्री से प्रार्थना की कि हम हमसे बने वहां तक हिंसा न करने की प्रतिज्ञा को तय्यार हैं लेकिन यहां के महाजनों को न्यूनाधिक न तौलने की शपथ दिलावें। भीलों का कथन सर्वथा उचित ही था अतएव महाराज श्री ने वहां के महाजनों को समझाकर न्यूनाधिक तौलने मापने की शपथ दिलाई। तत्पश्चात् भीलों ने अपने कथनानुसार हिंसा न करने की प्रतिज्ञा ली। भीलों ने चार भी इस प्रकार प्रतिज्ञाएं की।

(१) वन में दावाग्नि नहीं लगावेंगे।

(२) मनुष्य को किसी प्रकार की पीड़ा न देंगे।
(३) विवाह शादी के मौके पर मामा की ओर से भैंसे बकरे आदि आते और वे मारे जाते हैं किन्तु आज से हम ऐसा नहीं होने देंगे और उन आने वाले पशुओं को अमर कर दिया करेंगे।
(४) उक्त प्रतिज्ञायें हमने आपके सम्मुख की हैं। हम हमेशा इन्हें निभाते रहेंगे।

कहने की कोई आवश्यकता नहीं है कि महाराज श्री के अमृतमय सदुपदेश से कितना भारी उपकार हुआ। इसमें कोई अत्युक्ति नहीं कि भीलों पर ऐसा अचोट प्रभाव अन्य किसी का नहीं पड़ा।

हमीरगढ़ में १६ वर्षों से हिन्दुओं में तथा छीपाओं में पारस्परिक वैमनस्य चल रहा था। अनेक धर्मोपदेशकों ने इस वैमनस्य को दूर करने के लिये प्रयत्न किया परन्तु परिस्थिति ऐसी थी कि उनमें मेल होना अशक्य सा होगया था। जैन दिवाकरजी म० जब हमीरगढ़ पधारे और यह समाचार उन्हें मालूम हुए तो उन्होंने इसके लिये उपदेश फरमाया। आपके उपदेश का उन लोगों पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि जो कार्य असम्भव सा लगता था वह सम्भव होगया। दोनों जातियों में मेल होगया। इसी तरह माहेश्वरी तथा महाजनों में भी मनमुटाव था सो महाराज श्री के सद्प्रयत्न से दूर होगया।

चित्तौड़ में ब्राह्मण जाति में कई वर्षों से पारस्परिक ईर्षा के कारण दो तड़ें पड़ी हुई थीं। महाराज श्री के सदुपदेश से वे तड़ें मिटगईं और सब एक होगये। हाकिम सा ने इस मिलन की खुशी में सब को प्रीति भोज दिया।

गंगार में अनेक जातियों में तड़ बन्दियां हो रही थीं। महाराज श्री के प्रयत्न से अनैक्य दूर होगया और सबमें पारस्परिक मैत्री स्थापित हुई।

नंदराय ग्राम में कई ओसवाल अजैन होरहे थे। महाराज श्री ने उन्हें प्रतिबोध देकर पुनः जैनी बनाया। जहाजपुर में अजैनों में मनमुटाव था सो महाराज श्री ने दूर किया महाराज श्री के सामाजिक सुधार के सम्बन्ध में दिये गये व्याख्यान के कारण दिगम्बर तथा माहेश्वरी लोगों ने यथाशक्य कन्या विक्रय आतिशबाजी तथा सात कुव्यसनों को छोड़ने की प्रतिज्ञा की। अनेक नागरिकों ने दुर्व्यसनों का त्याग किया।

एक दिन जब महाराज श्री प्रातःकाल शौचकर्म से निवृत्त होकर पधार रहे थे तब वेश्याओं ने मार्ग में खड़े होकर प्रार्थना की कि "मुनिवर! आप हमारी आजीविका पर लात मारने पधारे हैं! आपने वेश्या-नृत्य की प्रथा को बन्द करवा कर हमारी रोजी छीन ली आदि"। इस पर मुनि श्री ने फरमाया कि समाज के नैतिक जीवन के लिये घातक प्रथाओं का निवारण करना ही धर्म और कर्त्तव्य है। आप को अपने जीवन निर्वाह के लिए अन्य अनेक सात्विक

उपायों का अवलम्बन लेना चाहिए। कुप्रथाओं का निवारण करना हमारा धर्म है। महाराज श्री के इस कथन से वेश्याओं पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

संवत १९७७ के फाल्गुन कृष्ण दशमी को महाराज श्री का चित्तौड़ में पदार्पण हुआ। आपने वहाँ सामाजिक रीति रिवाजों पर व्याख्यान फरमाते हुए कन्या विक्रय के दुष्परिणामों पर व्याख्यान फरमाया। आपके सदुपदेश का वहाँ के जैन एवं जैनेतर जनता पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा। ओसवाल माहेश्वरी समाज ने जाति प्रचलित इस कुरीति का हमेशा के लिए अन्त कर दिया। उन्होंने यह सामाजिक नियम बना लिया कि जो कन्या विक्रय करेगा उसको जातिदण्ड मिलेगा। यदि कोई व्यक्ति असमर्थ हो और कन्या का विवाह करने की उसके पास सामग्री न होगी तो पंचायती फण्ड में से ४००) रु० तक बिना सूद के दिए जायेंगे जिनको वह अपनी सहूलियत से अदा करेगा। चित्तौड़ के ओसवाल एवं माहेश्वरी समाज में तब से कन्या विक्रय की प्रथा का अन्त हो गया। यह आपके सदुपदेशों से होने वाले सामाजिक सुधारों में से एक सुधार का नमूना मात्र है। वहाँ के सुनारों ने एकादशी एवं अमावस्या को अग्नि से काम करने का धंधा बन्द करने की प्रतिज्ञा की। मोचियों ने हर अमावस्या व पूर्णिमा को मांस मदिरा सेवन न करने की प्रतिज्ञा की। इसी प्रकार कुम्हारों ने अवाड़े न भरने की तथा गाड़ीवालों ने परिमाण से अधिक बोझा न लादने की प्रतिज्ञा की।

जैन दिवाकरजी म० सा० के सदुपदेश से अनेक जातियों के सामाजिक रीति रिवाजों में बड़ा भारी सुधार हुआ। समाज के नैतिक और धार्मिक जीवन को ऊँचा उठाने के लिये आपने प्रचलित अनेक प्रथाओं का विरोध किया और बाल विवाह, वृद्धविवाह, अनमेल विवाह, बहुविवाह, मृत्युभोज, आतिशबाजी, वेश्या नृत्य, फिजूलखर्ची, व्यसन, जुआ, सट्टा, अशिक्षा, बेकारी आदि के सम्बन्ध में प्रभावपूर्ण प्रवचन करके समाज को इनके दुष्परिणामों का भान कराया और इन कुरीतियों को त्यागकर नवीन समाज के निर्माण की प्रेरणा की।

आपके सदुपदेशों के फलस्वरूप जो सुधार अस्तित्व में आये उनको दृष्टि में रखते हुए यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि समाज सुधारक के रूप में आपका अपना विशिष्ट स्थान है।

पतितपावन के रूप में

जैन दिवाकरजी म० की यह बड़ी भारी विशेषता है कि आप जहाँ पुण्णस्स कत्थई तहा तुच्छस्स कत्थई अर्थात् जिस निष्काम बुद्धि से पुण्यशाली राजा महाराजा तथा श्रीमानों को उपदेश प्रदान करते हैं उसी निष्काम भाव से तुच्छ गिने जाने वाले समाज के द्वारा उपेक्षित एवं सामान्य समझे जाने वाले जन को भी उपदेश का दान करते हैं। एक ओर आप राजा महाराजा सेठ

साहूकारों को अपने परम पावन प्रवचनों से प्रभावित करते हैं तो दूसरी ओर चमारों खटीकों वेश्याओं और चोरों को अपने पवित्र उपदेशों से वंचित नहीं रखते। महाराज श्री के उपदेशों से अनेक कुमार्ग में गमन करने वाली आत्माओं ने सन्मार्ग ग्रहण किया है। अनेकों मानवों का जीवन सुधरा है। कईयों की जीवन दिशा ही बदल गई है अनेकों पापात्माओं का हृदय-परिवर्तन हुआ है। दुर्व्यसनों के चक्कर में फंसे हुए अनेकों प्राणियों का आपने उद्धार किया है। महाराज श्री के सदुपदेश से कई हिंसकों ने हिंसा का त्याग किया है। कई मद्य व मांस के भोक्ताओं ने उनका त्याग किया है। कई चोरों ने चोरी करना छोड़ी है तथा कई गंजेड़ी एवं भंगेड़ियों ने गांजा व भांग का परित्याग किया है। तात्पर्य यह है कि आपका सदुपदेश अनेकों पतित आत्माओं को पावन करने वाला अमोघ मंत्र है।

अलेसर (यू पी) में जैन दिवाकरजी म. का प्रवचन हो रहा था। हजारों नर नारी वक्ता जादूगर की ओर टकटकी लगा कर उपदेश श्रवण कर रहे थे। महाराज श्री ने उस दिन चोरी न करने का उपदेश फरमाया था। महाराज श्री चोरी के दुष्परिणामों का विवेचन कर रहे थे इतने में ही सभा के बीच में से एक एक व्यक्ति खड़ा होकर बोला महाराज मैं सात बार जेल भोग कर आया हूं। मैंने अनेकों चोरियां की है और कई धाड़े डाले हैं। जेल के दण्ड का मुझ पर कोई असर नहीं हुआ। आपके उपदेश से मेरा हृदय बदल गया। अब आप मुझे चोरी न करने की प्रतिज्ञा करवा दीजिए। लोग विस्फारित नेत्रों से उस व्यक्ति की ओर देखने लगे लोगों ने जाना कि यह तो पक्का लुटेरा और हत्यारा है। इसका एक दम इतना परिवर्तन !! आश्चर्य में भी आश्चर्य !! जैन दिवाकरजी म. की वाणी में कैसा जादू है यह उसका एक नमूना है। एक बार नहीं दो बार नहीं सात सात बार जेल में लम्बी २ सजाएं भोग चुकने पर भी जिस व्यक्ति का चोरी से अरुचि उत्पन्न न हुई वही व्यक्ति जैन दिवाकरजी म. के एक व्याख्यान को सुन कर इतना प्रभावित हो जाता है कि वह आजन्म चोरी न करने के लिये प्रतिज्ञा बद्ध हो जाता है। महाराज श्री का एक ही व्याख्यान उस पतित हत्यारे व लुटेरे के जीवन को बदलने के लिए पर्याप्त हुआ।

कसूर (धार)—में जब महाराज श्री उपदेश फरमाते थे तो आस पास के गांवों के चमार भी व्याख्यान सुनने को आते थे। महाराज श्री के व्याख्यानों को सुन कर चमारों ने मांस तथा मदिरा का त्याग किया कसूर में पंचमूर्ती ग्राम्वराड़ बड़लावदा बखतगर के पंच एकत्रित हुए और उन्होंने जाति की ओर से मद्य मांस के सेवन पर प्रतिबन्ध लगा दिया और निम्न प्रतिज्ञा की—

इकरार लिखतम वासे चमार पंचमूर्ती वासा गुलाजी चौधरी सकल पंच मालवा खानरोद के धासीजी सकल पंच बड़लावदा वासा लालाजी बखतगर के

सर पच मोतीजी पटेल—इन चार गांव के पंच मन्जूर में इकट्ठ हुए। चम्पाबाई के यहां गंगाजल हुआ जिसमें पूज्य श्री १००८ श्री मन्नालालजी महाराज के सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध वक्ता श्री चौथमलजी म० सा के सदुपदेश से सबने यह प्रतिज्ञा की है कि जो दारु पीएगा और मांस खायेगा वो जात से बन्द होवेगा। अर्थात् जाति से छह महीना अलग रहेगा। और ११) रु दंड के देने होगें। यह इकरार मामा महिदपुर, उज्जैन कायरोद धुलेवा पिपलोदा जावरा मन्दसौर चित्तौड़ रामपुरा भानपुरा शुक्लेश्वर मनासा अगराबन ६ गांवों में माना जावेगा। सं १९७८ फाल्गुन वदी ६ ता ११-२-२२।

उक्त इकरार नामा मन्जूर होजाने पर चमारों ने मांस खाना और शराब पीना बन्द कर दिया। इससे शराब के ठेकेदार को आर्थिक ठेस लगी इसलिए वह बड़ा क्रोधित हुआ। उसने सरकार को इत्तला की। स्वार्थी सरकारी अधिकारियों ने चमारों को बुलाकर धमकाया और सख्ती का बर्ताव किया। तब उन लोगों ने दृढ़ता के साथ कहा कि भले ही गर्दन पर तलवार रख दी जाय लेकिन हम प्रतिज्ञा का भंग न करेंगे। सत्ता का दुरुपयोग करने वाले अधिकारियों ने एक चमार के मुख में जबरन शराब उंडेल दीया। उसने शराब नहीं पी। किन्तु प्रतिज्ञा को सर्वथा अक्षुण्ण रखने और दृढ़ता के साथ पालने के आशय से पंचों ने स्पर्शमात्र पर ही ११) रु० का दण्ड किया और उसकी मिठाई वितरित की। पंचों का आशय यह प्रकट करने का था कि शराब के स्पर्श से भी इतना दंड होता है तो पीने से कितना होगा? चमार लोग अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे इस तरह कतिपय मांसाहारियों ने मांस तथा मदिरा पान करने वालों ने मदिरा का त्याग किया है। यह जैन दिवाकरजी म के सदुपदेश का पुण्य प्रभाव है।

श्री जैन दिवाकरजी म ने अनेकों खटीकों (हिंसकों) को अपने उपदेशामृत का पान करवाकर हिंसा के महान् पाप से छुड़ाये। संवत् १९७ में भीलवाड़ा (मेवाड़) के १५ खटीकों ने महाराज श्री का दयामय सदुपदेश श्रवण कर हमेशा के लिये अपना हिंसक पेशा स्वेच्छा से बन्द कर दिया और दूसरे व्यवसाय के द्वारा वे अपना निर्वाह करने लगे। इसी तरह सवाईमाधोपुर में आपके उपदेश से १० खटीकों ने कसाईपने का धन्धा छोड़ दिया और मजदूरी और काश्तकारी करने लगे। इसका परिणाम द्रव्य और भाव-उभय रूप से बड़ा लाभकारी हुआ। वे लोग कहते हैं कि 'हम उस हिंसक पेशे को छोड़कर अब बड़े आराम में हैं। जैन दिवाकरजी महाराज ने हमारा जीवन सुधार दिया। जब हम हिंसकपेशा करते थे तब हमको भरपेट अन्न भी नहीं मिलता था और न वस्त्र ही पहिनने के लिये मयस्सर होते थे। अब हम सुख पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं। यह सब श्री जैन दिवाकरजी म के आशीर्वाद और सदुपदेश का फल है'। महा श्री ने संवत् १९७१ में मैं आगरा से मालवा के प्रति पधारते हुए कोटा के समीप मार्ग में एक खटीक को सोता हुआ देखा। उसके पास दो बकरे बँधे हुए थे। महाराज श्री ने अनुमान से

जान लिया कि यह सोने वाला व्यक्ति बधिक है। वह खटीक कुछ समय बाद जगा उसके जगने पर महाराज श्री ने उसे प्रतिबोध दिया कि 'भाई! तू यह पाप किस लिए करता है? जीवननिर्वाह के तो अन्य अनेक साधन हैं। तुमको समझना चाहिए कि जो जैसा कर्म करता है उसीके अनुसार उसे फल मिलता है। अगर तुम पाप कर्म करोगे तो उसका बुरा फल भी तुम्हें भोगना पड़ेगा। दूसरा मनुष्य उसका फल भोगने नहीं आवेगा। यह हमेशा ध्यान में रखना चाहिए कि जो दूसरों को दुख देता है वह स्वयं दुखी होता है। इन मूक प्राणियों को भी दुख सुख का भान होता है। इनको भी वेदना होती है। जैसे तुम्हारे शरीर में सुई चुभाने से वेदना होती है वैसे ही इन मूक पशुओं को भी होती है। तुम्हें जैसे अपने प्राण प्रिय हैं क्या वैसे इन जानवरों को प्रिय नहीं है? सोचो! समझो! विचार करो! हिंसा का परिणाम अच्छा नहीं होता। कोई हिंसक कभी सुखी नहीं हुआ। तुम्हीं बताओ-क्या तुम सुखी हो? तुम्हारे शरीर पर पूरे वस्त्र भी नहीं है। इससे मैं अनुमान करता हूँ कि भी तुम्हें पूरी सामग्री प्राप्त नहीं होती होगी। यदि यह ठीक है तो तुम इस हिंसक पेशे को छोड़ क्यों नहीं देते? दुनियां में कई दूसरे धन्धे हैं जिनसे सुखपूर्वक जीविका चल सकती है। देखो! मालपुर में भी मेरे कहने से १० खटीकों ने वध करना छोड़ दिया और दूसरे धन्धे लग गये तभी से वे सुखी हैं। मेरा कहना मानकर तुम इस धन्धे को छोड़दो तो तुम्हें सब तरह से लाभ होगा।

यह उपदेश सुनकर वह खटीक कहने लगा कि 'हां महाराज! आप कहते हैं सो सब ठीक है। मैं परमात्मा को सर्व व्यापी मानकर चन्द्र सूर्य की साक्षी से यह प्रतिज्ञा करता हूँ कि जब तक जीऊंगा तब तक कभी इस धन्धे को न करूँगा परन्तु आपके साथ जो भक्त हैं उनसे मेरी प्रार्थना है कि मैं गरीब आदमी हूँ। मेरे पास ये दो और तीन दूसरे बकरे मेरे घर पर हैं। इनको आप खरीदकर मुझे रुपये दे दें तो मैं दूसरा धन्धा कर सकूं।' साथ के श्रावकों ने उसकी प्रार्थना मानली। तब से उसने कसाईपने का व्यवसाय छोड़ दिया और कृषि करता हुआ अपना सुखपूर्वक निर्वाह करने लगा।

इस प्रकार जैन दिवाकरजी म. सा. ने अनेक खटीकों के जीवन का परिवर्तन कर दिया। जो खटीक सैकड़ों प्राणियों का वध करके पाप के भयंकर भार से लद जाते थे उन्हें जीवदया का उपदेश देकर महाराज श्री ने उनका यह भव और परभव सुधार दिया। खटीकों के जीवन का सुधार होने के साथ हजारों प्राणियों को स्वयमेव अभयदान मिल गया। जीवदया की यही सुन्दर प्रणालिका है। हिंसकों को उपदेश देकर हिंसा छुड़ाना सच्ची जीवदया है। इससे हिंसक और हिंस्य दोनों का महान् उपकार होता है। जैन दिवाकरजी म. सा. ने सैकड़ों वधिकों को जीवदया के उपदेश के द्वारा हिंसा से बचाकर हजारों मूक पशुओं को मृत्यु के घाट उतरने से बचाये हैं। सैकड़ों वधिक हिंसक पेशे को छोड़ अपना सुधार

कर सके हैं यह जैन दिवाकरजी म० के सदुपदेश का ही फल है।

समाज से उपेक्षित वेश्याएँ भी आपके पवित्र उपदेशामृत का पान करके सन्मार्ग पर आरूढ़ हुई हैं। जोधपुर में जैन दिवाकरजी म के प्रवचनों की धूम थी हजारों की संख्या में नरनारी व्याख्यान सुनने के लिये आते थे। बड़े बड़े उच्च अधिकारी एवं प्रतिष्ठित राज्यकर्मचारी महोदय भी प्रतिदिन व्याख्यान श्रवण करने के लिये आते थे। वेश्याएं भी प्रवचन सुनने के लिए आती थीं। जैन दिवाकरजी म० के पवित्र उपदेशों को सुनकर कतिपय वाराङ्गनाओं (वेश्याओं) ने अपना पेशा छोड़ दिया। कोई ने मर्यादा बांधली। सचमुच समाज के लिए यह अंग बड़ा भारी कलंक रूप है। इसके लिए इन वाराङ्गनाओं को इतना दोष नहीं दिया जा सकता जितना इस प्रवृत्ति को उत्तेजना देने वाली सामाजिक कुप्रथाओं को दिया जाना चाहिए। समाज में प्रचलित दूषित रीतिरिवाजों से तथा स्त्री जाति के प्रति की जाने वाली सामाजिक उपेक्षावृत्ति से बाध्य होकर अनेक स्त्रियों को इस पेशे के लिए मजबूर होना पड़ता। इसलिए इस समाज के लिए कलंकभूत अंग के लिए पुरुष-समाज अधिक जवाबदार एवं दोष का भागी है। अस्तु।

वेश्यावर्ग समाज के लिए कलंक रूप है तथापि इसकी ओर सर्वथा उपेक्षा और तिरस्कार प्रकट करना और भी अधिक घातक है। आवश्यकता इस बात की है कि इसके मूल कारणों को ढूंढकर उनका अन्त कर देना चाहिए। तिरस्कार बुद्धि या उपेक्षा बुद्धि से कोई लाभ नहीं होता। इसलिए समाज से उपेक्षित इस वर्ग को भी जैन दिवाकरजी म ने अपने पवित्र उपदेश से सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया और अनेक वेश्याओं ने अपना यह पेशा छोड़ दिया तथा यह प्रतिज्ञा की कि हमारे जो लड़कियां हैं उन्हें इस पेशे में न डालकर उनका विवाह कर दिया जावेगा।

खटीकों चमारों मोचीं वेश्याओं एवं तुच्छ समझी जाने वाली अन्य जनता को भी अपने उपदेश द्वारा सन्मार्ग दिखलाने वाले जैन दिवाकरजी म सचमुच पतित-पावन हैं। नीचे गिरे हुए तथा सन्मार्ग को भूले हुए वर्ग को ऊँचा उठाने लिए जैन दिवाकरजी म का भरसक प्रयत्न है। सामान्य जनता के नैतिक व धार्मिक जीवन को ऊँचा उठाने के लिए आपने पर्याप्त परिश्रम उठाया है और उठा रहे हैं। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि मानव जाति की नैतिक व धार्मिक प्रगति के लिए आप देवदूत का काम कर रहे हैं। आपके वचनातिशय का ऐसा अद्भुत प्रभाव है कि साधारण जनता उसे सुनते ही प्रभावित हो जाती है। साधारण-वर्ग को अपने उपदेश से प्रभावित करने में आपको कमाल की शक्ति हासिल है। इस अद्भुत शक्ति के कारण आपने अनेकों पतितों का उद्धार किया है अतएव पतित—पावन जैन दिवाकरजी म मानव जाति के उच्च कोटि के सुधारक कहे जासकते हैं।

—यूरोपियन टेलर सा की भक्ति—

न केवल भारतीय वरन् यूरोपियन सज्जन-जो जैन दिवाकरजी म के सम्पर्क में आये हैं—आपके अनुपम व्यक्तित्व और वक्तृत्व से आकर्षित हुए हैं। जैन दिवाकरजी म ने अपने सम्पर्क में आने वाले पाश्चात्य व्यक्तियों को भी अहिंसा का पावन संदेश सुनाकर मद्यमांस के सेवन की आंशिक मर्यादा करवायी है। यूरोपियन टेलर सा की चारत्र नायकजी के प्रति हार्दिक भक्ति एवं श्रद्धा है।

संवत् १९७० के चित्तौड़ के चातुर्मास में अफीम के चीफ ऑफिसर यूरोपियन टेलर सा नियमित रूप से जैन दिवाकरजी म के व्याख्यान सुनने के लिए आने लगे। प्रवचनों से टेलर सा बहुत अधिक प्रभावित हुए और उनके हृदय में जैन दिवाकरजी म के प्रति गहरी श्रद्धा जम गई। आप अब अधिक निकट सम्पर्क में आने लगे। महाराज श्री उस समय भगवती सूत्र फरमाते थे। उसमें परमाणु के सम्बन्ध में अनेक प्रश्नोत्तर किये गये हैं। जैन दिवाकरजी म के मुखारविन्द से परमाणु की चर्चा सुनकर टेलर सा ने कहा कि आपके यहाँ एटम (परमाणु) की बड़ी सूक्ष्म चर्चा की गई है। आपके ग्रन्थों में कितने समय पूर्व से एटम की चर्चा है? हमारे यहाँ तो इसका पता लगे २५० वर्ष ही हुए हैं। टेलर सा. के इस कथन के उत्तर में महाराज श्री ने फरमाया कि हमारे ग्रन्थों में तो इसकी चर्चा अत्यन्त प्राचीन काल से है। लगभग ४५ ० वर्ष पूर्व से ही परमाणु की चर्चा हमारे धर्म में है। एक दिन टेलर सा ने जैन धर्म के प्रति अपने उद्गार इस रूप में प्रकट किये—"आपका धर्म वास्तव में प्रशंसनीय एवं आदरणीय है। फिर क्यों न सारा संसार इस पर अपनी श्रद्धा प्रकट करे आपके तत्त्व अति प्रशंसनीय और बुद्धि संगत है ही साथ ही आपका त्याग भी बड़ी उच्च कोटि का है परन्तु संसार उसे स्वीकार करने में कठिनता का अनुभव करता है। आपके धर्म के नियम आचार विचार आदि का पालन करना बड़ा कठिन है। इसमें ऐश आराम की गन्ध तक नहीं। इस कारण नवीन संसार इससे विमुख रहता है इसी विमुखता के कारण ही इस धर्म के सम्बन्ध में दूसरे लोगों के विचार कुछ विपरीत हैं। यदि इस धर्म में यह खूबी और होती कि ऐश आराम भी करते रहते और धर्म भी साधते रहते तो इस ऐश आराम के जमाने में भी संसार का अधिकांश भाग इसका अनुयायी होता। इतना तो मैं अवश्य कहूंगा कि मुक्ति तो आपके मार्ग से जल्दी हो सकती है"।

टेलर सा ने जिन शब्दों में जैन धर्म के प्रति अपने हृदयगत भावों को व्यक्त किये उनको दृष्टि बिन्दु में रखने से प्रत्येक व्यक्ति समझ सकता है कि जैन दिवाकरजी म के सम्पर्क से टेलर सा पर कैसा सुन्दर प्रभाव पड़ा है।

टेलर सा की पत्नी भी अपने नौकर के द्वारा प्रतिदिन महाराज श्री की सेवा में अपना प्रणाम पहुँचाया करती थी। एक दिन मेम साहब ने-जैन मुनि

के आचार-विचार से अभिज्ञ होने के कारण—माकिवश, महाराज श्री के लिए फल फूल की डाली (भेंट) भेजी। जो चपरासी डाली लेकर आया था उसी के साथ महाराज श्री ने कहलवा दिया कि जैन मुनि किसी प्रकार की डाली नहीं स्वीकार करते। इसे ग्रहण करना तो दूर रहा छूना भी हमारे लिए वर्जित है। इसके पश्चात् एक दिन टेलर सा एक शीशी में भरकर ऐसा खाद्य पदार्थ लाये जो जल में डालदिया जानेपर दूध सा बन जाता था। टेलर सा ने महाराज श्री से प्रार्थना की कि यह सर्वथा निर्जीव है अतः आप इसे अवश्य ग्रहण कीजिये परन्तु महाराज श्री ने उसे ग्रहण नहीं किया। इसपर टेलर सा ने कहा कि मैं यह पदार्थ आपकी सेवा में अपर्ण करने के लिये लाया था परन्तु आप इसे स्वीकार नहीं करते हैं अतएव मैं वापस अपने उपयोग में नहीं लेता हुआ अस्पताल में भेज देता हूं ताकि वहां किसी अन्य के उपयोग में आसके। कैसी है एक यूरोपियन साहब की महाराज श्री के प्रति भक्ति।

एक दिन टेलर सा एक यूरोपियन कप्तान को साथ लेकर महाराज श्री के दर्शन के लिये आये। यह कप्तान अंग्रेजी सेना के अध्यक्ष (कर्नल) थे। टेलर सा से कप्तान महोदय ने महाराज श्री के सम्बन्ध में वार्तालाप किया और उन्हें ऐसे प्रभावशाली व्यक्तित्व रखने वाले महात्मा के दर्शन के लिये प्रेरणा की टेलर सा की प्रेरणा से ये कर्नल महोदय भी दर्शन के लिये आये। प्रासंगिक वार्तालाप के पश्चात् जैन दिवाकरजी महाराज सा ने उन्हें उपदेश दिया। उससे प्रभावित होकर उन्होंने मोर और कबूतर का शिकार न करने की प्रतिज्ञा की। आगन्तुक कर्नल महोदय भी जैन दिवाकरजी महाराज सा के दर्शनों का लाभ लेकर अत्यन्त प्रसन्न हुए। चित्तौड़ चातुर्मास तक टेलर सा ने खूब ही भक्ति प्रदर्शित की। पश्चात् भी जब तक आपको अवसर मिला तब तक आपने दर्शनों एवं सेवा भक्ति का लाभ लिया। पत्र द्वारा आप बहुत समय तक महाराज श्री के समाचार मंगवाया करते थे। महाराज श्री के प्रति उनकी अन्तरंग श्रद्धा दिनोंदिन अधिक ही होती रही।

पारसी भक्त डा० होरमसजी —

महाराज श्री के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति रखने वाले अनेकानेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों में से आगरा (मध्यप्रान्त) के डा० होरमसजी का नाम भी अग्रगण्य है। डा० होरमसजी आंख के कुशल डाक्टर हैं। बड़े बड़े राजामहाराजाओं का उपचार भी आप करते हैं। हजारों आंखों के रोगियों को आराम देकर आपने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की है। महाराज श्री जब आगर पधारे तब डाक्टर सा ने उपदेशामृत का बड़ी पिपासा के साथ पान किया। जोधपुर के चातुर्मास में इन डाक्टर सा का बड़ा भक्तिमय पत्र आया। उस पत्र में उन्होंने लिखा कि मैं आपके दर्शन उदयपुर में न कर सका इसके लिए मुझे अफसोस है। आप श्री दो बार आगरा पधारे। उस समय आपने मुझे जो बोध दिया उसके लिए मैं बड़ा आभारी हूं। आप श्री के

प्रदान करने के लिए जोधपुर आने की मेरी इच्छा है। कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि इस पत्र में डा होर्मस जी की कैसी भक्ति प्रकट हो रही है।

साहित्यकार के रूप में

जैन दिवाकरजी म ने वक्तृत्व के साथ लेखनी के द्वारा भी समाज की बड़ी भारी सेवा की है। प्रति दिन घंटों व्याख्यान देने पर भी आपने साहित्य-सेवा की ओर पर्याप्त ध्यान दिया है। सत्य शिवं सुन्दरम्

सत्य शिव और सुन्दर की उपासना करना प्राणी—मात्र का ध्येय होता है। इन्हीं तीन की उपलब्धि के लिये मानव जगत् की समस्त चेष्टाएं हुआ करती हैं। साहित्य और कला के मूल में भी सत्य शिव एवं सुन्दर को प्राप्त करने की ही भावना अन्तर्हित है। इसी आशय से विश्व में साहित्य संगीत और कला का निर्माण या आविर्भाव हुआ है।

साहित्य और कला के उद्देश्य के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोणों को लक्ष्य में रखते हुए विद्वानों ने विभिन्न विभिन्न विचार व्यक्त किये हैं। कोई 'कला के लिए कला' का समर्थन करते हैं तो कोई आमोद प्रमोद के लिये कला की सार्थकता मानते हैं। कोई दुःख की विस्मृति के लिए कला का आश्रय लेते हैं तो कोई जनकल्याण को कला का आशय मानते हैं। परन्तु सत्यं शिव सुन्दर में इन सभी उद्देश्यों का समन्वय हो जाता है

व्यक्ति मात्र की चेष्टा यही होती है कि वह सत्य शिव और सुन्दर को उपलब्ध कर सके। यही धर्म साहित्य और कला का आशय है। जैन दिवाकरजी महाराज एक धर्मोपदेष्टा हैं। धर्म का प्रचार करना और उसके द्वारा सत्य शिव सुन्दर की उपलब्धि करना और दूसरों को कराना आपका आशय है। आपका वक्तृत्व और लेखन भी इसी आशय को लेकर हुआ है और होता है अतएव वह अलंकारादि काव्य एवं साहित्य के अंगोंपर ध्यान देकर जनता की सुबोधगम्यता और धर्म परायणता का ही आपने मुख्यरूप से अपना दृष्टि बिन्दु बनाया है। इसलिए आपके द्वारा निर्मित साहित्य में धार्मिकता एवं नैतिकता के द्वारा जन समाज के कल्याण की तीव्र भावना दृष्टिगोचर होती है।

उक्त दृष्टि बिन्दु से हिन्दी साहित्य में जो स्थान महात्मा कबीरदास का है वही स्थान प्रायः आपका भी है। कबीर के साहित्य में भी छंद अलंकार, शब्द सौष्ठव पद लालित्य आदि काव्यगत बातों पर उतना लक्ष्य नहीं दिया गया है जितना धार्मिकता और सैद्धान्तिकता का ध्यान रखा गया है इसका कारण यही है कि महात्मा कबीर भी धर्म प्रचारक थे और धर्म प्रचार करना उनका आशय था। उनका साहित्य निर्माण भी इसी आशय को लेकर हुआ था। यही बात जैन दिवाकरजी म के साहित्य की रचना के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। इस दृष्टि बिन्दु को लक्ष्य में रखकर उनके साहित्य पर विचार करना चाहिए।

जैन दिवाकरजी म. गद्य एवं पद्य-दोनों के लेखक हैं। गद्य एवं पद्य में आपकी अनेक रचनाएं प्रकाशित हो चुकी हैं। आपकी पावन धारा गद्य एवं पद्य-उभयरूप में समान रूप से प्रवाहित हुई है। आपकी पद्यमय रचनाएं बड़ी रोचक आकर्षक सरल मधुर एवं भक्तिरस से ओत प्रोत होती हैं। आपने सैकड़ों धार्मिक भक्तिरस के भजन लिखे हैं जिन्हें भक्तगण भक्ति से झूमते हुए पढ़ते हैं।

—पद्यमय रचनाएं—

महाराज श्री की मुख्य मुख्य पद्यमय रचनाएं निम्न लिखित हैं—

१ आदर्श रामायण	२ भगवान् नेमिनाथ और पुरुषोत्तम श्री कृष्णचन्द्र
३ राम मुद्रिका	४ सीता वनवास
५ जम्बू चरित्र	६ हरिश्चन्द्र चरित्र
७ चम्पक चरित्र	८ धर्म बुद्धि चरित्र
९ श्रीपाल चरित्र	१० सती अंजना और वीर हनुमान
११ प्रदेशी राजा का चरित्र	१२ अर्हदास चरित्र
१३ महाबल चरित्र	१४ सुपार्श्व चरित्र
१५ धन्ना चरित्र	१६ त्रिलोक सुन्दरी चरित्र
१७ कृष्ण चरित्र	१८ दमनखां चरित्र
१९ हरिबल चरित्र	२० मद्यपान पाप निषेध
२१ जैन सुबोध गुटका	२२ जैन गजल बहार
२३ जैन सुख चैन बहार भा. १ से ५ तक	२४ स्त्री शिक्षा भजन संग्रह
	२५ लावणी संग्रह भाग १-२
२६ बालगीत संग्रह	२७ जैन गजल गुल चमन बहार
२८ वैराग्य जैन स्तवनावली	२९ मनोहर पुष्प
३० चतुर्थ रत्नमाला	३१ मुक्तिपथ

विशेषताएं:—जैन दिवाकरजी म. की कविताओं की मुख्य विशेषता यह है कि वे युगानुसारी सरल सुबोध एवं मधुर होती हैं। इनकी कविताओं में पाण्डित्य का प्रदर्शन तथा अलंकारों और अनुप्रासों की भरमार नहीं होती। ये विद्वानों के ही काम की नहीं वरन् सब साधारण के उपयोग की होती हैं। साधारण जनता इन कविताओं से झरती हुई सुधा का पान करके आनन्द विभोर हो उठती है। इन कविताओं से वैराग्य शान्ति तथा नैतिक शिक्षाओं के झरने फूट पड़ते हैं। इनकी कविताओं से पापों के प्रति घृणा और कर्तव्यों की ओर प्रेरणा प्राप्त होती है। आपकी कविता की भाषा पाण्डित्यपूर्ण नहीं वरन् साधारण बोल चाल की होती है जिससे वह आसानी से आबाल वृद्ध के हृदयंगम हो जाती है। आपने अपनी कविताओं में हिन्दी या संस्कृत के साहित्यिक छन्दों का प्रयोग न करके गजल आदि का उपयोग किया है। आपकी इन विशेषताओं के कारण आपकी कविताओं

का खूब प्रचार हुआ है। प्रायः समस्त जैन समाज में आपके रचे हुए चरित्र व्या
ख्यानों में सुने सुनाये जाते हैं। प्रायः प्रत्येक व्यक्ति के मुख से आपके बनाये हुए
स्तवन और गायनों की झंकार श्रवण गोचर होती है। स्थानकवासी साधु और
श्रावक समाज में आपकी पद्यमय रचनाओं का जितना प्रचार देखा जाता है उतना
अन्य किसी का नहीं। यही आपकी कविताओं की लोकप्रियता का प्रबल प्रमाण है।

जैन दिवाकरजी ने अपनी कविताओं के द्वारा इस युग की एक त्रुटि की पूर्ति
की है। नवीनता की ओर प्रायः सर्व साधारण का आकर्षण होता है। नवीन सिने
मागृहों के नये तर्ज के गानों ने नवयुवक वर्ग को खूब आकर्षित किया। उदीयमान
नवयुवकों पर उन विषय वासना से भरे हुए गानों का बुरा प्रभाव पड़ने लगा।
नवयुवकों और बालकों के मुख से प्रणय-लीला के गाने सुनाई दिये जाने लगे।
उगती हुई उम्र के बालकों और नवयुवकों के नैतिक जीवन को इन चलचित्रों द्वारा
काफी ठेस पहुँचने लगी। इस ओर महाराज श्री का ध्यान आकर्षित हुआ और
उन्होंने नवीन तर्जों में ही ऐसे गानों की रचना प्रारंभ की जिनमें नैतिक जीवन
को उच्च बनाने वाली सामग्री मिल सके तथा जिनसे प्रभुभक्ति वैराग्य, श्रद्धा
तथा कर्तव्य परायणता की प्रेरणा प्राप्त हो। महाराज श्री की ऐसी ही स्फुट रचनाएं
"जैन सुबोध गुटका" नामक ग्रन्थ में संग्रहीत है।

इस ग्रन्थ में चार सौ चार गायनों का संग्रह है। इन चार सौ गायनों में इस
लोक एवं परलोक को सुधारने की सामग्री भरी हुई है। संसार की असारता तथा
स्वार्थपरायणता का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया गया है-जैसे

(तर्ज—या हसीना बस मदीना करबला में तू न जा)

मत दिवाना ! दुनियां फना इसमें हुलाना छोड़ दे।
ख्वाब हो या बाद सा झोंके में आना छोड़ दे॥ टेर
चार दिन की चांदनी क्यों जुल्म पर बांधी कमर।
हुक्म रब का मान ले दिल का दुखाना छोड़दे॥
कहाँ सिकन्दर कहाँ अकबर कहाँ मली बजार गये।
तू भी अब मिजमान है गफलत में सोना छोड़ दे॥

और भी देखिये—

तर्ज ओर—

तजारे जिया झूठा यो संसार जरा हृदय ज्ञान विचार॥ टेर
ज्यूं सपने में राजलक्ष्मी मिले नार परिवार।
नैन खुलत ही विरला जाय इणविध ज्ञान विचार॥ तजो॥
रत्न जड़ित है आनियारे सुन्दर महला मार।
नाना प्रकार का मेवा मसाला भोग्या अनती बार॥ तजो॥
छत्र चंवर सिर ढोलतारे खमा करत भरतार।
गादी तकिया बैठता रे सा चले गये सरदार॥ तजो॥

राजा गया बादशाह रे रहता संग सवार ।
माल मुल्क भाड़ी गया रे देर न लगी लगार ॥ तज्यो ॥
इम जाणी जग जाल मे छोड़ो निज आतम को तार ।
जम्बुकुमार अतुल वैरागी उतरया भव जल पार ॥ तजो ॥
रम्भा बत्तीसों तजी रे शालिभद्र कुमार ।
मुनि अनाथी महा वैरागी छोड़या धनभंडार ॥ तजो ॥
आदि—

इन पद्यों में संसार की असारता का कैसा सुन्दर दिग्दर्शन कराया गया है। भौतिक जड़ चीजों के चक्कर में फसकर संसारी जीवों ने आत्म तत्व का भान ही भुला दिया है। वे संसार के कामभोगों और विषय वासनाओं के पीछे लट्टू हो रहे हैं। ऐसे मोहान्ध प्राणियों को जागृत करने के लिये कैसी अनुपम सामग्री कितने सरल एवं सुबोध शब्दों में इन गायनों में रख दी गई है। सचमुच इन गायनों के गाने से या श्रवण करने से श्रोतागण आध्यात्म की लहरों में लहराने लगते हैं संसार की अनित्यता का उपदेश देकर आत्मोन्नति के लिये भगवद्भजन एवं नीतिमय जीवन जीने की अद्भुत प्रेरणा भी इन पद्यों से मिलती है। इस प्रकार के सैकड़ों पद्य उद्धृत किये जा सकते हैं परन्तु विस्तार भय से यहां उनका उल्लेख न करते हुए पाठकों को स्वतंत्र पुस्तक के पठन से लाभ उठाने के लिये हमारी आग्रह भरी प्रार्थना है। संक्षेप में जैन सुबोध गुटका जन्म और मरण के दुख-दर्दों का याद कराने वाला यमदूतों की कठोर करतूतों का भान कराने वाला लोक एवं परलोक को सुधारने वाला कर्त्तव्य पथ में प्रेरणा करने वाला और जीवन व्यवहार को सुखमय बनाने वाला अनुपम ग्रन्थरत्न है।

इस ग्रन्थ में स्त्रियों के लिए भी पर्याप्त सामग्री है। स्त्रियों के कर्त्तव्य पतिव्रता के आचार स्त्री का सच्चा भूषण तथा स्त्री शिक्षा आदि विद्या आदि विषयों पर बड़े रोचक एवं शिक्षा प्रद गायन महाराज श्री ने रचे हैं। उदाहरणार्थ—

(तर्ज-म्हां मारवाड़ी)

पहनो २ नखरारी काम गजरा २ तुम्हें लागे मजरा ॥ टेर ॥
शील की साड़ी ओढ़ले ओढ़ी लज्जा गहनों पहन
प्रेम-पान को खाय नखरारी बोलो अमृत बैन ॥ पहनो
हर्ष को हार हृदय में धारो शुभ कृत्य कंकण सोहाय।
चतुराई की चूड़ी सुन्दर मधुवाणी बिंदली जोय ॥ पहनो
विद्या का तो बाजूबन्द सो है अंगुली वींग लगाय।
दांतन में चूंप मोहे ऐसी धर्म में चूंप सवाय। पहनो
नव पदार्थ ऐसा सीखो नेवर की झणकार।
चौथमल कहे सच्ची सजनी ऐसा सजो सणगार ॥ पहनो ॥

स्त्रियों में आभूषण प्रियता प्राय अधिक पाई जाती है। अतः स्त्रियों को

कैसे आभूषणों से प्रेम करना चाहिये यह उक्त गायन में बताया गया है। इसीतरह स्त्रियों का कौटुम्बिक व्यवहार कैसा होना चाहिये सासु श्वसुर आदि कुटुम्बियों के साथ किस तरह बर्ताव करना चाहिये स्त्रियों का पति के प्रति कर्तव्य पति का स्त्री के प्रतिकर्तव्य आदि विषयों पर पचासों गायन इस संग्रह में दिये गये हैं। ये सब इस बात के प्रमाण हैं कि जैन दिवाकरजी म सा की एकमात्र भावना उस समाज का कल्याण करना है। भामवता को भूले हुए नरनारी सत्पथ पर आवें, उनके धार्मिक और नैतिक, सामाजिक और कौटुम्बिक जीवन का मापदण्ड ऊंचा उठ इसी आशय से जैन दिवाकरजी म की रचनायें हुई हैं और होती हैं। इन गायनों में यह भावना कूट कूट कर भरी हुई है। गायनों के द्वारा प्राणी को आत्म विकास की प्रेरणा मिलती है। अनेकों भूले हुए प्राणी इसके श्रवण से सत्पथ के अनुगामी बने हैं। यही इस ग्रन्थ की सार्थकता है।

आदर्श रामायण—जैन दिवाकरजी म की अति सुन्दर कृति है। इसमें मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का आद्योपान्त जीवन चौपाइयों में अंकित किया गया गया है। जन दृष्टि से राम का क्या महत्व है? उनके जीवन की क्या क्या विशेष तायें है? वाल्मीकि एवं तुलसीदास के राम में और जैनों के राम में कहां क्या विशेषता है? आदि सब प्रश्नों का निराकरण इसमें किया गया है। यद्यपि जैना चार्यों ने ग्रन्थों के रूप में राम चरित्र लिखा है तदपि आधुनिक जैन जनता उससे उतना लाभ नहीं उठासकती जितना उसे उठाना चाहिए। यह युग के अनुसार ऐसी चीज चाहती है जो ज्यादा पुरानी और क्लिष्ट न हो। इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर जैन दिवाकरजी म ने राम की जीवनी चौपाइयों में तैयार की है।

राम का जीवन समुद्र की तरह अगाध है। उनके जीवन की अगाधता की थाह पाना कठिन है तदपि शक्ति के अनुसार उनके गुणों का कीर्तन सभी कवियों ने करने का वैसा ही प्रयास किया है जैसे पनडुब्बों ने समुद्र से रत्न निकाल ने का प्रयास किया है। जैन दिवाकरजी म ने बहुत खूबी के साथ राम का जीवन चौपाइयों में अंकित किया है। आदर्श रामायण पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध-यों दो भागों में पूर्ण हुई है। पूर्वार्ध में दशानन दिग्विजय श्री हनुमान जन्म तथा श्री राम जन्म से लेकर सीता हरण के लिये रावण के आगमन तक का वर्णन किया गया है। उत्तरार्ध में सीताहरण से लगाकर रामनिर्वाण तक वर्णन किया गया है। सब साधारण जनता आसानी से राम के जीवन की महत्ता को हृदयगम कर सके, इसी हेतु से चौपाइ बहरतबी और दोहों में इसकी रचना की गई है। एक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जैसे तुलसीदासजी ने सर्व साधारण की भाषा में वैष्णव दृष्टि से राम का जीवन अंकित किया है वैसे ही जैन दिवाकरजी म.ने जैनदृष्टि से 'आदर्श रामायण में राम का जीवन बड़े ही सुन्दर ढंग से अंकित किया है। जैन दृष्टि से राम के जीवन को समझने के लिये जैन दिवाकरजी म की यह पद्य

मय कृति अत्यन्त ही उपयोगी है ।

भगवान् नेमिनाथ और पुरुषोत्तम श्री कृष्ण चन्द्र:—

भारतीय जनता के हृदय में सीता पति राम और गीता पति कृष्ण के नाम इतनी गहराई से उतर चुके हैं कि दुनिया की कोई भी शक्ति उन्हें भुला नहीं सकती। राम और कृष्ण भारतीय संस्कृति के दो आधार-स्तम्भ हैं। जैन दिवाकरजी म सा ने जैसे आदर्श रामायण में राम के जीवन का आलेखन किया है वैसे ही " भगवान् नेमिनाथ और पुरुषोत्तम श्री कृष्णचन्द्र" में कृष्ण के जीवन की समस्त मुख्य २ घटनाओं का चित्रांकन किया है। जैन दृष्टि से कृष्ण के जीवन को समझने के लिये जैन दिवाकरजी म की यह पद्यमय विस्तृत कृति अत्यन्त उपयोगी है।

प्रस्तुत रचना में दो महान् अवतारी महापुरुषों की जीवन-ज्योति की झिलमिलाहट है। बावीसवें तीर्थङ्कर भगवान् नेमिनाथ और पुरुषोत्तम कृष्णचन्द्र के जाज्वल्यमान जीवन चरित्र सर्व साधारण जनता के जीवन के अंधकार मय मार्ग पर आकाश दीप के समान हैं। इनके जीवन की ज्योति में जनता को अपना मार्ग स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। ऐसे अवतारी महापुरुषों का जीवन साधारण जनता के सामने सरल शब्दों में एवं मन मोहक शैली से रखने के लिये जैन दिवाकरजी म कोटिशः धन्यवाद के पात्र हैं ऐसा करके उन्हों ने साधारण जनता पर बड़ा भारी उपकार किया है।

प्रस्तुत पुस्तक में भगवान् नेमिनाथ के पूर्व भव पाण्डव वंश कुरु वंश की उत्पत्ति और उसका वर्णन वसुदेव अधिकार कृष्ण बलभद्र के पूर्व भव कृष्ण जन्म नेमिनाथ जन्म कंस वध रुक्मिणी मंगल प्रद्युम्न कुमार शाम्ब कुमार जरासन्ध वध पाण्डव चरित्र द्रोपदी-हरण राजमती जन्म नेमिनाथ का विवाह के लिए जाना और तोरण से लौट आना सागर श्रावक-हरण मुनि गुण ग्राहकता राजकुमारों की दीक्षा गज सुकुमाल द्वारिका दहन पाण्डव-दीक्षा नेमिनाथ निर्वाण इत्यादि कृष्ण और नेमिनाथ के जीवन सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन कियागया है।

भगवान् नेमिनाथ और पुरुषोत्तम कृष्ण का जीवन परस्पर सम्बन्धित है अतएव घटनाओं के वर्णन में क्रमबद्धता नहीं आसकती है। साधारण जनता इन अवतारी महापुरुषों के जीवन का गान सुविधा के साथ कर सके इस आशय से ख्याल की प्रचलित तर्ज में इसकी रचना की गई है। यह चरित्र बड़ा रसीला है। इसे सुनते हुए श्रोतागण हर्ष विभोर हो उठते हैं। यह चरित्र इतना विस्तृत है कि इसका व्याख्यान करते हुए प्रायः पूरा चातुर्मास काल समाप्त हो जाता है। विस्तृत होने पर भी इसकी सरसता गायब नहीं हो जाती। इस चरित्र के व्याख्यानों में इतनी अधिक सरसता है कि श्रोतागण इसे श्रवण करते हुए नहीं अघाते। वे एका ग्रचित्त होकर इन अवतारी महापुरुषों के जीवन की घटनाओं का श्रवण किया करते हैं। जब स्वयं दिवाकरजी म इसका व्याख्यान करते हैं तबतो कहना ही

क्या ! श्रोतागण जैन दिवाकरजी के मुख से बरसती हुई इन भयतारी पुरुषों के जीवन रूपी सुधा का पान करते हुए कभी नहीं अघाते हैं। श्रोताओं की श्रवण लालसा वैसी की वैसी बनी रहती है।

जैन दिवाकरजी म की यह पद्यमय कृति धार्मिक साहित्य-संसार के लिये सुन्दर चीज़ है। इसके अतिरिक्त जैन दिवाकरजी म ने छोटे छोटे कई औपदेशिक चरित्र तथा हितोपदेशदायिनी कई लावणियों की रचना की हैं। आपकी अनेक मुक्तक कवितायें सूक्ति पद्य के भागों में प्रकाशित हुई हैं सब का यहां वर्णन नहीं किया जा सकता है।

तात्पर्य यह है कि जैसे हिन्दी साहित्य के इतिहास में कबीर, नानक दादू आदि धार्मिक कवियों का स्थान है वैसे ही आधुनिक धार्मिक कवियों में जैन दिवाकरजी म का अति उच्च स्थान है।

गद्यमय रचनाएं

विरले लेखकों में ही यह शक्ति होती है कि वे गद्य एवं पद्य-उभयरूप में अपने विचारों को व्यक्त कर सकें। जैन दिवाकरजी म में उभयरूप से अपने भावों को प्रकट करने की अद्भुत शक्ति है। जहां आपने अनेक पद्य-ग्रन्थों की रचना की है वहां अनेक गद्यग्रन्थों का निर्माण भी आपकी ओजस्विनी लेखनी द्वारा हुआ है। आपके अनेक गद्य ग्रन्थों में से "भगवान् महावीर का आदर्श जीवन" पार्श्वनाथ जम्बू कुमार आदि अति प्रसिद्ध हैं।

"भगवान महावीर का आदर्श जीवन" यह लेखक की उच्चकोटि की अमर कृति है। यह रचना अति उत्कृष्ट एवं विशाल है। इस रचना में जैन दिवाकरजी म ने जिस शैली से भगवान् महावीर के पवित्र जीवन का आलेखन किया है वह अद्वितीय एवं अनुपम है। अनेक माननीय विद्वानों इतिहासज्ञों एवं पुरातत्त्व प्रेमियों ने इस रचना की मुक्त कंठ से सराहना की है और इसकी उपादेयता व उपयोगिता स्वीकृत की है। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता लाला कन्नोमलजी एम० ए ने इस ग्रन्थ की भूमिका लिखी है। वे पुस्तक के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं कि

'भगवान् महावीर का आदर्श जीवन पुस्तक में केवल भगवान् का आदर्श जीवन ही नहीं है बल्कि जैनधर्म के उदयकाल से लेकर अबतक का धार्मिक इतिहास है। इसकी भाषा ऐसी शुद्ध सरल परिमार्जित एवं प्रसादगुण युक्त है कि पढ़ने वाला उसके धारा प्रवाह में स्वयं बहता हुआ चला जाता है और उसके हृदय पटल पर उच्च भावों का अंकन होता जाता है। गूढ़ गम्भीर जटिल आध्यात्मिक मर्मों को सर्वसाधारण को हृदयंगम कराना सरल नहीं है। विरले लेखक ही ऐसे होते हैं जो तत्त्व ज्ञान के जटिल मर्मों को सरल भाषा में लिखकर

समझा सकें । उन्हें तो अपने निजी विचार और भावों को भी सम्यक प्रकार से प्रकट करना कठिन हो जाता है तो प्राचीन ऋषि, महर्षियों के गहन आध्यात्मिक विषयों को स्पष्ट रूप से सर्वसाधारण मनुष्यों के मनोगत करना कितना कठिन है । पर यह अद्वितीय असाधारण एवं श्लाघनीय योग्यता ईश्वर ने आपको ही दी है जिसके द्वारा आप मनुष्यजाति का महान् उपकार करने में समर्थ हुए हैं । "

'प्रस्तुत पुस्तक के दूसरे खण्ड के नवें प्रकरण तक भगवान् महावीर का जीवन चरित्र समाप्त हो गया है । इसके आगे दसवें प्रकरण में भगवान महावीर का तत्वज्ञान प्रतिपादन है । यह ऐसे सुयोग्य लेखक का ही काम है कि ऐसे गम्भीर तत्वज्ञान को सूक्ष्मस्थान में सारभूत कर लिख दिया है । सागर को गागर में भर दिया है । जो बातें बड़ी २ पुस्तकों के पढ़ने से समझ में नहीं आतीं और अधूरी रह जाती हैं वे लेखक महाशय ने अपनी कुशाग्र बुद्धि, ओजस्विनी लेखनी और सर्वबोध सरल भाषा द्वारा संक्षेप में ही सुपाठ्य कर दी है । यदि कोई एक स्थान पर ही जैन तत्वज्ञान का परिचय प्राप्त करना चाहे तो उसके लिये यह प्रकरण नितान्त उपयोगी होगा । इससे बढ़कर उसे और कहीं इतनी सामग्री इतनी थोड़ी जगह में ऐसी सरल भाषा में नहीं मिलेगी । "

लाला कन्नोमलजी एम० ए० जैसे इतिहास वेत्ता ने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में उक्त महत्वात्मक आलोचना लिखी है तो और अधिक लिखना ग्रन्थ विस्तार करना ही होगा ।

वस्तुतः यह रचना जैन संस्कृति का अमर इतिहास है । इस एक ही ग्रन्थ के ध्यानपूर्वक पठन से जैन संस्कृति का गहन अध्ययन हो सकता है । यह ग्रन्थ एक ऐसा गहन सागर है जिसमें डुबकी लगाने से अनमोल रत्न हस्त-गोचर होते हैं । इस पुस्तक का प्रारंभ काल-चक्र के वर्णन से होता है । जैनधर्म काल चक्र के दो विभाग मानता है । एक उत्सर्पिणी और दूसरा अवसर्पिणी । प्रत्येक विभाग के छः छः आरे (समय विभाग) होते हैं । इन विभागों तथा तत्कालीन मनुष्यों और वस्तुओं का बड़ा रोचक विवरण इसमें किया गया है । तत्पश्चात् तीथङ्कर शब्द का अर्थ तीर्थंकरों के लक्षण तथा अतिशय १२ चक्रवर्ती ९ बलदेव वासुदेव प्रति वासुदेव आदि का परिचय दिया गया है । भगवान ऋषभदेव का विशद विवरण प्रस्तुत करने के उपरान्त शेष बावीस तीर्थङ्करों का संक्षिप्त वर्णन बड़ी रोचकशैली से दिया गया है । प्राचीन काल में मनुष्यों के लिए बहत्तर और स्त्रियों के लिये चौसठ कलाएं थीं । उस समय १६ कौमें १८ प्रकार की लिपियां १४ प्रकार की लोकोत्तर विद्याएं, १४ प्रकार की लौकिक विद्याएं थीं । इस प्रकार का प्राचीन तम इतिहास हमें इस ग्रन्थ में मिलता है । यह वस्तु इतिहास प्रेमियों के लिये बड़े महत्व की है । भगवान महावीर के २६ पूर्व भवों का वर्णन करते हुए १४ रत्न नव निधि तथा तीर्थंकर होने के बीस साधनों का विशद वर्णन किया गया है ।

भगवान् के २७ वें भव का वर्णन करने के पश्चात् भगवान् महावीर के जन्म का निरूपण किया गया है। भगवान् का जन्म जिसकाल में हुआ उस काल की परिस्थिति का वर्णन भी दिया गया है जिससे यह प्रतीत होता है कि आज से २५० वर्ष पूर्व भारत की धार्मिक परिस्थिति कैसी थी। कहना न होगा कि उस समय सच्चा धर्म संसार से उठ गया था केवल पशुयज्ञ बलिदान कर्मकाण्डादिक का बोलबाला था। स्त्रियों और शूद्रों का कोई स्थान नहीं था। हिंसा का ताण्डव नृत्य होता था। अन्ध विश्वासों का साम्राज्य था इत्यादि तत्कालीन परिस्थिति का लेखक ने आलेखन करके उसके सुधार के लिये भगवान् महावीर का पुनीत जन्म हुआ ऐसा लेखक ने सुन्दर ढंग से निरूपण किया है। भगवान् की तपश्चर्या तक का वर्णन प्रथम खंड में किया गया है। दूसरे खंड में कैवल्य की प्राप्ति से लेकर भगवान् के तत्वज्ञान तक विवेचन है। भगवान् महावीर के जीवन की समस्त मुख्य २ घटनाओं का इस ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है।

इस ग्रन्थ की यह मौलिक विशेषता है कि इसमें भगवान् के जीवन के प्रत्येक प्रसंग से क्या २ शिक्षाएं मिलती हैं वर्तमान काल में क्या २ अनुकरणीय हैं आदि बातों का प्रसगोचित अच्छा विवेचन किया गया है। भगवान् को कैवल्य की प्राप्ति होने के पश्चात् इन्द्रभूति आदि ११ पंडितों के साथ उनका जो संवाद हुआ वह तत्व ज्ञान की दृष्टि से बड़े महत्व का है। इस संवाद के प्रकरण को पढ़ने से धार्मिक जटिल गुत्थियों का बड़ा आसान समाधान हो जाता है। प्रत्येक धर्मानुयायी को यह जिज्ञासा होती है ? कि जीव क्या है ? कर्म है या नहीं ? जीव और शरीर का क्या सम्बन्ध है ? पूर्व जन्म और पुनर्जन्म है या नहीं ? पुण्य और पाप स्वर्ग और नरक हैं या नहीं ? इत्यादि अनेक गम्भीर प्रश्नों का समाधान इस पुस्तक में दिये गये उक्त संवाद के पठन पाठन से हो जाता है। इसपर से यह भी सहज सिद्ध हो जाता है कि जैन दिवाकरजी म. का तात्त्विक ज्ञान कितना विकसित और बढ़ा चढ़ा है। दूसरे खण्ड के दसवें प्रकरण में जो तत्वज्ञान का निरूपण किया गया है वह बड़ा अनूठा और मननीय है। जैन धर्म की फिलासफी कितनी उच्च और विशाल है यह इस प्रकरण के पढ़ने पर विदित हो जाती है। तत्वज्ञान का ऐसा सुबोध व सुन्दर निरूपण अन्यत्र नहीं दिखाई देता। यह सुयोग्य लेखक की लेखनी ही का काम है।

इस रचना की एक और विशेषता यह है कि सुयोग्य लेखक ने स्थल स्थल पर प्राचीन और अर्वाचीन विचारों की तुलना की है। जैन दिवाकरजी म. प्राचीन और अर्वाचीन विचारों से पूर्ण परिचित हैं तभी तो आपने ऐसी विशद तुलनात्मक विवेचना की है।

उदाहरणार्थ—छूताछूत मीमांसा माता पिता की सेवा व्यवहार में अहिंसा आदि आदि।

तात्पर्य यह है कि जैन दिवाकरजी म. की यह विशद रचना जैन संस्कृति

का परिचय कराने के लिये पर्याप्त है। इसमें शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक दृष्टि बिन्दु से काम लिया गया है यह पुस्तक मुमुक्षुओं के पढ़ने के लिये तो उपयोगी है ही परन्तु इतिहास प्रेमियों पुरातत्ववेत्ताओं और अजैन विद्वानों के लिए भी पठनीय और मननीय है। यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि आजतक जितने भगवान् महावीर के जीवन चरित्र प्रकाशित हुए हैं उनमें यह सर्व श्रेष्ठ है। यह चरित्र विशद विस्तृत रोचक सर्वाङ्गपूर्ण तथा अपनी शैली का एक ही है। यह ग्रन्थ जैन साहित्य का ही नहीं परन्तु हिन्दी साहित्य का और इतिहास का अनमोल रत्न है।

—पार्श्वनाथ—

"भगवान् महावीर का आदर्श जीवन लिखने के बाद जैन दिवाकरजी महाराज की 'पार्श्वनाथ' नामक महत्व पूर्ण कृति प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक में जैन दिवाकरजी म ने भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन चरित्र को बड़े अनूठे एवं आकर्षक ढंग से अंकित किया है।

भगवान् पार्श्वनाथ के सम्बन्ध में ऐतिहासिकों में बड़ा मतभेद था। कुछ ऐतिहासिक भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता में सन्देह करते थे परन्तु अब ऐतिहासिक अन्वेषण से भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता निर्विवाद सिद्ध हो चुकी है। भ. पार्श्वनाथ का जन्म महावीर स्वामी के निर्वाण से ३५२ वर्ष पूर्व हुआ था यह बात निश्चित हो चुकी है।

कुछ विद्वानों को यह भ्रम है कि भगवान् पार्श्वनाथ जैन धर्म के आदि प्रचारक थे। परन्तु वरदकान्त मुखोपाध्याय एम. ए. कन्नोमलजी एम. ए. महामहोपाध्याय डॉ. सतीशचन्द्र विद्याभूषण एम ए पी एच डी तथा सनातन धर्म के धुरंधर अग्रगण्य विद्वान पं. राममिश्र शास्त्री आदि अजैन विद्वानों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि जैन धर्म की उत्पत्ति का कोई काल निश्चित् नहीं है। प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थों में जैन धर्म का हवाला मिलता है। पार्श्वनाथ जैन धर्म के आदि प्रचारक नहीं थे परन्तु इसका प्रचार ऋषभदेव ने किया था इसकी पुष्टि के प्रमाणों का अभाव नहीं है। श्री पार्श्वनाथजी जैनों के तेइसवें तीर्थंकर हैं। इनका समय ईसासे १२०० वर्ष पूर्व का है इस प्रकार अजैन विद्वानों की गवेषणा से यह प्रमाणित हो जाता है कि जैन धर्म तभी से प्रचलित हुआ है जब से सृष्टिका आरम्भ हुआ। संसार के सबसे प्राचीन माने जाने वाले ऋग्वेद में जैन तीर्थंकर ऋषभदेव और बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि तक का उल्लेख है इस 'पार्श्वनाथ पुस्तक में जैन दिवाकरजी म ने भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता सप्रमाण सिद्ध की है और साथ ही जैन धर्म की प्राचीनता की अनेक प्रबल प्रमाणों से पुष्टि की है।

कुछ विद्वानों को यह भ्रम है कि पार्श्वनाथ का जैनधर्म से कोई सम्बन्ध

नहीं है। जैनधर्म के संस्थापक भगवान महावीर हैं। पार्श्वनाथ और महावीर दोनों भिन्न २ परम्परा के प्रवर्तक थे। इसके समर्थन में वे यह युक्ति पेश करते हैं कि एक ही तीर्थ में दो या अधिक तीर्थंकर नहीं होसकते। तथा वे उत्तराध्ययन सूत्र के केशी गौतम संवाद को भी भेद दर्शक ही मानते हुए अपने कथन के प्रमाण में उपस्थित करते हैं। परन्तु सुयोग्य लेखक ने ग्रन्थ के प्रारंभ में ही प्रबल प्रमाणों से यह प्रमाणित कर दिया है कि भगवान पार्श्वनाथ और महावीर एक ही जैन परम्परा में हुए हैं। यह भ्रम तीर्थ शब्द के अर्थ सम्बन्धी भेद के कारण हुआ है। तीर्थ शब्द साधु साध्वी श्रावक श्राविका रूप चतुर्विध संघ के लिये भी प्रयुक्त होता है और शासन के लिये भी। एक तीर्थंकर संघ की स्थापना करते हैं। कालान्तर में यह छिन्न भिन्न हो जाता है और अगले तीर्थंकर उसका पुनर्निर्माण करते हैं। इस प्रकार तात्विक समानता होने पर भी संघ की स्थापना के कारण और कदाचित् सामयिक भिन्नता से बाह्य आचार में किञ्चित विभिन्नता के कारण एक ही परम्परा में दो या अधिक तीर्थंकरों का होना अनुचित नहीं कहा जासकता है। यदि भगवान पार्श्वनाथ का धर्म भगवान महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म से भिन्न होता तो जैन संघ भ० पार्श्वनाथ को कदापि न अपनाता और अन्यान्य धर्मप्रवर्तकों की भांति विधर्मी के रूप में ही उनका उल्लेख मिलता परन्तु ऐसा नहीं है अतएव भ० पार्श्वनाथ और महावीर एक ही जैन परम्परा के हैं यह निर्विवाद सिद्ध है।

यह तो हुई इस रचना की ऐतिहासिक दृष्टि से महत्ता। अब हमें यह देखना है कि 'भगवान पार्श्वनाथ के जीवन चरित्र से सुयोग्य लेखक ने हमें धार्मिक एवं आध्यात्मिक क्या २ सामग्रियां परोसी हैं"।

भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन आदि से अन्त तक शान्ति सतोष दया और क्षमा का एक उज्ज्वल पाठ है। कुशस्थल के रणस्थल को उन्होंने अपनी राजनैतिक चतुराई से शान्ति के रूप में परिवर्तित कर दिया था। उनके पर उपसर्ग करने वाले मेघमाली दैत्य पर और अपने रक्षक धरणेन्द्र पर भगवान् का एक सा भाव रहा यह भगवान की लोकोत्तर आध्यात्मिक विजय थी। इस चरित्र में दो विरोधी तत्त्व साथ साथ चलते हैं। भ० पार्श्वनाथ इसके मुख्य नायक हैं और कमठ उनके मरुभूमि के भव का भाई सदा प्रतिद्वन्द्वी के रूप में उपस्थित रहता है। दोनों का चरित्र छत्तीस के अंक सा है। एक आत्मा के उत्थान का निदर्शन है तो दूसरा पतन की प्रतिमूर्ति है। इस चरित्र की यह विशेषता है कि ये दोनों विरोधी चरित्र साथ साथ चलते हैं इससे मुमुक्षुओं और जिज्ञासुओं को तुलना की अच्छी सामग्री मिलती है।

जैन दिवाकरजी म० ने भगवान् पार्श्वनाथ के जीवन से मिलने वाली शिक्षाओं को सरल एवं सुन्दर शब्दों में सर्वसाधारण के अनुकूल रखकर उनका बड़ा भारी

उपकार किया है। वास्तव में यह चरित्र संसार के तापों से संतप्त प्राणियों को शान्ति देनेवाला एक लोकोत्तर उपवन है। इसमें जगह २ मन मोहक सुन्दर, और कल्याण रूपी सुरभि से सुरभित उपदेश-सुमन खिले दृष्टि गोचर होते हैं। कहीं प्रश्नोत्तर रूपमें कुंज बने हैं। कहीं विपुल भाव रूपी तरुवर खड़े हैं कहीं अवान्तर कथा रूप लतायें छाई हैं। त्याग-वैराग्य की शीतल और मन्द वायु बह रही है। यह उद्यान शान्ति का सुन्दर स्थल है।

यह सुन्दर रचना मुमुक्षु गृहस्थों एवं मुनियों के लिये बड़े उपयोग की है। ऐसी सुन्दर रचना के लिये जैन दिवाकरजी म० को कोटिशः धन्यवाद है।

निर्ग्रन्थ—प्रवचन

मौलिक रचनाओं के अतिरिक्त जैन दिवाकरजी म० ने एक अत्यन्त लोकोपकारी ग्रन्थ का संकलन एवं अनुवाद किया है। वह 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' के नाम से विख्यात एवं विश्रुत है।

चरम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर ने संसार को दिव्य देशना का दान दिया था। भगवान ने जनकल्याण के लिये जो प्रवचन किये थे उनका अधिकांश अंश विलुप्त हो जाने पर भी जो अंश मात्र उपलब्ध है वह बहुत विस्तृत है। भगवान के प्रवचन के रहस्य को समझने के लिये उस साहित्य को अविकल रूप से पढ़ा जाय उसका चिन्तन मनन किया जाय यह आवश्यक है। परन्तु आधुनिक मानव जीवन की गति ऐसी दिशा की ओर अग्रसर हो रही है कि जीवन व्यस्त प्रवृत्ति मय और झंझटों से परिपूर्ण बनता जाता है। ऐसी दशा में इतने विस्तृत प्रवचन का अभ्यास और पठन पाठन के लिये समय निकालना अत्यन्त कठिन हो गया है। दूसरी बात मनुष्यों की भौतिक लालसाओं की अभिवृद्धि होने से धर्म की ओर अभिरुचि उत्तरोत्तर मन्द और क्षीण होती जारही है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यकता थी कि विस्तृत जिनागमों में से चुन चुना हुआ अंश छांटकर संग्रहीत किया जाय जिसमें जैनधर्म के सभी मुख्य २ सिद्धान्तों का समावेश हो जैसे वैदिक धर्म में गीता इस्लाम धर्म में कुरान एवं ईसाई धर्म में बाइबल है इसी तरह जैन सिद्धान्तों को संक्षेप में बताने वाले एक ग्रन्थ की कमी खटक रही थी जैन दिवाकरजी म० का ध्यान इस कमी की ओर आकर्षित हुआ और उन्होंने जैनागमों से चयन करके 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' नाम से एक सुन्दर संग्रह तैयार कर दिया।

यह संग्रह और संकलन ऐसी अद्भुत शैली से किया गया है कि इसमें जिनागमों का सार अति संक्षेप में समाविष्ट होगया है। यह संकलन प्रकाशित होते ही सर्वसाधारण के लिये आकर्षण करने वाला हुआ। उसकी अनेक आवृत्तियां प्रकाशित हुई। उसका हिन्दी अनुवाद भी स्वयं जैन दिवाकरजी म० ने किया। यह संकलन इतना अधिक उपयोगी और लोकप्रिय हुआ कि केवल केवल भारतवर्ष

की अनेक भाषाओं में उसका अनुवाद भी होगया। गुजराती मराठी उर्दू, के अतिरिक्त अंग्रेजी भाषा में उसका प्रकाशन हुआ। संस्कृत भाषा में उस पर टीका लिखी गई। कई जैन-अजैन विद्वानों व प्रोफेसरों ने एवं सम्पादकों ने उसकी खूब सराहना की। इस लोकप्रिय 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' के मर्म को समझाने के लिए हिन्दी भाषा में एक विशद भाष्य भी लिखागया है। यह भाष्य गाथाओं के मर्म को स्पष्ट करने में बड़ा उपयोगी है।

जिन्होंने अनेकानेक सत्यसाहित्य ग्रन्थों का प्रणयन किया और 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' रूप अनमोल रत्नों का दान दिया उन जैन दिवाकरजी म के प्रति हम किन शब्दों में कृतज्ञता बतलायें यह समझ में नहीं आता। संक्षेप में यही कहना पर्याप्त है कि साहित्यकार के रूप में भी जैन दिवाकरजी म ने जैन शासन की महान सेवा बजायी है और ऐसे धर्म-साहित्य के अनमोल रत्न प्रदान कर साहित्य और समाज का बड़ा भारी उपकार किया है। इसके लिये जैन समाज आपका सदा आभारी रहेगा।

चातुर्मास—संस्मरण

विक्रमी संवत् १९५२ में दीक्षा अंगीकार करने के पश्चात् संवत १९८७ तक के चातुर्मासों में जैन दिवाकरजी म के सदुपदेशों से जो लोकोपकारी कार्य हुए उनकी संक्षिप्त रूपरेखा पूर्व के प्रकरणों में आचुकी है। विस्तृत जानकारी की इच्छा रखने वाले सज्जन 'आदर्श मुनि' नामक ग्रन्थ का अवलोकन करें। यहां संवत् १९८८ के चातुर्मास से लेकर आगे के चातुर्मासों की संक्षिप्त रूपरेखा और मुख्य २ घटनाओं का उल्लेख ही किया जाता है—

संवत् १९८८ बम्बई —जैन दिवाकरजी म का यह चातुर्मास बम्बई श्रीसंघ के लगातार सात वर्ष के अत्यन्त आग्रह से कांदावाड़ी के जैन धर्मस्थानक में हुआ। आषाढ़ शुक्ला प्रतिपदा के दिन महाराज श्री का यहां पदार्पण हुआ। दूसरे ही दिन से व्याख्यान प्रारम्भ हुए। दिन प्रतिदिन जैन जैनेतर श्रोताओं से सभामण्डप पूरा भर जाता था। कई बार तो श्रोताओं को जगह भी नहीं प्राप्त होती थी। महाराज श्री के लोकप्रिय व्याख्यानों से जनता इतनी आकृष्ट होने लगी कि बम्बई के श्रीसंघ को श्रोताओं के बैठने के लिए दूसरी व्यवस्था करनी पड़ी। श्रीसंघ ने उपाश्रय के समीप के मैदान में पांच हजार श्रोता बैठ सकें ऐसा सभा मण्डप तैयार करवाया। बम्बई में हुए पहले के चातुर्मासों में ऐसी व्यवस्था करने की आवश्यकता ही नहीं हुई परन्तु जैन दिवाकरजी म के प्रभावशाली प्रवचनों से श्रोताओं का प्रवाह उमड़ पड़ता था अतएव भव्य सभा मण्डप की व्यवस्था की गई थी। मोहमयी बम्बई नगरी की जनता के अतिरिक्त आसपास के माटुंगा घाटकोपर सान्ताक्रुज विलेपार्ले आदि उपनगरों से भी श्रोतागण प्रतिदिन महाराज श्री की वचना-सुधा

का पाम करने के लिये आते थे। चातुर्मास में महाराज श्री के दर्शन के लिये आने वाले महाशयों के लिये बम्बई श्रीसंघ ने सुन्दर व्यवस्था की थी। महाराज श्री की सेवा में रहे हुए तपस्वी श्री मयाचन्दजी महाराज सा ने ४२ दिन की तथा तपस्वी श्री विजयराजजी म ने भमिग्रह सहित ३७ दिवस की तपश्चर्या मात्र गरम जल के आधार से की थी उसकी पूर्णाहुति ता ५-१-१९५१ को थी। इस सम्बन्ध के समाचार श्रीसंघ ने आमंत्रण पत्रिकाओं तथा समाचार पत्रों द्वारा प्रकट किये थे। बाहर के ग्रामों से १००० १२ की मेदिनी तपश्चर्या की समाप्ति के दिवस तपस्वी मुनिराजों के दर्शनार्थ उमड़ पड़ी थी। उस प्रसंग पर त्याग प्रत्याख्यान तथा जीवदया के कार्य खूब हुए।

पर्वाधिराज पर्युषण की आराधना अत्यन्त आनन्द एवं उत्साह पूर्वक हुई। इन दिनों में दया पौषध तपश्चर्या आदि का ठाठ रहा। कसाइयों के हाथों में पहुंचने वाले हजारों कीमती जीवों को अभयदान दिलाया गया। संवत्सरी के दिन सायंकालीन प्रतिक्रमण में इतनी जनमेदिनी एकत्रित हुई कि उसे देखकर वहां के निवासियों को गौरव का अनुभव हुआ और साथ ही उन्होंने यह अनुभव किया कि इतनी विशाल जैन मेदिनी के लिये एक विशाल हॉल (भवन) बनवाने की आवश्यकता है। लगभग पाँच हजार मनुष्यों के सामूहिक प्रतिक्रमण का दृश्य बड़ा शानदार और भव्य था।

इस चातुर्मास-काल में बम्बई के सुप्रसिद्ध हीरे के व्यापारी जौहरी सूरजमल लल्लूभाई प्रायः महाराज श्री के दर्शनों के लिये आया ही करते थे। एक बार जौहरी जी बौद्ध धर्म के अग्रगण्य तथा बम्बई के प्रख्यात डॉक्टर बाडकर को साथ लेकर महाराज श्री की सेवा में आये। उन्होंने महाराज श्री के साथ धार्मिक वार्तालाप किया और अन्त में अत्यन्त संतोष व्यक्त किया। इसके अतिरिक्त गुजरात में 'भिक्षुकराज' के माननीय उपनाम से विभूषित प्रखर देशभक्त श्रीमान् मणीलाल कोठारी भी महाराज श्री के व्याख्यान सुनने को आये थे। व्याख्यान की समाप्ति पर कोठारीजी ने अपनी सुन्दर वक्तृत्व शैली से महाराज श्री की खूब प्रशंसा की थी।

ता १२.११.५१ के दिन बम्बई के अग्रगण्य देशभक्त नेता श्री नरीमान महाराज श्री सेवा में आये थे। ता १४.११.५१ को लेमिंगटन सिनेमा-गृह में महाराज श्री का 'मनुष्य कर्त्तव्य' पर जाहिर व्याख्यान हुआ था। सारा हॉल जन मेदिनी से पूरा भरा हुआ था। व्याख्यान पूर्ण होने पर पण्डित लालन का भाषण हुआ। पण्डित लालन ने कहा था कि "ये महाराज श्री अपने आपको भगवान् महावीर के चोकीदार कहते हैं परन्तु ऐसा नहीं, ये भगवान् महावीर के नियुक्त किये हुए वायसराय हैं। महाराज श्री के भाषण सुनकर मुझे बहुत आनन्द हुआ। आदि। इसके बाद ता-२२.११.५१ माधव बागमें सच्चा सुख और उसके साधन" इस विषय पर जाहिर प्रवचन हुआ। हजारों जैन जैनेतर जनता उपस्थित थी। जैनेतर जनता-वैष्णव पारसी आदि महाराज श्री की व्याख्यान शैली और सर्वधर्म समभाव से बहुत

प्रभावित हुई। सचमुच महाराज श्री की वाणी में कुछ अद्भुत चमत्कार है कि जो एकबार आपकी वाणी का सुधा—पान कर लेता है वह सदा के लिये आपका भक्त बन जाता है। इसप्रकार समस्त चातुर्मास काल में खूब धर्मोद्योत हुआ। चातुर्मास की समाप्ति पर जब महाराज श्री ने यहां से विहार किया तब सैकड़ों नरनारियों की आंखों में वियोग के आंसू दृष्टिगोचर होते थे।

बम्बई से विहारकर महाराज श्री इगतपुरी घोटी होते हुए नासिक पधार रहे थे कि सड़क के किनारे तीन कोस पर एक ग्राम में एक भाई दर्शन के लिये आया और उसने अपनी भाभी को आवाज दी कि महाराज श्री पधार रहे हैं, दर्शन करलो। भाभी के आने में देर हुई। जब उससे पूछा कि इतनी देर क्यों हुई तो उसने कहा कि 'कपड़े सम्भालकर आ रही हूँ'। जब उसके कपड़ों पर दृष्टि डाली तो अनेकों जगह पर थेगरें लगे हुए थे। करुणा से प्रेरित होकर मुनि श्री प्यारचंदजी म० उसके घर के द्वार पर गये और घर में देखा तो पीतल के एक दो बर्तन नजर आये और चारों कोने चौपट थे। उससे सहज अनुमान होगया कि यहां तो चूहों को भी एकादशी करनी पड़ती होगी। एक स्वधर्मी कुटुम्ब की ऐसी दीनदशा से महाराज श्री के हृदय पर बड़ा असर हुआ। नासिक में अहमदनगर का एक बन्धु आया और महाराज श्री की प्रेरणा से उसने उस कुटुम्ब की पूरी व्यवस्था करदी। महाराज श्री ने नासिक-संघ को भी उपदेश प्रदान किया कि स्वधर्मी बन्धुओं के साथ प्रेम भाव रखना स्वधर्मियों को सहायता करना अपने धर्मी बन्धुओं की दीन दशा को मिटाने का प्रयत्न करना यह संघ का सबसे बड़ा प्रथम कर्तव्य है आदि। नासिक में चरित्र नायकजी का सिनेमाघर में जाहिर व्याख्यान हुआ। वहां से औरंगाबाद जालना आदि गावों में पधार कर सं० १९८९ का चातुर्मास मनमाड़ में हुआ।

सं० १९८९ मनमाड़ः—औरंगाबाद जालना आदि नगरों एवं ग्रामों में अपने प्रवचनों की वर्षा करते हुए महाराज श्री मनमाड़ पधारे। मनमाड़ श्री संघ के अत्यन्त आग्रह से यह चातुर्मास यहीं किया। चातुर्मास में व्याख्यानों की खूब धूम रही। जैन दिवाकरजी म० ने "भगवान महावीर का आदर्श जीवन" नामक एक विशाल ग्रन्थ लिखा था। उसको जनता तक पहुँचाने के लिए श्रीमान् सेठ राजमलजी सा० ललवाणी ने अपील की थी। उस अपील का उत्तर उपस्थित दानवीरों ने ऐसा दिया कि पांच मिनट में १००००) के वचन प्राप्त होगये। उक्त ग्रन्थ के प्रकाशन में जितने रुपयों की आवश्यकता थी उतने मिल जाने पर अपील बन्द कर दी गई। इसपर लोग नाराज होकर कहने लगे कि 'हम भी लिखा रहे हैं, हमारे रुपये क्यों नहीं लेते'। उन लोगों को सभा में निवेदन किया गया कि 'कार्य होगया है अब आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता होने पर आपसे भी लिये ही जायेंगे"। तात्पर्य यह है कि जैसे मालारिया आम के पेड़ को हिलाने से आम टपाटप गिरते हैं

वैसे ही टपाटप प्रथम दाताओं ने अपने नाम लिखवा दिये। यह दृश्य भी अपूर्व था।

इसी चातुर्मास काल में अजमेर में होने वाले साधुसम्मेलन के लिये निर्मत्रण करने के लिये बम्बई के संघपति सेठजी लखनसी मप्पू दुर्लभजी भाई जौहरी आदि समाज के नेतागण महाराज श्री की सेवा में उपस्थित हुए। उनके निर्मत्रण का मान देकर चातुर्मास समाप्त होनेपर महाराज श्री विहार करते हुए धूलिया सन्धवा धार, रतलाम होते हुए भिलवाड़ा पधारे। भिलवाड़े में साम्प्रदायिक-सम्मेलन हुआ जिसमें स्वर्गीय पूज्य श्री मन्नालालजी म सा भावी पूज्य श्री खूबचन्दजी म आदि की उल्लेखनीय उपस्थिति थी। यहां से महाराज श्री ब्यावर पधारे। बीचके ग्रामों में अनेकों जागीरदारों व रईसों ने उपदेश श्रवण किया और त्याग प्रत्याख्यान किये।

इसी समय अजमेर में ऐतिहासिक साधु—सम्मेलन हुआ। हमारे चरित्र नायकजी प्रतिनिधि की हैसियत से सम्मेलन में पधारे। वहाँ कई उपयोगी प्रस्ताव हुए। वहां पूज्य श्री हुक्मीचंदजी म की सम्प्रदाय के दो विभागों का पारस्परिक वैमनस्य दूर हुआ। इसमें जैन दिवाकरजी म ने काफी सहयोग दिया। सम्मेलन का दृश्य अभूतपूर्व था। पचास हजार से भी अधिक मनुष्य उपस्थित हुए थे। वहां पर नित्यप्रति जैनदिवाकरजी म के व्याख्यानों की चहल पहल रहती थी।

स १९९० ब्यावर:—संवत् १९९० का चातुर्मास ब्यावर हुआ। पूज्य श्री मन्नालालजी म सा का आषाढ़ मास में स्वर्गवास हो गया था। इस चातुर्मास की उल्लेखनीय घटना यह है कि सम्मेलन के अवसर पर पधारे हुए काठियावाड़ी मुनिराज पं श्री मणिलालजी म तथा पं श्री श्यामजी म का चातुर्मास भी ब्यावर हुआ था। कोटा सम्प्रदाय के मुनि रामकुमारजी म का चातुर्मास भी वहीं था। जैनदिवाकरजी म सा जहां विराजते थे वहीं सभी मुनिराजों के सम्मिलित रूपसे व्याख्यान होते थे।

ब्यावर का चातुर्मास पूर्ण करके जैनदिवाकरजी म मन्दसौर होते हुए रतलाम पधारे। वहां हिन्दुवासूर्य महाराणा साहब उदयपुर ने श्रीमान् मदन सिंहजी सा को जैनदिवाकरजी म की सेवा में भेजकर आगामी चातुर्मास उदयपुर में करने की प्रार्थना की। महाराणा सा की विनती को जैनदिवाकरजी म ने स्वीकृत की तदनुसार १९९१ का चातुर्मास उदयपुर हुआ।

स १९९१ उदयपुर —महाराणा सा की विनती से महाराज श्री का यह चातुर्मास पिछोला के पास नमेड़ा महाराजाधिराज की हवेली में हुआ महाराणा सा ने

कई बार उपदेश श्रवण का लाभ लिया। तपस्वी श्री छोगालालजी म के पारणे के दिवस श्रीमन्त महाराणा साहब ने अगता पलवाया तथा अपने हाथों से आहार बहराया। अनेकों जागीरदारों ने अनेक स्थानों पर होने वाली हिंसा बन्द की। इस चातुर्मास में बाहर से आने वाले दर्शनार्थियों की व्यवस्था में होने वाले खर्च में स्वयं दरबार ने भी हिस्सा लिया। यह चातुर्मास पूर्णकर महाराज श्री मन्दसौर पधारे।

मन्दसौर में सर्वानुमति से चतुर्विध श्रीसंघ ने श्री सूर्यमलजी म को "पूज्य" पदवी और हमारे चरित्रनायकजी को "जैनदिवाकर" की पदवी से विभूषित किया। इस शुभ प्रसंग पर बड़ा भारी महोत्सव हुआ। इस अवसर पर बाहर के गांवों से १०००० मनुष्यों से भी अधिक जन समुदाय एकत्रित हुआ था। रतलाम से एक स्पेशल ट्रेन भी आई थी। कई जागीरदारों ने भी इस उत्सव में भाग लिया था। अन्य मुनिराजों को भी यथायोग्य उपाधियों से सम्मानित किया गया था।

यहां से विहारकर महाराज श्री रामपुरा गरोठ की तरफ पधारे। आगरा श्री संघ का १८ व्यक्तियों का एक डेप्युटेशन महाराज श्री के चातुर्मास की विनती के लिये आया। उनका अत्यधिक आग्रह होने से विनती स्वीकार कर ली गई थी। उसी ओर विहार होता था। पाटण में सेठ लालचंदजी खेमचंदजी भंवरलालजी आदि ने उपदेश श्रवण किया था। यहां से महाराज श्री कोटा पधारे। यहां के श्रीसंघ राज्य कर्मचारी एवं दीवान साहब ने चातुर्मास के लिये प्रार्थना की परन्तु उस समय स्वीकृत नहीं हुई। महाराज श्री ने आगरे की ओर विहार कर दिया था पर जैन दिवाकरजी म की तबियत अस्वस्थ होगई अतएव कोटा श्री संघ ने आगरा के श्री संघ से चातुर्मास की मांग करली अतएव सं १९९२ का चातुर्मास कोटा में हुआ।

सं १९९२, कोटा:—कोटा के चातुर्मास में यहां के हिज हाइनेस ने भी व्याख्यान श्रवण का लाभ उठाया। कोटा नरेश केवल दस मिनिट का समय निर्धारित कर व्याख्यान में आये थे परन्तु वे व्याख्यान से इतने प्रसन्न हुए कि ५० मिनिट तक व्याख्यान सुनते रहे। जैन दिवाकरजी म के व्याख्यानों में जनता इतनी आती थी कि विशाल चौक होने पर भी दरवाजा बंद करना पड़ता था। महाराज श्री के सदुपदेश से कइयों के दुर्व्यसन छूट गये और कइयों के जीवन का सुधार होगया।

सं० १९९३ आगरा:—इस चातुर्मास में निर्ग्रन्थ प्रवचन सप्ताह बड़े समारोह पूर्वक मनाया गया। लोहामण्डी के मकान में श्रोताओं का पूरा समावेश नहीं होता था तो आम सड़क पर खड़े होकर मनुष्य जैन दिवाकरजी म के व्याख्यान श्रवण करते थे। मानपाड़े में भी जैन दिवाकरजी म के प्रवचन हुए थे। व्याख्यानों में अच्छा आनन्द आता था। अम्बाले से दिगम्बर भजन मण्डली और उपदेशकों का

भी निमंत्रित किये थे। इस सप्ताह में सैकड़ों रुपयों की प्रभावना वितरित की गई। कानपुर में लाला फूलचंदजी ने कानपुर में चातुर्मास करने के लिये आग्रह किया। यहां की विनती को मानकर महाराज श्री हाथरस होते हुए अलेसर पधारे। अलेसर में महाराज श्री का व्याख्यान होरहा था। चोरी न करने का उपदेश चलरहा था। इस उपदेश का असर इतना हुआ कि सातबार जेल में जा चुकने वाले पक्के डकैती ने चोरी न करने की प्रतिज्ञा करली इस प्रसंग का विवरण "पतितपावन के रूप में" इस प्रकरण में किया जा चुका है।

सं० १९९४ कानपुर—लाला फूलचंदजी सा की आग्रह भरी विनती से यह चातुर्मास कानपुर में हुआ। इससे पहले कानपुर में किसी भी स्थानकवासी जैन मुनि का चातुर्मास नहीं हुआ था। लालाजी सा ने समस्त खर्च अपनी ओर से किया था। लालाजी ने मुनिराजों का तथा आगन्तुक दर्शनार्थियों का भव्य स्वागत किया। लालाजी ने यात्रियों की ऐसी सुन्दर व्यवस्था की थी कि वह दूसरी जगह कहीं न हुई थी। लालाजी ने अपनी धर्मशाला में चातुर्मास करवाया था। निर्ग्रन्थ प्रवचन सप्ताह बड़े समारोह के साथ मनाया गया था। सप्ताह के अन्तिम दिन विराट् जुलूस निकाला गया था। लालाजी ने वहां कवि सम्मेलन का भी आयोजन किया था। कानपुर में एक दीक्षा भी बड़ी धूमधाम से हुई। लालाजी सा ने बड़ी उदारता के साथ चातुर्मास में खर्च किया और धर्म का लाभ उठाया।

कानपुर पधारने के पहले महाराज श्री लखनऊ पधारे थे। वहां स्थानक वासियों के घर नहीं हैं। तथापि महाराज श्री के प्रवचनों से प्रभावित होकर श्वेताम्बर दिगम्बर सम्प्रदाय के श्रावकगण चातुर्मास की विनती करने लगे परन्तु चातुर्मास तो कानपुर का मंजूर हो चुका था। मतलब यह है कि लखनऊ में पहले तो किसी ने स्वागत नहीं किया परन्तु प्रवचन सुनने के बाद सैकड़ों व्यक्ति महाराज श्री के भक्त बन गये। यह है जैन दिवाकरजी म के प्रवचनों का प्रभाव।

कानपुर का चातुर्मास पूर्ण करने पर महाराज श्री इटावा पधारे। वहां कलकत्ता के श्रीमन्त जनों का एक डेप्युटेशन फर्स्टक्लास का डिब्बा रिजर्व कराकर महाराज श्री की सेवा में आया और कलकत्ता पधारने के लिये महाराज श्री से प्रार्थना करने लगा। महाराज श्री ने फरमाया कि अब हम कानपुर से इतनी दूर निकल आये हैं। और कलकत्ता बहुत दूर है। अतएव अब उधर आना कठिन है। वहां से महाराज श्री आगरा पधारे। वहां दिल्ली के श्री संघ का एक डेप्युटेशन आया और विनती करने लगा कि हम लोग पचों से विनती करवाते हैं। इस तरह से इतनी संख्या में विनती के लिये पहले कहीं नहीं गये। अतः आपको विनती स्वीकार करनी होगी। तब हम लोग यहां से जावेंगे"। दिल्ली वालों का अत्यन्त आग्रह देखकर महाराज श्री ने विनती स्वीकार की और सं० १९९५ का चातुर्मास दिल्ली में हुआ।

सं १९९५, दिल्ली:—जैन दिवाकरजी म का यह चातुर्मास शास्त्रज्ञ धैर्यवान् पूज्य श्री भूधरचन्द्रजी महाराज की सेवा में हुआ। निर्ग्रन्थ प्रवचन सप्ताह धूमधाम से मनाया गया। इस चातुर्मास में एक जर्मन विद्वान् महाराज श्री की सेवामें आया था। उन महाशय ने जैन दिवाकरजी म से कई प्रश्न किये। प्रोफेसर फूलचन्दजी सा ने दुभाषिया का काम किया था। वे सज्जन अंग्रेजी में बोलते और उसका भाषान्तर प्रोफेसर सा करके महाराज श्री को समझाते तथा महाराज श्री जो उत्तर फरमाते उसका अंग्रेजी अनुवाद करके उस जर्मन विद्वान् को महाराज श्री का आशय समझाते। इस वार्तालाप से उस जर्मन विद्वान् को बड़ा सन्तोष हुआ। इसकी अलग पुस्तिका भी प्रकाशित हुई है।

उदयपुर के महाराणा सा ने दिल्ली में जैन दिवाकरजी म सा का एक व्याख्यान सुना। साथ ही उन्होंने आगामी चातुर्मास उदयपुर करने के लिये प्रार्थना की। इसके उत्तर में महाराज श्री ने फरमाया कि साम्प्रदायिक नियमानुसार फाल्गुन के बाद यथायोग्य उत्तर दिया जा सकेगा।

दिल्ली से विहार करके जैन दिवाकरजी म अलवर पधारे। वहां अलवर के श्रीमन्त नरेश ने व्याख्यान श्रवण करने का लाभ उठाया कई व्याख्यान जगत टॉकिज में हुए। वकील एसोसियेसन की ओर से एक व्याख्यान करवाया गया। प्राइमिनिस्टर हार्वे साहब तथा उनकी मेम साहिबा ने भी उपदेश श्रवण का लाभ लिया। वहां से महाराज श्री जयपुर होते हुए किशनगढ़ पधारे।

वहां उदयपुर के महाराणा सा ने प्रतीष्ठित राज्याधिकारी को भेजकर आगामी चातुर्मास की स्वीकृति करवाई। वहां से अजमेर होते हुए महाराज श्री ब्यावर पधारे। गर्मी का समय आगया था। अतएव ब्यावर श्रीसंघ ने दरबार की सेवामें पत्र भेजा कि उष्ण ऋतु है अतएव आप फरमावें तो जैन दिवाकरजी म का यह चातुर्मास यहां कराने की हमारी इच्छा है। दरबार की ओर से उत्तर आया कि चातुर्मास तो उदयपुर ही होना चाहिये अतएव जैन दिवाकरजी म उदयपुर पधारे।

सं १९९६, उदयपुर:—महाराणा सा की प्रार्थना से यह चातुर्मास उदयपुर में हुआ। दरबार ने कई बार उपदेश सुना। यात्रियों के स्वागत फण्ड में १० ०) रुपये दरबार ने प्रदान किये। निर्ग्रन्थ प्रवचन सप्ताह बड़े समारोह के साथ मनाया गया। शान्तिनाथ दिवस पर विराट् जुलूस निकाला गया। एक रोज शान्ति-कथा हुई थी। हजारों मनुष्यों ने आयम्बिल व्रत करके कथा सुनी थी। उस समय आयम्बिल इतने हुए थे कि जैसे मुरमुरे वालों ने भाव बढ़ा दिये थे और उनका अभावसा होगया था। इस चातुर्मास में उदयपुर के समीप के गावों और पहाड़ों में बसने वाले मीणों और रहवासियों ने आकर उपदेश सुना था और सदा के लिये मदिरा व जीव की प्रतिज्ञा

ली थी।

उदयपुर का चातुर्मास पूर्ण करके जैन दिवाकरजी म. चित्तौड़ पधारे। वहां बड़ी धूमधाम से महावीर जयन्ती मनाई। उस प्रसंग पर बाहर के गाँवों से आई हुई दो तीन हजार जनमेदिनी उपस्थित थी। जोधपुर श्रीसंघ का डेप्युटेशन आया और उसने आगामी चातुर्मास जोधपुर करने के लिए आग्रह पूर्वक प्रार्थना की।

संवत् १९९७, जोधपुरः—जोधपुर के श्रीसंघ की विनती को मानकर जैन दिवाकरजी म. चातुर्मास के चातुर्मास के लिये जोधपुर पधारे। काहोर की हवेली में व्याख्यान होते। हजारों लोग प्रवचनों का लाभ उठाते। बड़े २ राज्य कर्मचारी महाशयों ने उपदेश श्रवण में भाग लिया। वेश्याएं भी प्रवचन सुनने आतीं और उनमें से कई वेश्याओं ने अपने जीवन में बहुत परिवर्तन कर लिया। निर्ग्रन्थ प्रवचन सप्ताह भी खूब समारोह पूर्वक मनाया गया। यह चातुर्मास पूर्णकर के महाराज श्री बगड़ी (मारवाड़) पधारे। वहां महावीर जयन्ती बड़ी धूमधाम से मनाई गई।

इसी समय ब्यावर में साम्प्रदायिक साधु-सम्मेलन हुआ। बाहर के गांवों से कई हजार मनुष्य आये थे। जयपुर श्रीसंघ ने महाराज श्री का चातुर्मास अपने यहां कराने का अत्याग्रह किया परन्तु ब्यावर वालों ने अपने यहां चातुर्मास करने की स्वीकृति लेही ली अतएव सं. १९९८ का चातुर्मास ब्यावर में हुआ।

सं. १९९८, ब्यावरः—यह चातुर्मास ब्यावर में हुआ। हजारों लोगों ने प्रवचन में भाग लिया। निर्ग्रन्थ प्रवचन सप्ताह बड़े समारोह से मनाया गया। ब्रिटिश राज्य कर्मचारियों ने भी उपदेश में भाग लिया था। वहां का चातुर्मास पूर्ण करके महाराज श्री सिंगोली पधारे। यह शानदार रूप से महावीर जयन्ती मनाई गई। कई रईस और जागीरदार उस समयपर उपस्थित थे। हजारों की जन संख्या एकत्रित हुई थी। यहां से महाराज श्री ने मालवे की ओर विहार किया।

सं. १९९९, मन्दसौरः—जैन दिवाकरजी म. का यह चातुर्मास मन्दसौर में हुआ। बाहर से हजारों। दर्शनार्थी आये थे। निर्ग्रन्थ प्रवचन सप्ताह भी बड़े समारोह से मनाया गया। इस चातुर्मास में पूज्य श्री हुक्मीचंदजी म. के सम्प्रदाय का हितैषी श्रावक मण्डल' की दृढ़ नींव पड़ी। कार्यकर्ताओं ने हजारों रुपयों का चन्दा मण्डल के लिये प्राप्त किया।

चातुर्मास पूर्ण होने पर महाराज श्री का पदार्पण प्रतापगढ़ में हुआ। यहां के हिजहाइनेस ने दो व्याख्यान श्रवण किये और अत्यन्त प्रभावित हुए। दो दिन तक दरबार की ओर से अमावस्या पाली गई। राजमाता ने मुनिराजों को आहार बह राया। यहां से विहार करते हुए महाराज श्री सैलाना पधारे। वहां के हिजहाइनेस श्री दिलीपसिंहजी सा. म. उपदेश श्रवण किया। वहां से महाराज श्री का रतलाम

श्री जैन दिवाकरजी महाराज का मेवाड़ स्टेट से दिए गए पट्टों की नकलें।
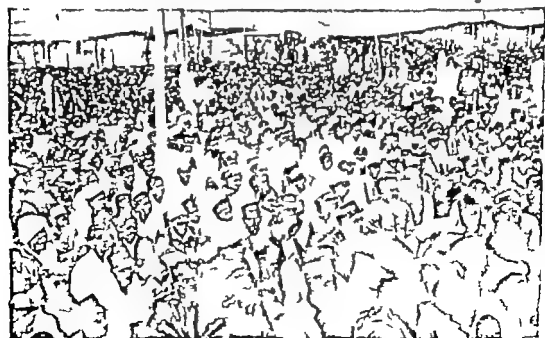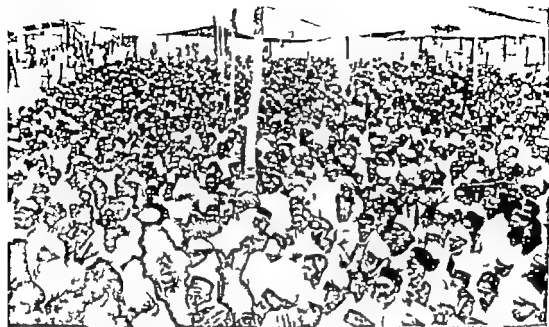
में शुभागमन हुआ। महावीर जयन्ती का समय था। जैन दिवाकरजी म. पं. मुनि श्री किशनलालजी म. सा. प्रसिद्ध वक्ता प. मुनि श्री सौभाग्यमलजी म. से संयुक्त महावीर जयन्ती मनाई। इस महावीर जयन्ती उत्सव का दृश्य बड़ा शानदार रहा।

रतलाम से विहार करके ग्रामानुग्राम विचरते हुए जैन दिवाकरजी म. चित्तौड़ पधारे।

सं. २०००, चित्तौड़—संवत २०० ० का चातुर्मास ऐतिहासिक नगर चित्तौड़ में हुआ। इस चातुर्मास में तपस्वी मुनि श्री चन्दावरसिंहजी म. ने ५७ दिन की तपश्चर्या की थी। इस तपः पूर्ति महोत्सव पर बाहर के गांवों के लगभग १२००० मनुष्य आये थे। इस चातुर्मास की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें चित्तौड़ की सभी जातियों ने बाहर से आने वाले दर्शनार्थियों की व्यवस्था में भाग लिया था। चित्तौड़ के निवासियों ने यात्रियों को अपने २ मकान में ठहराये थे। माहेश्वरी बन्धुओं ने अच्छा सहयोग दिया। इस चातुर्मास की यह दुःखद घटना है कि तपश्चर्या का पारणा करने के बाद तपस्वी मुनि का स्वर्गवास होगया। हजारों नर नारी रथी के साथ श्मशान तक पहुंचे। वहां एक चमत्कारी घटना घटित हुई। यह चमत्कार हजारों लोगों ने अपनी आंखों से देखा कि तपस्वी मुनि का अग्नि संस्कार करने के एक मिनिट पूर्व पञ्चवर्णी प्रकाश की विद्युत के समान रेखा पूर्व से आकर उस रथी के ऊपर होती हुई पश्चिम की ओर ऊपर आकाश में विलीन होगई। यह हजारों लोगों का आंखों देखा चमत्कार है।

इस चातुर्मास की एक और विशेषता यह है कि यहां जैन दिवाकरजी म. के सदुपदेश से वृद्ध पुरुषों के लिये "श्री चतुर्थ जैन वृद्धाश्रम" की स्थापना हुई। समाज में ऐसे कई वृद्ध पुरुष हैं जो बड़ी खराब हालत में हैं। वे शरीर से क्षीण तथा अपंग से हैं। उनके कुटुम्ब वालों की ओर से उनकी कोई समुचित व्यवस्था नहीं है। ऐसे वृद्धपुरुषों की समुचित व्यवस्था कराना तथा उनका अन्तिम जीवन धर्मक्रियाओं को करते हुए शान्तिमय रूप में व्यतीत हो यही इस संस्था का उद्देश्य है। जैन दिवाकरजी म. की करुणामय प्रेरणा से इस उपयोगी संस्था की स्थापना हुई।

चित्तौड़ का चातुर्मास पूर्ण करके जैन दिवाकरजी म. विचरते हुए उदयपुर पधारे। यहां बड़ी धूमधाम से महावीर जयन्ती का महात्म्य मनाया गया। जैन दिवाकरजी म. तथा श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के विद्याविजयजी म. के प्रवचन हुए। उस प्रसंग पर इतनी जनमेदिनी उमड़ पड़ी थी कि हजारों लोगों को बिना उपदेश सुने ही खाली लौटना पड़ा। एक बड़े राज्य कर्मचारी को भी जगह न मिल सकने कारण वापस लौटना पड़ा था। उस समय उपवास तप का महोत्सव था अतएव लगभग १२०० नरनारी उस महात्म्य के लिए तथा १०० ० नर नारी जैन दिवाकरजी म. की वजह से आये थे। उदयपुर श्रीसंघ ने इन्द्र निवासी राय

बहादुर राज्य भूषण सेठ श्री कन्हैयालालजी सा भंडारी को मानपत्र भेंट किया। उज्जैन में बोर्डिंग के लिये १५०) रु का चन्दा एकत्रित हुआ। वहां के श्रीसंघ ने आगामी चातुर्मास करने की विनती की। देवास में निश्चयात्मक रूप से उज्जैन श्रीसंघ की चातुर्मास की विनती स्वीकृत हुई। देवास सीनियर के राजकुमार ने उपदेश श्रवण किया। देवास जूनियर की राज्यमाता व रानी साहिबा ने कई बार उपदेश श्रवण किया। देवास से विहार करके महाराज श्री इन्दौर पधारे। वहां के महावीर चौक में जैन दिवाकरजी म के कई व्याख्यान हुए। प्रसिद्ध धनकुबेर सर सेठ हुकमीचंदजी सा हीरालालजी सा आदि प्रतिष्ठित नागरिक जन एवं हजारों मनुष्य उपदेश सुनने को आते थे। इस प्रसंग पर चित्तौड़ के वृद्धाश्रम के लिये १ ००) रु इन्दौर वालों ने प्रदान किये।

संवत २००१, उज्जैनः—देवास में दी गई स्वीकृति के अनुसार जैन दिवाकरजी म का यह चातुर्मास उज्जैन में हुआ। निर्ग्रन्थ प्रवचन सप्ताह बड़े समारोह के साथ मनाया गया। हितैषी मण्डल मन्दसौर तथा श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति रतलाम के अधिवेशन हुए। स्थानीय उच्चाधिकारी श्रीमान् सूबा साहेब एवं प्रतिष्ठित नागरिक श्रीमान रायबहादुर लालचन्दजी सा आदि ने उपदेश श्रवण में भाग लिया। चातुर्मास पूर्ण होने पर धार होते हुए महाराज श्री का रतलाम में पदार्पण हुआ।

जब जैन दिवाकरजी म रतलाम में विराजते थे तब इन्दौर निवासी सेठ सुगनचन्द्रजी सा भण्डारी सेवामें पधारे और चातुर्मास के सम्बन्ध में जैन दिवाकरजी म से परामर्श किया और कहा कि आप इन्दौर संघ की आगामी चातुर्मास के लिये की जाने वाली विनती को अवश्य स्वीकार करें। तत्पश्चात् इन्दौर संघ का आग्रह होने से विनती स्वीकार की गई। रतलाम से विहार करके महाराज श्री जावरा पधारे। वहां संयुक्त रूप से महावीर जयन्ती मनाई।

सं २००२, इन्दौरः—चातुर्मास काल नजदीक आने पर महाराज श्री इन्दौर पधारे। स्वीकृत विनती के अनुसार चातुर्मास यहीं हुआ। श्रीमान् रायबहादुर राज्य भूषण सेठ कन्हैयालालजी सा भण्डारी श्रीमान् सेठ सुगनचन्दजी सा भण्डारी आदि श्रीमानों ने अपना अमूल्य समय और धन पर्याप्त मात्रा में खर्च किया। इन्दौर श्रीसंघ ने तनमन और धन से चातुर्मास को सफल बनाया। भण्डारी जी सा के आग्रह से मिल के मजदूरों को महाराज श्री ने उपदेश दिया। चित्तौड़ के वृद्धाश्रम के लिये २ ०) बीसहजार रुपयों का चन्दा हुआ। निर्ग्रन्थ प्रवचन सप्ताह भी मनाया गया। इस समय इन्दौर में मध्यभारतीय जैन सम्मेलन भी हुआ। शिक्षा के प्रचार के लिये स्थान ५ पर धार्मिक पाठशालाएं खोलने का निश्चय हुआ तथा अन्य समाजोपयोगी प्रस्ताव पास हुए। इस प्रकार इन्दौर चातुर्मास सानन्द व्यतीत हुआ।

संस्थापित संस्थाएँ

जैन दिवाकरजी म. ने जैन समाज के अभ्युदय के लिये अनेक दिशाओं में प्रयत्न किये हैं। व्याख्यान, लेखन, धर्म प्रचार आदि के अतिरिक्त आपने अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से अनेक समाजोपयोगी संस्थाओं को जन्म दिया है। आपके प्रयत्न और आपकी प्रेरणा द्वारा संस्थापित संस्थाएं इस प्रकार हैं—

श्री महावीर मण्डल रतलाम
श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समिति रतलाम
श्री समाज हितैषी श्रावक मण्डल मन्दसौर
श्री चतुर्थ जैन वृद्धाश्रम चित्तौड़गढ़।

यह संस्थाएं अपने २ उद्देश्य के अन्तर्गत रहकर समाज एवं धर्म की सेवा कर रही हैं। जैन समाज का सर्वाङ्गीण अभ्युत्थान करने के लिये ये संस्थाएं प्रयत्न शील हैं। इन संस्थाओं ने अब तक जो सफलता प्राप्त की है उसका समस्त श्रेय जैन दिवाकरजी म. को ही है।

उपसंहार

गत पृष्ठों में जिन महापुरुष की जीवन-रेखा का यत्किञ्चित आलेखन करने का प्रयास किया गया है वे सचमुच एक अलौकिक विभूति हैं। उस लोकोत्तर महान् विभूति का जीवन जगत में नवजीवन लाने वाला, प्राणियों में प्रेरणा का नूतन प्राण फूंकने वाला और जगत को पथ प्रदर्शन करने वाला आकाश-दीप है। इस आज्वल्यमान ज्योति के प्रकाश में सहस्त्रों आत्माओं ने अपने खोये हुए मार्ग को पुनः प्राप्त किया है।

वस्तुतः जैन दिवाकरजी म. का उज्ज्वल जीवन एक शासन प्रभावक संत का जीवन है। जैन दिवाकरजी म. ने अपने विशाल ज्ञान एवं अनुभव के द्वारा तथा उज्ज्वल चारित्र के द्वारा जैन समाज का भारी उपकार किया है। अपनी अनुपम वक्तृत्व शैली तथा अलौकिक व्यक्तित्व के द्वारा उन्होंने जैन शासन की महती सेवा बजायी है। आधुनिक काल में राजा महाराजा एवं नरेशों तक जैनधर्म का संदेश पहुँचाने में सफलता प्राप्त करने वाले आप ही हैं। नरेशों से लेकर दीन हीन समझे जाने वाले दलित वर्ग तक प्रभु महावीर का संदेश पहुंचाने वाले मरहम आप ही हैं। आपका जीवन धन्य भरी मुनियों एवं गृहस्थों के लिये आदर्शरूप एवं अनुकर णीय है।

शासन देव से यह मंगल कामना है कि चतुर्विध श्री संघ की अनमोल सेवा बजाने के लिये जैन दिवाकरजी म. युगयुगान्तर तक चिरायु हों। इतिशम्।

ॐ ॥ शान्तिः शान्तिः ॥ शान्तिः ।

वक्ता या जादूगर !

कविरत्न उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज

एक बहुत पुराना श्लोक है-'सहस्रेषु च पण्डितः वक्ता दशसहस्रेषु' पहला और अन्तिम चरण मैंने जान बूझकर छोड़ दिया है क्योंकि यहां उसका कोई प्रसंग नहीं है। और अप्रसंग की चर्चा करना न स्वयं मुझे पसंद है और न आज के बुद्धिसंपन्न पाठकों को ही कुछ रुचिकर है।

हां तो ऊपर के दो चरणों का भाव बताऊं। 'हजार मनुष्यों में एक पण्डित होता है और दश हजार में एक वक्ता।' मानव समाज का अधिक भाग स्वयं आमनेत्रों से शून्य होता है। किसी भी वस्तु स्थिति के प्रति पूर्णतया विशुद्ध अपना निजी दृष्टिकोण रखने वाले कितने महानुभाव हैं यहां ? और जब तक यह चीज न हो पण्डित कैसा ? यदि पण्डित का अर्थ केवल अक्षराभ्यासी लगाया जाय तब भी पढ़े हुओं की अपेक्षा अनपढ़ ही अधिक निकलेंगे। अतएव ठीक ही कहा है —'सहस्रेषु च पण्डितः।

अब रही वक्ता की बात। वक्ता का अर्थ है अपने मनोगत भावों को वाणी के द्वारा दूसरों के हृदय में उतारना। वाणी एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य से जोड़ने का काम करती है। जिसकी वाणी जितनी ही अधिक संख्या में मनुष्यों को अपने से जोड़ सके वह उतना ही विराट पुरुष होता है। परन्तु इस प्रकार के विराट पुरुष मानव जाति में कितने हैं ? बहुत कम। प्रथम तो बहुत कम मनुष्यों के हृदय में विचारों के तूफान उठते हैं। और दूसरे यदि कभी किसी के हृदय में उठते हैं तो वाणी में इतना बल नहीं होता कि उन्हें उचित सुव्यवस्थित रूप में व्यक्त कर सके। अतएव भारतीय संस्कृति का एक पुराना गायक ठीक ही कहता है कि-'वक्ता दशसहस्रेषु

जगद्वल्लभ प्रसिद्ध वक्ता जैन दिवाकरजी महाराज हमारे समाज में एक ऐसे ही विराट वक्ता हैं। आपकी वाणी में वह ओज वह माधुर्य वह आकर्षण है कि हर श्रोता आनन्द विभोर हो उठता है। जब आप बोलने लगते हैं तो हजारों की जन संख्या को अपने विचारों के विशाल द्रुतवेग प्रवाह में बहा ले जाते हैं। सच्चा और सफल वक्ता वही है जो अपने श्रोताओं के मन को बराबर अपनी ओर खींचे रहे इधर उधर न भटकने दे।

दिवाकरजी की भाषण शैली सुबोध एवं हृदय ग्राहिणी है क्या ग्राम्य जनता क्या नागरिक जनता क्या शिक्षित क्या अशिक्षित सभी को प्रभावित कर देने में आप एक विशेष कौशल रखते हैं। वक्ता के सामने एक प्रेमल दुनियां

बैठी रहती है। उस में बालक बूढ़े युवा साधारण शिक्षा पाया हुआ या कुछ भी न पढ़ा हुआ स्त्री समाज सभी कुछ न कुछ सुमन को आये होते हैं। प्रत्येक को उनकी अपनी अपनी भूमिका के अनुसार विचार सामग्री देना और प्रबन्ध करना वस्तुतः अपने आप को बहुरूप बनाना है और एक विचित्र खेल खेलना है। इसमें दिवाकरजी यह खेल खेलने में बहुत ही सफल प्रमाणित हुए हैं। यही कारण है कि दिवाकरजी की वाणी का मधुर स्वर एक ओर जहां झोंपड़ों की दुनिया में गूँज रहा है तो वहां दूसरी ओर राज महलों में भी गर्ज रहा है।

मामूली सी कहानी होती है। साधारण शिक्षित समझता है, इस में क्या रक्खा है ? परन्तु दिवाकरजी की वाणी पर चढ़कर वह जादू पैदा कर देती है रस की धार बहा देती है। आप की वाणी नीरस से नीरस कथानक के अन्दर भी प्राण डाल देती है सरसता उत्पन्न कर देती है। कभी कभी आप अपने भाषण को इधर उधर की टूटी फूटी सामग्री से ही ऐसा सजा लते हैं कि जनता मंत्रमुग्ध होजाती है। पुराने को नया बना देना साधारण को असाधारण कर दिखाना, आपके बायें हाथ का खेल है।

मैंने अपने जीवन में अनेक मुनियों के व्याख्यान सुने हैं। मैं किसी को छोटा बड़ा ठहराने का यहां प्रयत्न नहीं करता। परन्तु विशिष्टता की ओर संकेत किये बिना रहा भी नहीं जाता। सर्व प्रथम जैनसाहित्य के उद्‌भट विद्वान् गंभीर विचारक पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज से दादरी जींद स्टेट में मधुर मिलन हुआ। आपके प्रवचन मुर्दों में जीवन फूंक देने वाले होते थे। गंभीर विश्लेषण शैली उदात्त विचारणा युग को स्पर्श करती हुई वाग्‌-धारा विरोधी से विरोधी के हृदय को भी एक बार तो गद् गद् बना देती थी। आपने समाज को नये विचार नई भावना प्रदान की है। वस्तुतः आचार्य श्री वर्तमान युग के अन्यतम प्रतिनिधि थे। आगे चलकर आगरा में श्री दिवाकरजी से सस्नेह साक्षात्कार हुआ। आपकी वाणी में भी मैंने स्वर गूँजता हुआ पाया। जैन समाज के सौभाग्य से उसे दो सर्व श्रेष्ठ वक्ता मिले। दोनों की अपनी अपनी पृथक् शैलियाँ हैं विभिन्न पद्धतियाँ हैं, परन्तु दोनों ही अपनी अपनी शैली के पथ की अन्तिम चोटी पर हैं। मैं दो विभिन्न दिशाओं से दोनों का ही प्रशंसक रहा हूं और रहूँगा, हालां कि मैं मुरारे स्तृतीयः पन्था की मस्तम लोकोक्ति को चरितार्थ करने में प्रयत्नशील हूँ।

आज के युग को पण्डित और वक्ता दोनों की ही एक जैसी आवश्यकता है। बिना पाण्डित्य के वक्तृत्व का कोई मूल्य नहीं और बिना वक्तृत्व के पाण्डित्य भी हतप्रभ सा ही रहता है। समाज की गाड़ी दोनों चक्रों के आधार पर ही अग्रसर होगी अन्यथा नहीं। क्या मैं आशा करूँ कि बाहर की धूमधाम और हारोगुल से प्रसन्न रहने वाला जैन समाज दिवाकरजी की स्वर्णजयन्ति का लक्ष्य में रख कर इस दिशामें भी कुछ प्रयत्न करेगा और जैन समाज के अभ्युदय के लिए पाण्डित्य एवं वक्तृत्व दोनों में मेल साध सकेगा।

गुरुदेव के संस्मरण

लेखक —साहित्यरत्न मुनि श्री केवलचन्द्रजी महाराज

संसार महान् हैं वरेण्य विभूतियों का जीवन उससे भी महान् है। महापुरुषों के जीवन आकाश की तरह अनन्त व्यापक और सर्व देशी हुआ करते हैं। उनमें धरा-सी धीरता, हिमाचल-सी अडोलता और गंगा-सी पवित्रता होती है। महापुरुष किसी कुटुम्ब जाति समाज अथवा राष्ट्र की ही सम्पत्ति नहीं होते वरन् वे सारे विश्व के लिए अनमोल निधि रूप हुआ करते हैं। सारा विश्व उनकी गुण गरिमा से गौरवान्वित होता है। यही महापुरुषों की महत्ता है।

महापुरुषों के जीवन में अनेक महान् घटनाएं होती हैं। अथवा यों कहना चाहिए कि ये महान् घटनाएं ही उन्हें महान् बनाती हैं। महापुरुष जन्म से ही महापुरुष नहीं होते अपितु उनका जीवन प्रतिदिन महान् से महान् होता जाता है। वे अपने पुरुषार्थ से महान् बनते हैं। महापुरुषों की महानता से प्रभावित होकर दूसरों के जीवन में जो परिवर्तन होते हैं उन्हें ही हम महान् घटनाएं कहते हैं।

गुरुदेव जैन दिवाकरजी महाराज का जीवन पुस्तक के खुले पृष्ठों की तरह दुनियां के सामने है। उनका जीवन इतना सार्वजनिक है कि कोई भी व्यक्ति उनके व्यक्तित्व वक्तृत्व आदि सद्गुणों से अपरिचित प्रायः नहीं हो सकता।

जैन दिवाकरजी का अद्भुत व्यक्तित्व और चमत्कारिक वक्तृत्व सचमुच आश्चर्योत्पादक है। व्यक्तित्व वक्तृत्व का ऐसा सुमेल विरला ही दृष्टिगोचर होता है। जिस विरल विभूति में इन दो सद्गुणों का सुमेल होता है वह दुनिया को अपने प्रभाव से सहज ही प्रभावित कर लेता है अथवा यों कहना चाहिए कि दुनिया स्वतः उससे प्रभावित होजाती है। वक्तृत्व शक्ति का चमत्कार कौन नहीं जानता? बुजदिल दिलों में बिजली की शक्ति का संचार करने वाला कौन है? कायरता और अकर्मण्यता में सुषुप्त जनता को जागृति का बोध पाठ देने वाला कौन है? रण से विमुख बने हुए सैनिकों को रणशूर बनाने वाला कौन है? कठिनाइयों से घबराकर जीवन से निराश बने हुए व्यक्तियों के हृदय में उत्साह स्फूर्ति तेज एवं साहस का संचार कौन कर सकता है? इन सभी प्रश्नों का एक ही उत्तर होगा-वक्ता। बड़ बड़े राष्ट्रों का स्वामी तलवार के बल पर नहीं परन्तु वक्तृत्व के बल पर अपना आधिपत्य जमाता है। साथ ही यह बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि जिस वक्तृत्व के पीछे आत्मबल नहीं होता वह वक्तृत्व अपना स्थायी प्रभाव नहीं डाल सकता है। हां यह अवश्य होगा कि थोड़े समय के लिए उसकी

वक्तृत्व शक्ति के द्वारा जन समाज आकर्षित हो जाय; उसके वाक्कौशल से उसकी सराहना हो जाय लेकिन स्थायी प्रभाव जिसे कहना चाहिए वह तो ऐसे वक्ता का ही पड़ सकता है जिसमें आत्मबल-संयम और त्याग हो।

पूज्य गुरुदेव में वक्तृत्व शक्ति के साथ ही साथ आत्म बल ऐसा मिला हुआ है जो अनेक चमत्कारी घटनाओं को संभव बना देता है। महापुरुषों के जीवन की कतिपय घटनाएँ साधारण जनता को विचित्र सी मालूम होती हैं इसका कारण यही है। उनके व्यक्तित्व और आत्मबल का बड़ा ही अपूर्व प्रभाव पड़ता है। जैन दिवाकरजी महाराज के आत्मबल के कारण कई व्यक्तियों के जीवन का प्रवाह जो पहले विपरीत मार्ग से बहरहा था-ठीक और सही मार्ग पर प्रवाहित होने लगा। इसी बात को स्पष्ट करने वाले कतिपय संस्मरणों का यहां उल्लेख किया जाता है:—

(१)

संयुक्त प्रान्त में अलेसर नगर में जैन दिवाकरजी म० सा का प्रवचन हो रहा था। सैकड़ों नरनारी मंत्र मुग्ध होकर स्थिर दृष्टि से वक्ता श्री की ओर देख रहे थे। वक्ता श्री की वाणी में ऐसा जादू भरा होता है कि श्रोतागण मंत्र मुग्ध हो जाते हैं। उत्कण्ठित श्रोतागणों को वक्ता श्री वचनामृत का पान करा रहे थे। उपदेश धारा का प्रवाह बहाते हुए वक्ता श्री ने प्रसंगोपात्त उस दिन चोरी के अनिष्ट परिणामों का वर्णन किया और चो री से चोर के लिये होने वाले दुष्परिणामों और जिसका धन चुराया गया है उसके मानसिक परितापों को सम्यक् प्रकार से समझाया जा रहा था। यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हृदय से निकली हुई बात हृदय में जल्दी उतर जाती है। "महापुरुषों के वचनों से अमृत झरता है" इस का आशय भी यही है कि महापुरुष जो उद्‌गार निकालते हैं वे उनके अन्तरतम हृदय से निकलते हैं अतएव उनमें ऐसी शक्ति होती है जो कर व्यक्तियों के हृदय में रहे हुए कालुष्य को दूर करके उन्हें पवित्र बना देती है। पूज्य गुरुदेव की वाग्धारा बराबर बह रही थी। इसी बीच में एक व्यक्ति खड़ा होकर प्रार्थना करने लगा "महाराज जीवन भर के लिये चोरी करने का त्याग करवा दीजिये। मैं सच्चे हृदय से चोय कम का त्याग करता हूँ। आप मुझे यह प्रतिज्ञा करवादें। अब से मैं किसी प्रकार की चोरी नहीं करूंगा। महाराज श्री ने त्याग करवा दिये। लोग विस्मय से विस्फारित नत्रों से उसकी ओर देख रहे थ। उनके आश्चर्य की कोई सीमा नहीं रही। यह व्यक्ति एक नामी डाकू की तौर पर मशहूर था। इसने कई हत्याएँ भी कर डाली हैं। इतना नामी डाकू एक ही व्याख्यान को श्रवण करके जीवन भर के लिये चोरी न करने की प्रतिज्ञा लेता है। कितना परिवर्तन! कैसा आश्चर्य!! जनता उसके सहसा होने वाले हृदय परिवर्तन को देखकर दंग रह गई और लोगों ने कहा-गुरुदेव! गजब की है आपकी शक्ति!

जनता ने उस दिन अनुभव किया कि यह शक्ति आत्मबल के बिना नहीं हो सकती। धन्य है गुरुदेव की आत्म शक्ति और चमत्कारिक वक्तृत्व प्रणाली।

(२)

पूज्य गुरुदेव के व्याख्यान हृदय पर कैसा प्रभाव डालते हैं उसका एक उदाहरण और लीजिये। उदयपुर में गरीब की झोंपड़ी से लेकर राज महलों तक गुरुदेव के व्याख्यानों की चर्चा थी। व्याख्यानों को श्रवण करने से कतिपय व्यक्ति अपने जीवन की दिशा को बदल चुके थे। वे उन्मार्ग से सन्मार्ग पर आ चुके थे एक अंग्रेज आफिसर का नौकर जो बाजार में शाक भाजी लेने जा रहा था-वह भी सैकड़ों लोगों को जाते हुए देखकर वहां पहुँच गया जहां गुरुदेव के व्याख्यान हो रहे थे वह भी व्याख्यान सुनने लगा। उसे उसमें बड़ा आनन्द मालूम होने लगा और वह प्रतिदिन नियमित रूप से व्याख्यान सुनने लगा। प्रतिदिन के व्याख्यान श्रवण से उसका जीवन बदल गया। उसकी बुरी आदतें छूटगई। वह बड़ा शरीफ बनगया। उसका अंग्रेज अफसर उसके स्वभाव के इस परिवर्तन से बड़े आश्चर्य में पड़ गया और उससे पूछा कि तुम्हारा स्वभाव कैसे बदल गया? उसने उत्तर में कहा कि यह इन गुरुदेव का प्रताप है। इनके उपदेशों से मेरा जीवन बदलगया गुरुदेव जिधर शौच के लिये पधारते उसी तरफ उस अंग्रेज अफसर का बंगला था। जब गुरुदेव उधर से होकर निकले तो वह अंग्रेज कहने लगा 'महाराज मेरा नौकर बड़ा बदमाश था बड़ा बदमाश !! अब आपके उपदेशों से बहुत ही शरीफ होगया है। मैं आपका आभार मानता हूँ।

(३)

इन्द्रगढ़ में गुरुदेव का पदार्पण हुआ। वहां ब्राह्मणों में परस्पर बहुत वैमनस्य बढ़ा हुआ था और ४० वर्षों से उसमें दो दल होगए थे। वैमनस्य इतना गाढ़ा था कि स्वयं इन्द्रगढ़ नरेश ने चाहा था कि ये दोनों पक्ष परस्पर समझौता करलें उन्होंने स्वयं प्रयत्न किया परन्तु वे सफल न हो सके। झगड़ा वैसा का वैसा बना रहा। गुरुदेव के वहां पधारने पर दोनों पक्ष के लोग व्याख्यान श्रवण करने के लिये आने लगे। किसी व्यक्ति ने महाराज श्री से यह प्रार्थना की कि यह झगड़ा ४० वर्षों से चलरहा है यदि आप इसके लिए प्रयत्न करें तो यह वैमनस्य दूर हो सकता है। गुरुदेव ने यथावसर व्याख्यान में फरमाया कि दोनों पक्ष के नेता यहां विद्यमान है वे खड़े हो जांय। दोनों तरफ के नेता खड़े होगये। गुरुदेव ने कहा 'झगड़ा शान्त करना चाहते हो या और लड़ना चाहते हो? दोनों ने कहा "झगड़ा शान्त करना चाहते हैं। तब आपने कहा दोनों परस्पर एक दूसरे से क्षमा याचना करलो गुरुदेव की वाणी में कुछ ऐसा जादू था कि ये दोनों नेता जो अब तक अपनी अपनी तानते थे और झगड़ा बढ़ाते थे-एक दूसरे से क्षमा मांग कर परस्पर प्रेम से गले मिले। दोनों दल एक होगये और वहां शान्ति होगई।

रम्भुगढ़ नरेश ने जब यह सुना तो वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने व्याख्यान श्रवण किया और गुरुदेव के इस शुभ कार्य की भूरि भूरि सराहना करने लगे। कैसी है गुरुदेव की करामात ?

(४)

एक जिज्ञासु गुरुदेव के पास आकर बोला-महाराज मैंने अनेक विद्वानों से अपनी शङ्काओं का समाधान पाने के लिये प्रश्न किये परन्तु किसी से भी मुझे संतोषजनक समुचित समाधान प्राप्त नहीं हुआ। क्या आप महति कृपा करके मेरी शंकाओं को दूर करने का कष्ट करेंगे ? इसके प्रत्युत्तर में गुरुदेव ने कहा भाई मैं यहां चातुर्मास करूंगा तुम नियमित रूप से व्याख्यान श्रवण करना और फिर यथावसर अपने प्रश्न मेरे सामने रखना। वह व्यक्ति जिज्ञासु था ही। प्रतिदिन व्याख्यान सुनने लगा। एक महीने के बाद गुरुदेव ने उस व्यक्ति से प्रश्न किया कि तुम्हारे कुछ प्रश्नों का उत्तर मिला या नहीं ? वह व्यक्ति बोला महाराज श्री, मेरे बहुत से प्रश्नों का समाधान हो चुका है परन्तु अब भी दो सौ प्रश्न बाकी हैं। गुरुदेव ने यही उत्तर दिया कि व्याख्यान श्रवण करना जारी रक्खो। तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर मिलता रहेगा एक महीने के बाद प्रश्न करने पर वह व्यक्ति बोला कि गुरुदेव ! अब तो बहुत से प्रश्न हल होगये हैं तथापि थोड़े से शेष रहे हैं। गुरुदेव ने उसे वही उत्तर दिया। इस तरह चातुर्मास में उसके सभी प्रश्नों का उत्तर स्वयं मेव व्याख्यानों द्वारा प्राप्त होगया। इस पर से यह मालूम होजाता है गुरुदेव के व्याख्यान कितने सारगर्भित होते हैं और जिज्ञासुओं को कितनी आनन्द की सामग्री मिलती है।

(५)

धार में लोगों ने चीफ कमान्डर साहब से कहा कि 'साहब ! एक बहुत अच्छे मुनि पधारे हैं। उनका उपदेश और व्याख्यान बड़ा अच्छा होता है आप भी व्याख्यान सुनिये ! कमान्डर सा. बोले-मुझे तो समय बिल्कुल नहीं है तोभी तुम्हारे आग्रह से १५-२० मिनिट का समय निकाल सकता हूँ। लोगों ने कहा आप इतनी ही देर सुनियेगा। कमान्डर सा. व्याख्यान सुनने के लिये आये। धार व्याख्यान सुनते रहे। आपको इतना रस मालूम हुआ कि उन्हें समय का ध्यान न रहा। आधा घंटा हो जाने पर एक आदमी ने कहा हुजूर ! समय होगया है कमान्डर सा. कहने लगे-बोलो मत देखा जायगा। कमान्डर सा. केवल बीस मिनिट के लिये आये थे लेकिन एक घंटे तक तन्मयतापूर्वक गुरुदेव के वचनामृत का पान करते रहे। व्याख्यान के पश्चात कहने लगे कि-सचमुच इनकी वाणी में कोई जादू है। इनकी वाणी सुनते हुए तृप्ति नहीं आती इस पर से यह मालूम होता है कि गुरुदेव के व्याख्यान कितने रोचक होते हैं।

(६)

इन्दौर के क्लॉथ मार्केट में गुरुदेव के व्याख्यान होरहे थे। सारे शहरभर में गुरुदेव के व्याख्यानों की धूम मची हुई थी। इतनी अधिक जनता की उपस्थिति में शायद ही इस स्थान पर किसी दूसरे वक्ता के व्याख्यान हुए हों।

एक दिन सर सेठ हुकमीचन्दजी व्याख्यान में आये। प्रसंग से गुरुदेव ने कहा:— सेठजी जैन समाज के रत्न हैं। आपने अपने समाज और धर्म के लिए बहुत बड़ा दान किया है। फिर जनता को सम्बोधन करके कहने लगे कि आप लोग यह न समझना कि महाराज को भी कुछ चाहिए जिससे सेठजी की तारीफ करते हैं। बन्धुओ! हम तो घर को भी छोड़कर आये हैं, हमें क्या जरूरत है, परन्तु गुणी के गुण का कथन करना हमारा कर्तव्य है।

(७)

ब्यावर के पास एक छोटे से स्टेशन पर गुरुदेव के दर्शन के लिए ब्यावर के श्रद्धालु भक्त उमड़ पड़े। स्टेशन मास्टर ने देखा कि दूल्हा तो नहीं है और बिना दूल्हे के यह सेठ लोगों की बरात कैसी? उसने पूछा—आप सब सेठ लोग किसकी बरात में जारहे हैं। लोगोंने उत्तर दिया—भाई कोई बरात नहीं है हमारे गुरुदेव यहां पधारे हैं उनके दर्शन के लिए हम यहां आये हैं।

स्टेशन मास्टर भी गुरुदेव के व्याख्यान सुनने के लिए आया और प्रसन्न होकर बोला कि ऐसे त्यागी और आत्मबली साधु मेरे देखने में नहीं आये। टिकिट न होने से पास बनाकर देने पड़े, इतने अधिक लोग दर्शनार्थी थे।

(८)

जोधपुर में जैनियों के घर बहुत अधिक हैं। सम्वत् १९८८ में वहां गुरुदेव का चातुर्मास था। प्रसंग से गुरुदेव ने फर्माया कि पर्यूषण-पर्व आपके महान् पवित्र धार्मिक त्यौहार हैं। आप यह चाहते कि हम दिनों में दूसरे लोग भी अपना धंधा न करें। परन्तु ऐसा तभी होसकता है जब आप खुद भी अपना धंधा बंद रक्खें। दुकानों पर धंधा करते रहें और दूसरों से बंद करवाना चाहें तो यह कैसे हो सकता है। इसलिए आप लोगों को पर्यूषण पर्व के नौ दिनों में अपना सांसारिक धन्धा बन्द रखना चाहिए और धार्मिक व्यापार का लाभ लेना चाहिए। सभी मनुष्यों ने एक स्वर से इसे स्वीकार किया और तभी से आजकल चलता आरहा है। पहले ही वर्ष लोगों ने यह अनुभव किया कि इन दिनों में दुकानें खोलने पर जो आमदनी होती थी वह पहले दिनों में ही होगई।

(९)

जोधपुर में गुरुदेव के व्याख्यानों की धूम ऐसी मची कि यहां की हिन्दू वेश्याएं भी—जिन्हें पातरियाँ कहते हैं—व्याख्यान में आने लगीं। उनकी संख्या

उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। उनपर व्याख्यानों का ऐसा असर पड़ा कि इनमें से कितनी ही वेश्याओं ने अपना पेशा छोड़ दिया और कईयों ने मर्यादा करली। गुरुदेव के उपदेशों का वहां बहुत अच्छा असर पड़ा और उन वेश्याओं को अपने पेशेपर घृणा होगई। उन्होंने इस विषय पर विचार करने के लिए एक सभा स्थापित करली और उसके द्वारा अब यह भावना भरी जा रही है कि लड़कियों को इस पेशेके लिए आकर्षित न किया जाय और उनकी शादी कर दी जावे। जहां पहले ७० प्रतिशत ने इस पेशे को ही अपनी आजीविका का साधन बना लिया था वहां अब करीब ७ प्रतिशत के विवाह होने लगे हैं। यह है गुरुदेव के व्याख्यानों का चमत्कार। एक उदाहरण और लीजिए—

(१०)

केसूर में गुरुदेव ने अपने व्याख्यान में मद्यपान का निषेध किया और उससे होने वाली हानियों का दिग्दर्शन कराया। उसका असर वहां के कलालों पर इतना अच्छा पड़ा कि उन्होंने जीवन भर के लिए शराब पीना और शराब का धंधा करना भी छोड़ दिया। उन्होंने अपनी जाति का यह नियम बना दिया कि जो कोई व्यक्ति शराब पियेगा या बेचेगा उस पर ग्यारह रुपये दण्ड होगा।

कुछ दिनों के बाद अफसर लोग आये और उन पर धंधा चालू करने के लिए दबाव डाला। कुछ लोगों के मुह में बलात् शराब उंडेली गई परन्तु किसी ने शराब पीना और बेचना स्वीकार नहीं किया। जिन लोगों के मुह में जबरन शराब उंडेली गई थी उन्होंने स्वेच्छा से ग्यारह रुपये दण्ड देकर नियम की पाबन्दी की।

इन घटना से आप सहज सोच सकते हैं कि गुरुदेव के उपदेश कितने मर्मस्पर्शी होते हैं। उनके उपदेशों का असर हृदय को कैसा परिवर्तित कर देता है यह घटना इसका एक उदाहरण है।

पूज्य गुरुदेव का जीवन अनेक स्मरणीय प्रसंगों से भरा हुआ है। उनमें से कतिपय का उल्लेख रूप किया गया है।

दिवाकरजी का ओजस्वी वक्तृत्व

ले० श्रीमान् सेठ स्वरूपचन्दजी तालेड़ा,   श्रीमान् सेठ देवराजजी सुराना
जैन श्रीसंघ, ब्यावर

किसी भी व्यक्ति की महत्ता या लघुता अपने ही गुणों और अव गुणों पर निर्भर है। दूसरों के घोषण से किसी में महत्ता नहीं आ सकती और न लघुता ही। लेकिन जब किसी महान् व्यक्ति की महत्ता उसके आचार विचार अथवा उच्चारण के द्वारा जन साधारण पर प्रकट हो जाती है तब जनता उसकी प्रशंसा करने लगती है। इस प्रकार जनता की प्रशंसा से उसमें महत्ता नहीं आती वरन् उस व्यक्ति की महत्ता से प्रशंसा आ जाती है।

कोई-कोई व्यक्ति सिर्फ अपने उच्च और पवित्र आचार के द्वारा ही महान् बन जाता है कोई अपने गंभीर उदार और धार्मिक विचार के द्वारा महत्ता प्राप्त कर लेता है और कोई-कोई ऐसे भी होते हैं जो आचार-विचार से सम्पन्न न होने पर भी सिर्फ अपने उच्चारण की बदौलत अर्थात् वाणी की तेजस्विता के कारण ही विशेषता प्राप्त कर लेते हैं। आज ऐसे अनेक उपदेशक-व्याख्याता मिल सकते हैं जो अपने आचार-विचार से गिरे हुए होने पर भी सिर्फ प्रभावशाली भाषण करके श्रोताओं के चित्त को मुग्ध करके वाह-वाह करवा लेते हैं मगर ऐसे लोगों से जगत् का स्थायी कल्याण नहीं होता। वक्ता के मुख से निकली हुई भाषा श्रोता के कानों तक ही पहुँचकर रह जाती है, किन्तु जो भाषा वक्ता की अन्तरात्मा से प्रकट होती है श्रोताओं के अन्तःकरण तक पहुँचती और उन्हें प्रभावित करती है इस प्रकार की भाषा वही महान् पुरुष बोल सकता है जिसकी आत्मा में उत्कृष्ट आचार पवित्र विचार का तेज विद्यमान होता है। और ऐसी भाषा ही श्रोताओं के जीवन में महत्त्वपूर्ण और स्थायी असर पैदा करती है। आचार विचार की उत्कृष्टतावाले महापुरुष की वाणी में ही ऐसी शक्ति हो सकती है कि वह अपने श्रोताओं को अंधकार में से प्रकाश की ओर ले जाती है। वही वाणी अन्याय और अधर्म के कीचड़ में से निकाल कर श्रोताओं को स्वच्छ और पवित्र बनाती है। इसी वाणी के निर्मल और अखण्ड प्रवाह से जगत् का संताप मिटता है अशान्ति का अन्त आता है कालिमा धुलती है और स्थायी कल्याण होता है।

श्री जैनदिवाकरजी महाराज ऐसे ही उत्तम पुरुषों में से एक हैं। उनका आचार उत्कृष्ट है विचार श्रेष्ठ है और इस कारण उनका उच्चारण अर्थात् वाणी भी प्रभावजनक है। दीक्षा लेने के बाद शीघ्र ही उनकी वाणी में तेजस्विता आगई थी। तभी से वे अपने व्याख्यानों द्वारा जनता में अद्भुत जागृति उत्पन्न कर रहे हैं।

आपने लम्बे त्याग संयममय जीवन में उन्होंने न जाने कितने पतितों का उद्धार किया है न मालूम कितने गुमराहों को सच्ची राह बतलाई है न जाने कितने अधर्म के चंगुल में फँसे जीवों को छुड़ाकर धर्मशील बनाया है।

दिवाकरजी की वाणी में अपूर्व बल उनके उच्च संयम और तप-त्याग का ही फल है। उसी के प्रभाव से उनकी वाणी ऐसी बलवती बन गई है कि श्रोताओं बलात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। जो लोग दिवाकरजी महाराज के सम्पर्क में एकबार भी आ चुके हैं वे उनकी वाणी का जादू भलीभाँति जानते हैं। जिन्हें उनके सम्पर्क में आने का अवसर नहीं मिला उनकी जानकारी के लिये ही यहाँ कुछ श्रोताओं के उद्गार हजारों उद्गारों में से थोड़े से ही हैं जो हमें सहज प्राप्त हो सके हैं उद्धृत करते हैं। इनसे पाठक कल्पना कर सकते हैं कि श्री जैनदिवाकरजी का प्रसिद्ध व्याख्याता विरुद कितना सार्थक है; उन्होंने किस प्रकार जैन अजैन हिन्दू-मुसलमान राजा-रंक आदि सभी श्रेणियों की जनता पर अपना प्रभाव डाला है और व जनता के जीवन को ऊँचा उठाने के लिए कितना भगीरथ प्रयत्न करते रहे हैं और अब भी कर रहे हैं। वह उद्गार इस प्रकार हैं—

संवत् १९५२ में आपने भगवती दीक्षा अंगीकार की और सं० १९५४ में आप कोटे पधारे। यहां की जनता आपके व्याख्यान को सुनकर मुग्ध होगई और गुरु श्री महाराज से अर्ज की कि चौथमलजी महाराज का एक व्याख्यान और सुनने की हमारी इच्छा है।

सं० १९५६ में पानसोल पधारे। वहां के रावजी साहब श्री रतनसिंहजी ने कहा आपने दुपहर एवं सायंकाल को जो व्याख्यान दिये बहुत ही उत्तम थे। उनको सुन कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। आगे भविष्य के लिये विश्वास होगया है कि यदि आपकी यही गति रही तो गुरुदेव के शुभाशीर्वाद से जैन सिद्धान्त के धार्मिक क्षेत्र में आपका एक खास और अत्यन्त आदरणीय स्थान होगा।

मन्दसौर में आपका धारा प्रवाह व्याख्यान को सुनकर शास्त्रवेत्ता श्रावक श्री मोतीलालजी वागिया ने कहा—"चौथमलजी महाराज! आपने थोड़े ही समय में खूब परिश्रम किया और अच्छी योग्यता संपादन की। हम ऐसा नहीं जानते थे कि आपके व्याख्यानों की शैली इतनी प्रभावोत्पादक होजायगी।

सं० १९५९ में नीमच की जनता आपके व्याख्यान का सुन आश्चर्यचकित होगई। किसी को यह विश्वास न था कि चौथमलजी महाराज इतने अल्प समय में ऐसे होशियार एवं प्रसिद्ध व्याख्याता होजायँगे।

सं० १९७० में बड़ाना के रावजी सा० ने कहा—"आपका उपदेश बड़ा बोध जनक और व्याख्यान बड़ा सरल एवं मधुर होता है। बड़ी कृपा हो यदि आप यहां पधार कर हम लोगों को कृतार्थ करें।

टोंक के हिन्दू व मुसलमान भाइयों ने कहा—"ऐसा ओजस्वी व्याख्यान

हममें आज तक किसी भी धर्मानुयायी का नहीं हुआ। हमारा परम सौभाग्य है कि आप जैसे महात्मा का पदार्पण इस नगरी में हुआ है।

गंगापुर की जनता व्याख्यान श्रवण कर बोली कि- 'महाराज! हम ऐसा नहीं जानते थे कि आपका व्याख्यान इतना उच्च होता है। दो एक दिन और ठहर कर हमें अपने उपदेशामृत का पान कराइये"।

धौलपुर निवासी सुप्रसिद्ध साहित्यरत्न लाला कन्नोमलजी M A सेशन जज ने कहा था- 'ऐसे महात्मा का एक व्याख्यान भी लोगों का उद्धार कर सकता है।

मन्दसौर में गंगापुर के भाई ने अर्ज की कि अगर कोई सुयोग्य साधु वहां पधारे तो उपकार की संभावना है। तब पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज ने कहा कि 'चौथमलजी तुम्हारा व्याख्यान प्रभावोत्पादक होता है। जहां एक भी जैन का घर नहीं होता है वहां सैकड़ों अजैन तुम्हारा व्याख्यान श्रवण करने आते हैं और उनपर तुम्हारे कथन का असर होता है। अतः तुमही गंगापुर जाओ'।

चित्तौड़ के महन्त लालदासजी ने लिखा कि "स्वामी! आपके अमृतमय वचनों को सुनकर मेरा हृदय गद्‌गद् होजाता है। आपकी वाणी अमृत समान है" आदि।

मारोंगी—ठाकुर सा ने लिखा कि 'आपके सबही व्याख्यान पक्षपात रहित एवं उपदेशपूर्ण थे। परनारी गमन विषयक आपका व्याख्यान तो बहुत ही महत्वपूर्ण था। आप विषय को ऐसी उत्तम रीति से समझाते हैं कि उसका हरएक मनुष्य के हृदय पर असर होता है। यहां की जनता को आपने धार्मिक एव शारीरिक पतन से बचाया इसके लिये कोटिशः धन्यवाद।

सं १९७९ उज्जैन के जज मौलवी फाजिल सद्रुद्दीन हैदर ने कहा—"मैंने बहुत से भाषण वाज़ स्पीच वगैरह सुने हैं। लेकिन मुनि चौथमलजी ने जो व्याख्यान हमें सुनाया उसमें बड़ा आनन्द आया है। वह इज्जत करने लायक है। आपकी असीहत से चोर चोरी करना अन्यायी अन्याय करना व पापी पाप करना छोड़ देता है। इस हालत में प्रजावत्सल ग्वालियर महाराज को बहुत फायदा पहुंचता है।

मौलाना याकूबअली ने जाहिर किया कि स्वामीजी के व्याख्यान की तारीफ के लिए मेरे पास कोई अल्फाज नहीं है। उस मुकाम की खुश किस्मती समझना चाहिये जहां ऐसे गुणीजनों की तशरीफ आवरी हो। आदि।

सर सूबा साहब बालमुकुन्द मैया ने कहा— 'यदि इतने दिन पहले मुझे मालूम होता कि महाराज का व्याख्यान इतना दिलचस्प होता है तो मैं हमेशा सुनने का लाभ लेता।"

उदयपुर महाराणा सा फतेसिंहजी व श्रीमान् महाराज कुमार सा भूपालसिंहजी ने बड़ी प्रसन्नता प्रगट की व भाषण की सराहना की।

संजामा दरबार श्रीमान् दिलीपसिंहजी सा ने कहा—"सचमुच आप जैसे स्वार्थ त्यागी महोपदेशकों की वाणी में ही ओजस्विता और आकर्षण है। और आपके द्वारा अनेक उपकार होते हैं।

बड़ी सादड़ी राजराणा श्री दुल्हसिंहजी सा ने कहा— आपका उपदेश अमृत के समान है उसका पान एक दिन रनिवास में भी कराइये

शाहपुरा के राजाधिराज ने कहा—"आपका व्याख्यान सुन मेरा चित्त अत्यन्त प्रफुल्लित हो गया। आदि।

श्रीमान् राय बहादुर कुलमन्दिरलालजी जैन M A M R A S बार-एट-लॉ चीफ जस्टिस एवं कौं मेम्बर होल्कर-स्टेट लिखते हैं कि-"ये जैनों के ही महापुरुष नहीं हैं पर अजैनेतर जनता ने भी आपको आदर्श पुरुष के रूप में पूजा है। जिनको आपके दर्शन का लाभ एवं उपदेशामृत पान करने का अवसर प्राप्त हुआ है वे धन्य हैं।"

सुप्रसिद्ध तत्ववेत्ता श्रीयुत वाड़ीलाल मोतीलाल शाह ने लिखा है कि "जैन दिवाकर श्री चौथमलजी महाराज अपने जाहिर व्याख्यान द्वारा जैन धर्म के मुख्य सिद्धान्तों को प्रकाश में लाये हैं। इसके लिए यह समाज आपका अत्यन्त ऋणी है। मानव शास्त्र का आपने गहरा अध्ययन किया है ऐसा मालूम होता है। अपने विचारों को जनता के आंतरिक हृदय में उतारने की आप में शक्ति है। आदि।

स्वामी नारायणानंदजी (कानपुर) लिखते हैं कि आप के ओजस्वी एवं तर्कपूर्ण भाषण की जैन जगत् में ही नहीं बल्कि सारे भारतवर्ष में धूम है। आपकी व्याख्यान शैली सुमधुर एवं ललित है आपके व्याख्यानों से प्रभावित होकर अनेक राजा महाराजाओं ने अपने राज्य में होने वाली हिन्सा को कई अंश तक बंद करदी है। मेवाड़ के सेटलमेंट आफिसर एवं रेवेन्यु कमिश्नर साहब (G Chenwike Trench ने लिखा कि "मैंने चौथमलजी महाराज की अत्यन्त तारीफ सुनी है। और मैं मानता हूं कि वे कल्याणकारी कार्यों में बहुत प्रभावशाली हैं। एक युरोपियन भक्त F G Taylar साहब लिखते हैं कि आप अपने जीवन में प्रेम तथा दया का अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

श्री जैनदिवाकरजी महाराज के प्रति उनकी मधुर और ओजपूर्ण वाणी से प्रभावित प्रतिष्ठित पुरुषों द्वारा अर्पित की गई श्रद्धाञ्जलियों में से उल्लिखित कतिपय श्रद्धाञ्जलियाँ ही आपके व्यक्तित्व की विशेषता पाठक के सामने रख देती हैं। हमारी हार्दिक कामना है कि प्रसिद्धवक्ता और जगद्वल्लभ आदि अनेक विरुदावली को सार्थक करने वाले यह महापुरुष चिरकाल तक जगत् का कल्याण करते रहें।

पंडित मुनि श्री चौथमलजी

महाराज की दिनचर्या

लेखक—प्रियव्याख्यानी मुनि श्री प्यारचन्दजी महाराज

मण शिरोमणि वीतराग भगवान् महावीर के कथनानुसार जो वीर प्रभु के प्रवचनों पर पूर्ण श्रद्धा रखता है, छः काय के जीवों को अपनी आत्मा के अनुरूप ही समझता है, जो अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पंच महाव्रतों का पूरा पूरा पालन करता है, जो पाँच आस्रवों का पूरा पूरा निरोध करता है, जो क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों को छोड़ देता है, जो स्वयं ज्ञानी है और ज्ञानी पुरुषों के वचनों पर दृढ़ विश्वासी रहता है, जो सोना चांदी आदि किसी भी प्रकार का कोई भी सांसारिक स्नेह-सम्बन्ध नहीं जोड़ता, जो सम्यग्दर्शी है, जो कर्तव्य-विमुख नहीं है, जो मन वचन और शरीर को पाप-पथ पर जाने से पल-पल को रोके रहता है, जो तप के द्वारा पूर्व-कृत पाप-कर्मों को नष्ट कर देता है, जो शरीर से परिषहों को धैर्य के साथ सहन कर संसार गर्त से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्म-मरण को महान् भयकर मानकर और जानकर सदा श्रमणोचित तपश्चरण में रत रहता है, जो सद्धर्म का उपदेश करता है, जो स्वयं धर्म में स्थित होकर दूसरों को भी धर्म में स्थित करता है जो किसी के साथ कभी हँसी मजाक भी नहीं करता, और सर्व जीवों के साथ सदा-सर्वदा जिसका मैत्रीभाव है, वही सच्चा और उच्च कोटि का साधु है।

पाठकों आइये। हम भी उपर्युक्त कथन को अपनी आँखों कानों और बुद्धि की कसौटी पर कस कर, प्रत्यक्ष दर्शन श्रवण और अनुभव के द्वारा नाप तोल कर निर्णय करें कि भगवान् की पावन वाणी द्वारा निःसृत उपर्युक्त अनूठे बोल हमारे चरित-नायक के प्रति दिन के व्यावहारिक जीवन में कितना गहरा घर करके बैठे हैं, और तब अनुभव करें कि वे एक उच्च कोटि के और कितने आदर्श साधु हैं।

हमारे चरित-नायक रात्रि मे तीसरे या चौथे प्रहर में जब कभी भी उनकी नींद टूट जाती है अपने शरीर की किसी भी प्रकार की कोई भी शिकायत न सुनते हुए उसी समय उठ बैठते हैं और भगवन्नाम का जप करने में जुट पड़ते हैं। इसमें उनके कम-से कम दो घंटे व्यतीत होजाते हैं। तब प्रतिक्रमण की बारी आती है। अर्थात रात्रि के समय स्वप्न अथवा सुप्तावस्था में मन वचन तथा काया के द्वारा घटित पापों की आलोचना वे करते हैं। तब आधे घंटे से लगाकर अधिक-से-अधिक तीन घंटे तक आहार-पानी के ग्रहण का त्याग वे लेते हैं। तब

सर्वज्ञ और सर्व व्यापक भगवान् तथा गुरुजनों के चरणों का चिन्तन और मनन कर उन्हें वे नमन करते हैं।

इतना कर चुकने पर ओढ़ने बिछौने के वस्त्रों भोजन आदि के पात्रों सोने बैठने के पाटों और रजोहरण आदि की सूक्ष्म रूप से प्रतिलेखना करली जाती है। जिसके द्वारा यह भली भांति जान लिया जाता है कि उन वस्तुओं में कहीं कोई जीव तो नहीं चढ़ गया है। यदि चढ़ जाता है तो उसे उधर से एक ओर कर दिया जाता है। यदि सोते समय करवट बदलने में कोई जीव रगड़ जाता है तो उसका उचित प्रायश्चित कर लिया जाता है। बिना देखे कपड़े आदि के किसी तह में कोई जीव कभी रह जाता है तो उसे भी मैत्री भाव से होले-होले हटा दिया जाता है।

अब किसी जैन श्रावक भाई अथवा धर्म-प्रेमी जैनेतर बन्धु से सारे दिन भर के लिये आवश्यकता के अनुसार कंकड़ तथा तिनका आदी को लेते रहने की आज्ञा ली जाती है। इसके बाद वे गांव के बाहर, शौचादि क्रियाओं से निवृत होने के लिये गमन करते हैं। उस समय अक्सर धोवन का अथवा गरम जल को उपयोग में लाया जाता है साथ में ले जाया जाता है।

शौच से निवृत होकर लौट आने पर वृद्धावस्था के कारण कुछ मिनिट विश्राम करते हैं। पर उस समय भी जगत् के प्राणी मात्र के मंगल की शुभ भावना तो श्वांस-श्वांस पर साधित बनी रहती है। उसी के साथ भगवन्नाम-जप की निरंतर आराधना भी चलती ही रहती है। थकावट दूर होजाने पर प्रतिदिन प्रवचन किया जाता है। प्रसंगवश यहाँ यह कह देना भी अनुचित न होगा कि आपके पावन और संसार तथा संसार के भूले भटके मानवों को चिन्ता-मुक्त कर सुपथ पर लाने वाले प्रत्येक व्याख्यान में एक ऐसी अद्भुत और आकर्षण शक्ति होती है कि ज्योंही आप का नाम लोग सुन पाते हैं अपने सारे काम-काज छोड़कर लालायित होकर आपके प्रवचनों का रस-पान करने के लिये लपकते हैं। अकेले जैन श्रीसंघ के लोग ही उन से लाभ उठायें सो नहीं। उन से तो क्या जैन और क्या जैनेतर क्या अमीर और क्या गरीब यहां तक कि राव राणा महाराणा शाहजादे नवाब सरकारी ऊँच-से-ऊँच और छोटे-से छोटे सभी अहलकार, और गांव के चौधरी किसान और कुली सभी लोग एक-सा लाभ उठाकर अपने अशान्ति ग्रसित जीवन को शान्त दुःखी जीवन को सुखी, और अधम जीवन को उच्चतम बनाने की शक्ति पा जाते हैं। यही क्यों समय-समय पर कई मनस्वी अंग्रेज और ईसाई मुसलमान और पारसी तथा पंजाबी और बंगाली बन्धु भी आपके व्याख्यानों से अपना मनरंजन करने और जीवन को सुखी तथा उन्नत बनाने के लिये आते ही रहते हैं। आपके प्रवचनों के इतने आकर्षक होने का एक ही कारण है और वह है आपकी गम्भीर भाव भरती हुई चुटीली खरी और संयतवाणी

शास्त्रों का गम्भीर और निरंतर अध्ययन और पक्ष-पात-रहित कथनों कथन।

प्रवचन की समाप्ति कर, थोड़ा घूमकर केवल नियमित संख्या के घरों से आवश्यकता के अनुसार थोड़ा थोड़ा भोजन लाकर लाया जाता है। तब फिर कुछ विश्रान्ति के बाद भोजन की क्रिया समाप्त की जाती है। उसके पश्चात् ही सत्शास्त्रों का पठन-पाठन नूतन एवं सद्ग्रन्थों का निर्माण और काव्यरचना करते-करते, दिन के लगभग साढ़े तीन बज जाते हैं। उसी समय आये-गये स्वधर्मी और परधर्मी बन्धुओं की भांति भांति की शंकाओं का समाधान किया जाता है। यूँ करते-करते चार-साढ़े चार का समय आ लगता है। अब एक बार पुनः अपने पहनने तथा ओढ़ने और बिछौने के कपड़ों, भोजन के पात्रों और रजोहरण आदि की प्रति-लेखना की जाती है। तब शौच के हित वन की ओर विचरण होता है। वहां से लौटने पर भोजन और जल-पान किया जाता है। उसी के पश्चात् दिवस चरम के त्यागने अर्थात् दिन के रहते-ही रहते अगले दिन तक के लिये आहार पानी के त्याग की प्रतिज्ञा करली जाती है। अब वही पूर्ववत् प्रति-क्रमण और उस से निवृत होकर आये हुए आदर्यों से धार्मिक वार्तालाप और उनकी शंकाओं का समाधान का काम होता रहता है। तब तक घड़ी रात्रि के साढ़े दस-ग्यारह बजा देती है। तब कुछ न कुछ घंटों की निद्रा और फिर वही रोज का नियमित व्यापार।

जैन दिवाकर प मुनिश्री चौथमलजी महाराज

की

दिव्य जीवनी

लेखक—मुनि विमलकुमार जैन

साधु चरित शुभ सरिस कपासू।
निरस विसद गुणमय फल जासू॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा।
वन्दनीय जेहि जग जस पावा॥ —[तुलसीदास

अर्थात् सन्तों का चरित्र कपास के समान (संसार का) कल्याण करने वाला है। जो नीरस कहलाने पर भी विषय-वासना से रहित (नीरस) उज्ज्वल और गुणयुक्त (डोरा अथवा सद्वृत्ति से युक्त) है। जो आप दुख सहकर भी परायों के दोषों को (नगाड़ और चोर-चाइको) ढंकता है, और जिसने जगत् में वन्दना करने योग्य यश को प्राप्त किया है।

और

सठ सुधरहिं सत संगति पाई।
पारस परसि कुधातु सुहाई॥
विधि हरि हर कवि कोविद बानी।
कहत साधु-महिमा सकुचानी॥ —[तुलसीदास

अर्थात् कोई कैसा भी दुष्ट क्यों न हो वह भी सत्संगति को पाकर ठीक वैसा ही सुधर जाता है जैसे पारस का छूकर लोहा सुवर्ण बन जाता है। ब्रह्मा विष्णु, महेश कवि पंडित और स्वयं सरस्वती भी साधुओं की महिमा का (यथार्थ) वर्णन करने में सकुचा जाते हैं।

जब साधुओं की महिमा का यथार्थ वर्णन करने में संसार की ऐसी-ऐसी दिव्य शक्तियों की गति और मति भी कुंठित हो जाती है तब मुझ-जैसे पामर और अनुभवहीन व्यक्ति के द्वारा श्रीमद् जैनदिवाकरजी की साधुतामयी जीवनी का लिखने का साहस करना तो केवल सूरज को दीपक लेकर ढूंढने का प्रयास मात्र है। जो भी कुछ हो। स्वाभाविक सुखाय के नाते उनके गुण-गान के लिए, अपनी अन्तरात्मा को उनके सुपथ पर लगाने का अधिकार तो छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े सभी का है। बस एकमात्र इसी ध्येय को ध्यान में रखते हुए मैंने भी इस छोटे से निबन्ध को लिखने का साहस किया है।

जैन-दिवाकरजी का शुभ जन्म का० शु० १३ रवि० सं० १९३४ वि० मालवा

प्रान्त के नीमच स्थान में हुआ था। आपके पिता श्री गंगारामजी और माता श्रीमती केशरबाई थीं। बालकपन, आपका बड़े ही लाड़-प्यार से बीता। एक ग्रामीण निवासी के नाते उस समय एक ग्रामीण पाठशाला के द्वारा जितनी भी पढ़ाई आपकी हो सकती थी हिन्दी अंग्रेजी उर्दू और गणित सभी विषयों में हुई।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात'। इस उक्ति के अनुसार आगे चलकर आप अपने जीवन में जैसे भी कर्मवीर और धर्मवीर बननेवाले थे उसकी झलक आपके बालकपन ही में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती थी। सयत वाणी सादगी और धर्म की ओर अभिरुचि आदि विशेषतायें मानो आपको अपनी जीवन घूटी के साथ पिलाई गई थी। बालकपन अल्हड़पन की अवस्था होती है और जवानी में मनुष्य का मन उच्छृंखल होता है यदि कोई अंकुश ऊपर न हुआ अथवा घर के बड़े-बूढ़ों की ओर से प्रेम की मात्रा पर्याप्त रूप से रही और उसके विपरीत अंकुश की ढिलाई तब तो न जाने कौन-कौन से पाशविक कार्यों में वह सहज ही में फँस जाता है। उस अवस्था में एक सुकवि का कथन ठीक ही जँचता है कि—

इक भीजे चहले परे बूड़े बहे हजार।
किते न औगुन जग करत, नय वय चढ़ती बार

अर्थात् जब जवानी की विकराल तरंगें शरीर में उछल-कूद मचाती हैं तब कोई तो केवल भीग कर ही रहजाता है, कोई कीचड़ में फँस मरता है, और हजारों डूब जाते और बहजाते हैं परन्तु हमारे चरित-नायक का जीवन, इस बातका एक अपवाद था। इसका कारण जन्म जन्मान्तरों के सुसंस्कार, इस भव के मात-पिता की धर्म-निष्ठा सत्संगति की ओर विशेष झुकाव और पड़ोसी व [illegible] मंडल का शुद्ध होना ही था। 'आत्मा के अपने गुणों के आधार पर माता-पिता की करणी कथनी और शरीर-रचना की विशुद्धि ही से बालक के शरीर का सृजन हुआ करता है। उसमें जीवन रक्षण बल विपक्ष बुद्धि और विवेक की नींव उसके पूर्वकृत कर्मों पर जमती है सुसंगति की अनुकूल वायु और तदनुकूल चलनेवाली विचार धारा के प्रकाश में उसका जीवन का पौधा लहलहा उठता है। और क्रमशः उच्चतर गति के सुफलों से वह फलता रहता है। जीवन को प्रशस्त और असार जगत् में संसार बनाने का यह एक सहज पथ है।

लगभग सत्रहवाँ वर्ष आपका बीत रहा था, उस समय आप वैवाहिक बन्धन में बाँध दिये गये। अभी विवाह के बाद एक वर्ष ही बीता था कि एक दिन आप की माताजी ने आपके सम्मुख दीक्षा धारण कर लेने की अपनी भावना प्रकट की। यह बात सुनकर सांसारिक मोह-बन्धन के नाते आपको चिन्तित होना चाहिए थी पर हुई बड़ी ही प्रसन्नता। साथ ही उनकी पत्नी ने भी मुनि-दीक्षा धारण कर अपना इह लोक तथा परलोक का कल्याण कर आप अपनी

माता पर प्रकट कर दिये। आये दिनों इस कार्य में बाधाओं ने भी बड़ा ही विकट विघ्न डाला। पर 'तिरिया तेल हमीर हठ' को ध्यान में रखकर, आप लाख-लाख बाधाओं के मुँह बाये हुए अपने सामने आने पर भी अपने ही विचारों पर हिमालय की भाँति अटल बने रहे। अन्त में अपने विवाह का दूसरा वर्ष बीतते-ही बीतते सं. १९५२ वि. में आपने मुनि-दीक्षा ग्रहण करही तो ली। आपके दीक्षा गुरु कविवर सरल-स्वभावी मुनि श्री हीरालालजी महाराज थे।

जैसा कि देखा सुना और अनुभव किया जाता है कि अनेकों व्यक्ति दीक्षित बन कर अपने आपको पवित्रातिउपम संयम और त्याग की मूर्ति ही मान बैठते हैं। किन्तु आपके विचार आज तक भी इस बात का खंडन ही करते रहे हैं। आपने यह समझा है कि दीक्षित बनने का दिन संयम यम नियम आदि के पालन व त्याग वैराग्य और लोक परलोक के बनाने की शिक्षा संस्थाओं में प्रवेश करने का पहला दिन मात्र है और कुछ नहीं है। जहाँ रह कर अनवरत परिश्रम द्वारा स्वाध्याय विकट परिषह शास्त्र मन्थन और कष्ट-सहिष्णुता रूपी अध्यापकों द्वारा शिक्षा प्राप्त करना पड़ती है। यदि यूँ घबराहट को डर में घर न करने दिया और सतत साधना में थोड़ी ही सतर्कता रक्खी गई तो कुछ ही दिनों के बीतने पर जीवन में एक दिव्य चमक आ बैठती है और मार्ग में सारे शूल फूल बन जाते हैं। मुनि ने अपने आज तक के जीवन में एक मात्र इसी पथ का अनुसरण किया है और इसी पथ के अनुसरण करने ही का यह प्रत्यक्ष परिणाम है कि आपके जीवन में एक अलौकिकता है और सोने जैसी दमक है। आपकी वाणी में घन के समान गम्भीरता और जीवन दान की शक्ति है। उसके द्वारा मुर्दे जाग पड़ते हैं जागे हुए उठकर चल पड़ने, और चले हुए, साधना के मन्दिर तक पहुँचने का प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं। सभी अवस्थाओं सभी समाजों सभी धर्मों और सभी विचारों वाले मानवों के मर्मों पर आपकी टकसाली मेयत और सुवाच भाषा का ठप्पा एक-ही-सा बैठता है। यह बात कुछ कम महत्व की नहीं किन्तु मुनि-पद धारी प्रत्येक व्यक्ति के लिये अनुसरणीय अनुकरणीय और अनवरत अभिमान का जीवित वस्तु है और है जिनके केन्द्र में चुम्बक जैसा आकर्षण वस्तु।

दीक्षित होकर मुनि श्री ने अपने अनवरत परिश्रम और प्रचुर परिषहों के बीच नियमित रूप से अपना विशाल शास्त्राध्ययन प्रारंभ कर दिया। जिसकी धाक आज भी पहले ही दिन जमी स्फूर्त और भविष्यगामिनी है। यही कारण है कि जैन शास्त्रों में सूत्र-साहित्य का अध्ययन तो आपके घर ही की चीज़ है। साथ ही में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों के अन्यान्य सद्ग्रन्थों वैदिक सम्प्रदाय के वेदों और पुराणों तथा मुसलमानों की कुरानशरीफ और हदीस शरीफ व गुलिस्तां और बोस्तां आदि में आपकी खासी व अच्छी गति है।

यों तो दीक्षा के दूसरे ही दिन से आप अहिंसाधर्म उपासक के रूप में संसार

के सामने आ जाते हैं, पर वास्तविक कार्य तो इस दिशा में आपका तभी शुरू होता है जिस दिन अड़ोस-पड़ोस के सभी धर्मों के सद्ग्रन्थों के वर्णित विषयों के साथ तुलनात्मक-रूप में विभिन्न पहलुओं से आपकी स्थायी सम्मैत्री हो जाती है। पूरी कड़ाही में डाली जाने पर कच्ची अवस्था ही में उछल-कूद मचाती है और टूँ टूँ करती फिरती है। परन्तु वही पक जाने पर स्थिर होकर फूल जाती है। वही हालत किसी मजहब में अधूरे और कोरे अल्प ज्ञान की अजीर्णता के रोगी पण्डितों की होती है। जब तक उनका शास्त्रीयज्ञान एकांगी और अपूर्ण होता है वे भी अपनी अपनी डफली पर अपना ही अपना राग अलापते फिरते हैं। और जगत के आंगन में साम्यभाव शान्ति और सद्भावना के प्रचार और प्रसार के बदले उलटा वे भेद भाव अशान्ति और कुत्सित भावनाओं ही के बीज-वपन का काम करते फिरते हैं संसार का कोई भी स्थायी और सच्चा धर्म इन दर्दों से सदा कोरा ही कोरा रहता है। भेदभाव का प्रचार कर वैमनस्य की आग तो वह कभी भड़काना जानता ही नहीं। हमारे चरित्र-नायक के धर्म-प्रचार में इस बात का सजीव प्रमाण पद-पद पर मिलता है। तभी तो सभी अवस्थाओं सभी समाजों और सभी धर्मों के अनु यायियों में सर्वत्र और सभी कालों में आपके प्रवचन सुनने की एक ललकती हुई लालसा-सी बनी रहती है। उसी-उसी पैमाने पर उनका आदर उनकी वाणी की मधुरता और लोकप्रियता का क्षेत्र भी व्यापक और विस्तृत होता जाता है। साथ ही राजा और रंक सुशिक्षित और अपढ़ जैनेतर और सरकारी अहलकारों व बाट के बटोहियों का जो अपूर्व सम्मिलन आपके धार्मिक प्रवचनों में एक ही समय और एक ही स्थान पर देखा और सुना जाता है वैसा जैनधर्म के आधुनिक इतिहास में अन्य धर्म-प्रचारकों में कदाचित् कहीं नहीं मिल पाता

आप की संयत और टकसाली वाणी से निःसृत उपदेशों ने आज तक न (सं० २००२ वि० तक) पूरे-पूरे पचास वर्षों में कितने ही जैनियों को अजैन बनने से बचाया, कितने ही विधर्मियों से गोकुशी आजीवन बन्द करवादी, कितने ही देश की दसों दिशाओं के राजा महाराजा राव राणा नवाब ठाकुर और जमींदार लोगों से उनके उनके अधिकृत भूभागों में मूक प्राणियों के वध-निषेध मद्य-निषेध महिने में कम-से-कम एक बार अगता पालन और अन्य अन्य मादक-द्रव्य-निषेध के सही-सिक्केदार परवाने बड़े ही सम्मान के साथ प्राप्त किये, कितने ही विधर्मियों ने जैनधर्म के प्रति सद्भावना की सम्मतियां पायी, हजारों ही फटे-फटे बेकार दशा-वासियों को विधर्मी और विजातीय होने से बचा लिया, कितने ही स्थानों में धार्मिक संस्थाओं बालक पाठशालाओं और कन्या-पाठशालाओं की स्थायी रूप से स्थापना करवायी और कितने ही नये नये सद्ग्रन्थों का निर्माण करवाया। थोड़े में जो जो काम सत्ता और शक्ति के बलपर भरोसा रखनेवाले और उद्यम पूर्ण अपनेवाले स्वच्छन्दाचारी भूपतियों सेना-नायकों वेतन भोगी समाज सुधारकों देश के नेताओं बेलगाम बड़ी-बड़ी जोशीली वक्तृताओं और काले कानूनों

के द्वारा नहीं कर पाये वे व काम सहजही में आपकी ओज और घोष भरी सुबोध सघन और टकसाली वाणी द्वारा निसृत उपदेशों ने स्थायी रूप से देश के कई प्रान्तों में सुफल दिखा दिये। गम्भीर से गम्भीर शास्त्रीय विषयोंकी चर्चा को सुबोध से सुबोध बनाकर श्रोताओं के दिल और दिमाग में उसे जमा देना जहां एक ओर आपके बायें हाथ का खेल है वहां यही दूसरी ओर आपके अगाध पांडित्य और विभिन्न मनोवृत्तियों के पहचान का प्रत्यक्ष प्रमाण भी है।

यों हमारे चरित नायक ने अपनी दीक्षा के दूसरे दिन से आज तक की पूरी-पूरी अर्द्ध शताब्दियों में वीतराग भगवान् के अहिंसा भरे और सत्य से ओतप्रोत सिद्धान्तों का अपने बलभर प्रचार और प्रसार कर देश के अधिकांश भाग की समस्त का जनता पर जैन-धर्म की श्रेष्ठता का पक्का प्रभाव भी डाला है।

आपने जैन मुनियों की मर्यादा के अनुसार पैदल भ्रमण करते हुए अपने मुनि पद के लम्बे समय में शीत गरमी आंधी वर्षा तूफान के तथा कंकरीले पथरीले पहाड़ी और पथरीले मार्गों के सैकड़ों ही परिषहों को समय-समय पर हंसते-हंसते सहते हुए, मेवाड़ मालवा मारवाड़ राजपूताना आदि-आदि प्रान्तों तथा देहली आगरा कानपुर, औरंगाबाद बम्बई पनवेल पूना अहमदनगर आदि भारत-भूमि के विशाल वक्षस्थल पर यत्र-तत्र बिखरे हुए नगरों की भूमि को पावन बनाया है। तथा वहां की जनता के दिलों में अहिंसात्मक धर्म को जागरूक कर उसे चिर जीवन दिया है।

आपके धर्म प्रचार के कार्यों में जहां एक ओर आपके अगाध पांडित्य का प्रधान हाथ है, वहां दूसरी ओर आपके प्रभवतापूर्ण चहरे मृदुल और स्नेह भरे स्वभाव मिलनसारी की मीठी प्रकृति आचार-पूर्ण संयतजीवन सुव्यवस्थित एवं निर्धारित दिनचर्या तथा स्थान-स्थान और कदम-कदम पर निरन्तर होते रहने-वाले भगवन्नाम-जप का भी उसमें कोई कम हाथ नहीं है।

आपका दिन के चौबीस घंटों में से केवल लगभग एक प्रहर भर का समय स्नान और दोनों समय शौच के लिए बन-गमन व भोजन तथा जल-पान आदि के लिए अधिक-से अधिक एक प्रहर के समय को छोड़कर शेष के पूरे-पूरे छः प्रहरों का समय 'काव्य-शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' के नाते धार्मिक-प्रवचन करने धार्मिक शंकाओं के उत्तर देने बाद प्रतिक्रमण करने निर्धारित संख्या में एक स्थान और आसन पर स्थिर होकर भगवन्नाम के निरन्तर जपन और जैन तथा जैनेतर धर्मों के सद् शास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने ही में बीतता है। आपकी स्वाध्याय चिन्तन और मनन की इस शैली ही ने आपको प्रखर प्रसिद्ध और सुवक्ता बना दिया है।

आपकी प्रखर वक्तृत्व शैली और चिन्तन अध्ययन से पता चलता है कि

साहित्य-सेवा भी आप की बड़ी ही अनूठी और उपादेय होगी। जिस व्यक्ति के पास प्रतिदिन उसके प्रत्येक सत्कार्य के लिये एक निर्धारित समय और प्रत्येक समयखंड के लिये कोई न कोई जीवनोपयोगी आवश्यक सत्कार्य होता है वह अल्पायु होकर भी संसार के लिये ऐसी-ऐसी श्रेष्ठ और विचित्र देनगियाँ दे जाता है कि जिस की पासंग तक में बड़े बड़े चिरतन आयुवाले महारम्भी लोगों के बड़े से बड़े काम भी ठहर नहीं सकते। मुनिराज के नियमित जीवन की छोटी-से-छोटी और बड़ी से बड़ी प्रत्येक व्यवस्था और भाव के लिये भी ऊपर वाली नियमित जीवन की बात ही लागू पड़ती है।

अपनी दिन-चर्या के प्रत्येक कार्य को सुचारु रूप से सम्पादित करते हुए भी आप कुछ न कुछ समय प्रतिदिन नियमित रूप से राष्ट्र और समाज हित के नूतन साहित्यसृजन में भी दे देते ही हैं। आप आधुनिक जैनधर्म के ऐतिहासिक काल में जहां एक ओर, एक सुप्रसिद्ध एवं ओजस्वी वक्ता हैं, वहां दूसरी ओर आप एक सुकवि और आशुकवि भी हैं। कभी-कभी तो साधारण और सहज बातचीत के समय भी आपके पावन मुख से निःसृत भाषा तक में सुनने वाले को प्रकृत काव्य छटा का एक अनूठा आनन्द मिल जाता है। इतना ही नहीं आप एक धुरन्धर लेखक भी हैं। पू. गद्य और पद्यमयी आपकी कई रचनाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं और आये दिनों होती ही जारही हैं। आपके कण्य ग्रन्थ अधिकतर मुक्तक पद्यों में हैं, जिनमें आत्मोन्नति के सुधारों सामाजिक कुरीतियों और उनको दूर करने की रीतियों तथा पापों की आलोचना करते हुए होते हैं। मुक्ति पथ (भाग एक से तीन) आदर्श रामायण आदर्श महाभारत आदि आपके प्रसिद्ध पद्यात्मक ग्रन्थ हैं। आपके गद्यात्मक ग्रन्थ भी सैकड़ों की संख्या मे हैं। जिनमें से भगवान महावीर का आदर्श जीवन' अपने विषय का एक परमोपयोगी विशाल एवं उत्कृष्ट ग्रन्थ है भगवान् पार्श्वनाथ जम्बूकुमार आदि बड़े ही प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन जैसे लोकोपकारी ग्रन्थ के आप संग्राहक और अनुवादक हैं। जिसके अंगरेजी आदि कई भाषाओं में अनुवाद भी हो चुके हैं। उसीका गुटकाकार में एक पद्यात्मक अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। पू. आपने अपने लोक-प्रिय और कल्याण कारक भाषणों लेखों तथा आदर्श आचरणों के द्वारा संसार को बड़ा ही उपकृत बना लिया है।

आचार्य श्री से मेरा परिचय और उनकी भाषा शैली।

लेखक—रा० ब०, ताजिरुलमुल्क, जैनरत्न सेठ लालचंद जी० सेठी उज्जैन

जैन दिवाकर आचार्य श्री चौथमलजी महाराज से मेरा परिचय बहुत पुराना है। विक्रम संवत् १९६१ में झालरापाटन में आचार्य श्री का संघ के साथ चातुर्मास हुआ था। यद्यपि उस समय मेरी अवस्था बहुत छोटी थी तथापि आचार्य श्री के व्याख्यानों की धूम उस वक्त उसी प्रकार थी जैसी कि आज है। तभी से मेरे हृदय में उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा का बीजारोपण हुआ है। उक्त चातुर्मास के पश्चात् विभिन्न स्थानों पर भी मुझे आचार्य श्री के व्याख्यान सुनने का समय २ पर अवसर मिला है। गत वर्ष आपके उज्जैन चातुर्मास करने पर तो अनेक बार आपके व्याख्यान सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

आपके व्याख्यानों की सबसे बड़ी खूबी यह है कि आप जैनधर्म के गहन से गहन तत्वों का भी प्रतिपादन अत्यंत सरल सरस और रोचक शैली से करते हैं जिसका कि श्रोताओं पर बहुत भारी प्रभाव पड़ता है। जैनधर्म के तत्त्व उनके हृदय पटल पर स्थायी रूप से अंकित हो जाते हैं। आप अपने व्याख्यानों में देश काल का पूरा २ ध्यान रखते हैं। वर्तमान-काल में प्रचलित सब साधारण की बुराइयों का बहुत चातुर्य के साथ आपके व्याख्यानों में चित्रण रहता है जिसे श्रोतागण स्वयं ही सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। किसी पर आक्षेप करना तो आप जानते ही नहीं हैं। यही कारण है कि आपके व्याख्यानों को सुनने के लिये जैनी ही नहीं किन्तु हिन्दू और मुसलमान भाई भी बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित होते हैं। वे लोग व्याख्यान सुनते हुए यही अनुभव करते हैं कि मानों हम आज सच्चे धर्म के ही विचार सुन रहे हैं। जिस किसी मजहब के व्यक्ति ने आपका व्याख्यान सुना है उसने मुक्त कंठ से आपके व्याख्यान की प्रशंसा की है और प्रभावित हुआ है। जिन २ देशी रियासतों में आपका विहार हुआ या चातुर्मास किया उनके दीवान एवं अन्य अधिकारी आपके व्याख्यानों को सुनने के लिये अत्यन्त श्रद्धा के साथ आते और अपना अहो भाग्य मानते।

दूसरी खूबी आपके व्याख्यानों में यह देखी गई कि आप त्याग-सौगंध के लिए आग्रह पूर्वक कभी किसी से प्रेरणा नहीं करते बल्कि इस सम्बन्ध में आप का व्याख्यान ही ऐसा प्रभावशाली होता है कि श्रोताओं पर उसका भारी असर

पड़ता है और वे स्वयम् ही अमुक २ व्रत नियम को सहर्ष ग्रहण करते हुए देखे जाते हैं।

मैंने जितने भी जैनाचार्यों के व्याख्यान सुने हैं मुझे यह कहते कुछ भी अतिशयोक्ति प्रतीत नहीं होती कि उन सबसे आपकी व्याख्यान शैली अद्वितीय है। अपने संघ के साथ आपका व्यवहार बहुत सुन्दर है। आपके चरित्र योग्यता और तपस्या को देखकर हृदय पर आचार्यत्व का प्रभाव अंकित होता है।

गत वर्ष उज्जैन में दि० जैनाचार्य श्री १०८ पूज्य वीरसागरजी महाराज का भी संघ के साथ चातुर्मास हुआ था। एक दिन दोनों आचार्य परस्पर मिल जुल कर बड़े प्रसन्न हुए और एक दूसरे की प्रशंसा की। दोनों आचार्यों के इस सम्मिलन का बहुत सुन्दर प्रभाव वहां के दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय पर तथा हिन्दू समाज पर पड़ा।

आपने जहां २ भी चातुर्मास किया है वहां पर जैनधर्म और अहिंसा के प्रचार के साथ २ समाज के पारस्परिक विरोध मिटाने का सफल प्रयत्न किया है। आप समय का सदुपयोग करना खूब जानते हैं। आपने जैनधर्म के अनेक शास्त्रों का आज की नवीन सरल और सुन्दर शैली में सम्पादन किया है जिससे लोगों में जैन-साहित्य के प्रति बहुत अनुराग और भक्ति उत्पन्न हुई है। आज के युग में इसी नवीन शैली के ग्रन्थों की बड़ी भारी आवश्यकता है। आपने भगवद्गीता के समान एक 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' का भी संग्रह किया है जिससे सर्वसाधारण को जैनधर्म के खास २ तत्वों को समझने में भारी मदद मिली है। आप अहर्निश जैन धर्म और जैन-साहित्य के उद्धार के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। आपकी यह उत्कट भावना है कि मनुष्य मात्र तक जैनधर्म का पवित्र सन्देश पहुँचाया जासके ऐसा सतत प्रयत्न होते रहना चाहिये।

आपका स्थापित किया हुआ चित्तौड़ का चतुर्थाश्रम भी अपनी शान का एक ही स्थान है, जहां सैकड़ों वृद्ध मुमुक्षु शान्ति और निराकुलता के साथ धर्म सेवन कर अपना आत्म-कल्याण करेंगे।

अन्त में मैं श्री १००८ देवाधिदेव श्री जिनेन्द्र देव से प्रार्थना करता हूँ कि उनके पुनीत और सर्वकल्याणकारक जैनधर्म का पूज्य श्री चौथमलजी महाराज के द्वारा अधिकाधिक प्रचार हो और वे दीर्घायु होकर उत्तरोत्तर अपने तप संयम और ज्ञान की वृद्धि के साथ आज की ज्ञान-पिपासु जनता को उपदेशामृत पान कराते हुए सन्मार्ग का प्रकाश करते रहें।

जिनवाणी के महान् प्रचारक महर्षि एवं कवि

ले० केशरी किशोर 'केशव' साहित्यरत्न प्रधानाध्यापक श्री म. बै. स्कूल
जम्मू (तवी)

ज्ञान और क्रिया धर्म के प्रधान अङ्ग हैं। मानव जीवन के उद्देश्य की की पूर्ति इन दोनों के बिना नहीं हो सकती। देश काल और भाव के अनुसार कभी किसी अंग की और कभी किसी अंग की प्रधानता रहती है। जब किसी अंग की इतनी अधिक प्रधानता बढ़ जाती है कि मानव समाज दूसरे अंग की तरफ से अपनी प्रवृत्ति हटा लेता है, या जब समाज स्वनिर्मित तथा परनिर्मित बन्धनों में फंस उत्पीड़न से त्राहि २ कर उठता है तब कोई दिव्य ज्योति उसके सम्बल तथा पथ-प्रदर्शन के लिए या यों कहिए कि उस उत्पीड़ित जन समुदाय को उसके दुःख से उबारने के लिए और शान्ति प्रदान करने के लिए इस पृथ्वीतल पर अवतरित होती है। जिस काल में जैसी परिस्थितियां होती है उस काल में वैसी ही शक्ति उसका समाधान करती है। अतः हम कह सकते हैं महान महात्माओं का प्रादुर्भाव परिस्थितियों के मुताबिक शक्ति और सन्देशों सहित होता है या खुद परिस्थितियां ही अपने अनुरूप महान महर्षियों का निर्माण कर लेती हैं। तदनुसार इस बीसवीं सदी के मानव को मुनिश्री चौथमलजी महाराज के सदृश महर्षि एवं कवि की जरूरत थी और यह उसे मिला भी।

मुनिश्री को महर्षि एवं कवि के नाम से निर्देश करना मैं ज्यादा उपयोगी और युक्तियुक्त समझता हूँ। क्योंकि मानव-समाज के समक्ष आपका जीवन अन्य रूपों की बनिस्बत कवि या महर्षि रूप में ज्यादा स्पष्ट रूप से निखर कर आया है। तथा जिनवाणी का अखण्ड प्रचार करने के लिए आपने जिस सत्-साहित्य की रचना की है वह किसी का ही काम हो सकता है। और उसके द्वारा सम्पूर्ण मानव समाज को जो अनूठी अनमोल और कर्मठ दिशाएँ दी है वे किसी महर्षि का ही काम हो सकती हैं।

कवि कौन है?—

कवि या महर्षि उसी व्यक्ति का नाम है जो जगत में स्थायी सत्य का निरूपण करता है। दुनियाँवी लोगों के समक्ष दुनियां का वास्तविक स्वरूप अपनी काव्य कला के द्वारा रखता है। उसके कोमल तथा कठोर, सुखमय तथा दुःखमय सुन्दर तथा भद्दे तमाम रूपों को रखता है। जो दुनियां को सत्यवादी और कर्तव्यनिष्ठ बनाता है। विश्व भ्रातृत्व और विश्व प्रेम का पुनीत पाठ पढ़ाता है। सत्यान का प्रचार करता है। कर्मयोग की आदर्श शिक्षा देता है। अपनी लोकोत्तर और भावपूर्ण कल्पनाओं के द्वारा संसार को आनन्द मग्न करता है।

कवि या महर्षि किसी देश सम्प्रदाय या समाज का व्यक्ति नहीं होता । वह विश्व का और विश्व उसका होता है । वह पार्थिव सीमाओं को लांघ कर ऊपर उठ जाता है और अपनी कविता के द्वारा संसार को सत्यं शिवम् सुन्दरम् की शिक्षा देता है ।

जैसे कलाधर अनन्त के वक्षस्थल पर विहार करता है और उसकी कला महिमा मण्डित राजप्रासादों तथा पापमय कारागारों में एक ही भाव से क्रीड़ा करती है उसी तरह कवि भी संकीर्णता को छोड़ कर विशालता को ग्रहण किये रहते हैं । उनकी कला देश और काल के व्यवधान को दूर कर देती है । कवि अपनी कला द्वारा विश्व भाव को ही खोजते हैं और उसी को व्यक्त करते हैं । उनके भावों का अनुभव सभी जातियां सभी समय में करती हैं । उनकी वाणी सभी के मुख में भाषा रूप में परिस्फुट होती हैं । सारांश यह कि जो व्यक्ति कला का उपासक और पुजारी है वही कवि है, महर्षि है ।

कला क्या है ?

जिस गुण या कौशल के कारण किसी वस्तु में उपयोगिता और सुन्दरता आती है उसे कला कहते हैं । कला दो तरह की होती है । उपयोगी और ललित । उपयोगी कला में बढ़ई लुहार सुनार और कुम्हार इत्यादि के काम आते हैं । ललित कला भी दो हिस्सों में विभक्त कर दी जाती है । कर्मेन्द्रिय से सम्बन्ध रखने वाली और नेत्रेन्द्रिय से सम्बन्ध रखने वाली जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम होगा वह कला उतनी ही उच्च मानी जायगी । और इसी सिद्धान्त के अनुसार काव्य कला को ही सर्वश्रेष्ठ पद मिला हुआ है । मूर्त कला का इसमें पूर्ण अभाव है ।

ललित कलाओं के आधार ईंट पत्थर और लकड़ी से लेकर शब्द संकेत तक हो सकते हैं । काव्य कला में किसी का आधार नहीं होता ।

मानव व्यापार में अनुरक्ति मनुष्य की एक स्वाभाविक मनोवृत्ति है । जो अन्य मनुष्यों के भावों से परिचित होने के लिए उत्सुक करती है । इस उत्सुकता के लिए साधारण जन समाज कथा कहानी किस्से गल्प या आख्यायिकाओं की रचना करता है । इन काव्यों के अन्तर्गत श्रव्य और दृश्य दो प्रकार के काव्य होते हैं और इन्हीं काव्यों के द्वारा कवि शांत संसार को अनन्त के दर्शन कराता है । शांत को अनन्त में मिलाने की कोशिश करता है । हमारे चरित नायक मुनिश्री ने भी यही कुछ किया है अतः आप कवि हैं और महर्षि हैं ।

मुनिश्री का साहित्य:—

आपने जो साहित्य रचा है वह तीन हिस्सों में विभक्त किया जा सकता है । मौलिक अनुवादित और फुटकर पद्य रचना जैसे भजन इत्यादि ।

समालोचक को साहित्य की समालोचना करने के लिए छः बातों का ख्याल रखना चाहिए । कथा वस्तु पात्र कथोपकथन भाषा शैली और उद्देश्य । भारतीय

कवि ने जिन ग्रंथों की रचना की है उनकी तादाद २५ ३० के करीब है। और उनमें भी अधिकांश धार्मिक काव्य हैं। यदि मैं सभी ग्रंथों की अलग २ समालोचना करूँ तो यह प्रस्ताव अति विस्तृत हो जायगा। अतः मैं यहाँ संक्षेप में ही सामूहिक विवेचन करूँगा।

आदरणीय कवि महोदय अपने ही आदर्शों के निर्माता हैं। आपने अन्य लेखकों और कवियों के विचारों को नहीं चुराया। जो कुछ लिखा मौलिकता से भरा हुआ और प्रामाणिक प्राचीन जैन ग्रन्थों का बहुत ही सूक्ष्म और गहन अध्ययन करके लिखा। कई स्थानों पर आपने अपनी कल्पना द्वारा कथा को सुन्दर रूप देने के लिये मूल कथा व वस्तुओं में साधारण सा परिवर्तन भी किया है किन्तु उससे काव्यों के प्रवाह में किसी तरह की रुकावट पैदा नहीं होती आप अपने काव्यों में देश काल और तत्कालीन वातावरण का ध्यान रखने में खूब ही सफल हुए हैं।

धर्म मिश्रित ऐतिहासिक कथानकों का चित्रण करना कोई सहल बात नहीं क्योंकि ऐसे काव्यों के रचयिता को उस समय की तमाम बातों से अभिज्ञ होना आवश्यक होजाता है। आपके काव्यों में आन्तरिक के अलावा बाह्य दृश्य चित्रण भी अति श्रेष्ठ हुआ है।

शान्त रस के साथ ही साथ वीर और करुण रस का परिपाक भी अच्छा हुआ है। आपने अपने काव्यों में दो तरह के पात्रों का वर्णन किया है एक मानवी सीमा में रहकर काम करने वाले और दूसरे मानवेतर। आप दोनों तरह के पात्र सृजन में सफल सिद्ध हुए हैं। जैसे आप स्वयं महान् दार्शनिक हैं वैसे ही आपके पात्रों में भी दार्शनिकता के दर्शन हुए बिना नहीं रहते। कथोपकथन सुन्दर तथा स्वाभाविक हुआ है। रोचकता तो कूट कूट कर भरी गई है जिससे पढ़ने वाले और सुनने वाले का दिल कभी नहीं उकताता। हां कहीं कहीं कथोपकथन लम्बा अवश्य हो गया है।

आपके काव्यों की भाषा सरल सुबोध तथा भाव-गाम्भीर्य से भरी हुई है। किन्तु ग्रामीण और देशज (मालवी और राजपूतानी) शब्दों का प्रयोग आपके काव्यों में कुछ ज्यादा ही हुआ है। काव्यों में वर्णित छन्द प्राचीनता को लिये हुए हैं। आधुनिक और प्रचलित छन्दों का आपने कम प्रयोग किया है। इसस भाषा की मनोहारिता और लच्छेदारीता में अवश्य कुछ फर्क आगया है। और मेरा ख्याल है इसी कारण से आपके काव्य जैनियों के अतिरिक्त अजैन विद्वानों की आंखों में आने से रुके हुए हैं। अजैन विद्वानों में और हिन्दी जगत में जो मान आपके अनुवादित ग्रन्थ "निर्ग्रन्थ प्रवचन" का प्राप्त हुआ है वैसा अन्य ग्रन्थों को नहीं

यद्यपि आप श्री हिन्दी संस्कृत और अर्ध मागधी के विद्वान हैं फिरभी आपने जिन देशज शब्दों का प्रयोग अपने काव्यों में किया है वह सिर्फ पाठकों के खातिर ही किया गया होगा ऐसा मेरा निश्चित विचार है।

मालवा और राजस्थान का अधिकांश जैन समाज विद्वत्ता से इतना दूर है कि यदि काव्यों में मालवी और राजस्थानी शब्दों का प्रयोग न किया गया होता। तो वहां का जैन समाज उन ग्रन्थों का रसास्वादन न कर सकता। दूसरा धर्म प्रचार के खातिर भी ऐसी भाषा का अपनाना आवश्यक था। आपका भ्रमण भी अधिकांश हिंदी प्रान्तों में रहा है। आपकी लिखने की शैली आधुनिकता और नवीनता को लिये हुए कम है। किन्तु सरलता सुबोधता और सात्विकता को लिये हुए अवश्य है। काव्यों में नीरसता बिलकुल नहीं है किन्तु रूढ़ीवाद भी छोड़ा नहीं गया है। आपने अपने काव्यों में विश्वप्रेम आशा, स्वाभिमान और क्षमा का दिव्य सन्देश दिया है। भगवान् के प्रवचनों का प्रचार ही आपका मुख्य उद्देश्य रहा है। आपने काव्यों के द्वारा जगत के जनों को यह समझाया है कि हे मनुष्यों! तुम सब भाई २ हो। किसी को न सताओ। सभी जीने की इच्छा रखते हैं। धर्म को धारण करो। इत्यादि।

निर्ग्रन्थ प्रवचन—

आपका यह ग्रन्थ अनुवादित है। कल्पनाओं से रहित और ज्ञान का भण्डार है। अगाध सागर सम शास्त्र है। इसमें अठारह अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में भिन्न २ विषय को लेकर अपूर्व ज्ञान भर दिया गया है। मूल में भगवान श्री जिनेश्वर देव के प्रवचन हैं और नीचे संस्कृत छाया लेखक की अपनी है। इस ग्रन्थ में ब्रह्माण्ड में जो कुछ हलचल हो रही है उसके सम्बन्ध में संक्षिप्त पर सारगर्भित विवेचन है। जैसे—आत्मा क्या है? स्वर्ग नरक मनुष्य तिर्यंक कौन है? लोक परलोक क्या है? पुद्गल क्या है? कर्मों के साथ जीव का संयोग वियोग कैसे होता है? नवतत्वों का सार तथा कर्म बन्धन से छुटकारा और मोक्ष प्राप्ति इत्यादि तमाम विषयों पर सारगर्भित तर्क-संगत बुद्धिगम्य और प्रामाणिक विवेचन है।

इस ग्रन्थ के द्वारा आपने उस वाणी का प्रचार किया है जो प्रत्येक काल में प्रत्येक देश के लिए और प्रत्येक परिस्थिति में हितकारक निर्दोष और सफल साबित हुई है। जो सब प्रकार की सीमाओं से परे हैं। आध्यात्मिक विकास के क्रम की सूक्ष्मातिसूक्ष्म व्याख्या करने वाली है। नीच को ऊँच और पतित को पावन बनाने वाली है। अशरण को शरणदायिनी अनाथों की नाथ कहाने वाली और दीनों की बंधु कहलाने वाली है। अतः "ऐसी वाणी के प्रचारक महर्षि को भगवान् दीर्घायु करें ऐसी मेरी हार्दिक प्रार्थना है।"

जैन दिवाकरजी और उनकी व्याख्यान शैली

लेखक—अभयकुमार साठिया, बी० ए०, खाचरौद

हस्ती स्थूल तनुः स चांकुशवशः किं हस्ति मात्रोऽङ्कुशो।
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीप मात्रं तमः॥
वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः किं वज्र मात्रा नगाः।
तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः॥

थी की देह कितनी ही बड़ी क्यों न हो पर फिर भी वह अंकुश के वश में है। अन्धकार कितना ही घना क्यों न हो पर दीप-प्रकाश पर वह भागता ही है। अपने स्थूलत्व के बावजूद भी पर्वत वज्र प्रहार नहीं सह सकते। क्यों? कोई मनुष्य राज घराने में उत्पन्न होने पर राजा के गुणों से वंचित रह जाता है और कोई ब्राह्मण के यहाँ पर जन्म लेकर भी शूद्र रह जाता है। क्यों? वस्तुतः मनुष्य वही बड़ा होता है जिसमें जन्म से ही एक तेज होती है और जिसके कारण "पूत के पांव पालने में ही दिखाई देते हैं" उक्ति चरितार्थ होती है। यह एक स्वाभाविक तेज रहता है और इसी कारण अल्प वय में ही मनुष्य ऐसे आशातीत काम कर बैठता है जिसकी कल्पना मात्र भी असम्भव हो सकती है।

यही तेज यही तेज पूज्य श्री जैन दिवाकरजी में जन्म के साथ ही विराजमान है। भा का विद्वान होने के लिये किसी विश्व विद्यालय की शरण नहीं लेना पड़ी। उन्हें व्याख्याता होने के लिए बड़े २ व्याख्याताओं के व्याख्यान-श्रवण-सौभाग्य को सराहना नहीं पड़ा। उनमें कवित्व प्रयत्न करने पर प्रकट नहीं हुआ पर वह उनमें उनके जन्म का मङ्ग बनकर ही आया। मिल्टन को रात के बारह बजे तक अपार प्रयास करते रहने पर भी जो स्थान नहीं मिला वह एक हृदय से फूटी हुई पंक्तियाँ (मृत-सपत्नी-गान) के कारण 'ग्रे' को मिल गया। कालीदास और शेक्सपियर बनाये नहीं बनते पर वे जन्म लेते हैं अस्तु-लिखने का उद्देश्य यह है कि यही तेज यही स्वाभाविक सहज वृत्ति यही तेज और यही प्रतिभा या यों कहिए-यही शैली पूज्य श्री में जन्मजात है और इसी कारण वे आज हमारे समक्ष इस रूप में हैं।

विभिन्न मतावलम्बियों में यह बहुधा वाद विवाद का विषय बना रहता है कि जैन नास्तिक हैं। वे ईश्वर को नहीं मानते हैं। श्री दिवाकरजी का जो एक दिवस का भी प्रवचन सुन लेगा वह सहज ही उस दिन का भाषण-विषय दूसरा होने पर भी जैन-ईश्वरवाद और भावना के गुणों से परिचित हो जायगा। नियमित रूपसे प्रवचन सुनने वाला भक्तामर के श्लोकों को कंठाग्र कर ले तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं।

अधिकतर जनता में आप देखेंगे कि उसकी प्रवृत्ति-मनोरंजन प्रिय है। वह अधिक समय तक मनोरंजन से वंचित रहने पर ऊब उठती है। वह किसी गायक का रसभरा स्वर सुनने में भले आकर बिना किसी का निमंत्रण पाये भी अपने सब प्रयास करके जाती जरूर है। सिनेमा घरों के बुकिंग ऑफिस के बाहर लगी भीड़ का नजारा देखकर इस सत्य की पूर्ण पुष्टि हो जावेगी। मनुष्य में एक मनोरंजन प्रिय भावना रहती जरूर है पर सुप्तावस्था में। हठ जरा आनन्द-रस का उद्रेक हुआ कि आज का मनुष्य वाह! वाह! कह उठता है। उसका मन हरा हो जाता है-वह बाग बाग हो जाता है। यही कारण है कि आजका मनुष्य शिक्षाओं से भरी हुई किसी महापुरुष की जीवनी की अपेक्षा एक रसभरा सस्ता उपन्यास पढ़ना पसन्द करता है। आजके जैन मुनियों में अधिकांश ने इस भावना का अध्ययन नहीं किया और यही कारण है कि उनके व्याख्यान में श्रोतागण बुलाये जानेपर भी पर्याप्त मात्रा में नहीं आते। श्री दिवाकरजी ने इस भावना का केवल अध्ययन ही नहीं किया अपितु उसे कार्य रूप में परिणत भी किया है। श्रोतागण पूर्णतया इस मतसे सहमत हैं। लोग सिनेमा में जाकर रसीले गाने सुन अपनी भावनाओं का अवांछनीय उद्दीपन मात्र करते हैं पर आपके व्याख्यान में मनुष्य उनके कवित्व पूर्ण वाक्यों और उन्हीं तर्जों पर बने हुए रसीले और साहित्य पूर्ण गाने सुनकर आनन्द विभोर हो भगवान को अपने सामने रमता देखसकते हैं। श्रोता गीत सुन सकते हैं और श्लोक, कव्वाली दोर गजल छन्द सवैया आदि किसी भी रचना-प्रकार की वहां कमी नहीं। लावनी की छटा कुछ अपने ढंग की अनूठी ही रहती है। यही कारण है कि उनके भाषण में श्रोताओं को (इंदौर जैसे बड़े शहर में भी) बैठने को पर्याप्त स्थान भी नहीं मिलता। और हां इस भीड़ का विशेष कारण पूज्य श्री का कवित्व है। कविके लिये अधिक लिखना अनुचित है। यहांपर इतना ही पर्याप्त है-

कवयः किं न पश्यन्ति किं न कुर्वन्ति योषितः।
मद्यपाः किं न जल्पन्ति किं न खादन्ति वायसाः ?॥

सामयिक सभी तर्जों में श्री दिवाकरजी को आशु कवि होने की क्षमता प्राप्त है।

एक साधारण पढ़ा-लिखा मनुष्य भी विद्वान् वक्ताओं के भाषण उद्धृत कर या किसी वक्ता से भाषण लिखवा कर उसे तोते की तरह दोहरा सकता है पर उस की वाणी में वे विद्वान् वक्ता के शब्द होने पर भी वह ओज नहीं वह स्वर साम्य नहीं। रस का उद्रेक तो हो ही नहीं पाता है फिर श्रोताओं पर प्रभाव पड़ना तो अलग रहा। श्री में पाठकों ने देखा होगा कि एक विशेष अभिव्यात्मक तत्त्व विद्यमान है। क्रोध का वर्णन करते हुए उनके मुखारविंद से क्रोध भरे शब्द निकलेंगे दया के वर्णन में स्वयं द्रवित दिखाई देंगे। विनय में दबी आवाज निकलेगी तो आज्ञा देतेसमय बादशाह का फरमान श्रोता व्याख्यान सुनने के बजाय पढ़ना स्थिति अनुगत पाता है और आनन्द विभोर हो पूर्ण प्रभावित हो जाता है। यही

अभिनयात्मक अंश वक्ता में एक ऐसा गुण है कि व्याख्यान का प्रभाव दस गुणा कर देता है आप श्री में यह गुण पर्याप्त मात्रा में है।

दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्वाभाविक ही नीरस होता है। साधारण विश्लेषण से जनसाधारण के पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता पर ऐसे जटिल सिद्धान्तों को भी सरस करने की क्षमता पूज्य श्री में है। और यह अपने ढंग की अनूठी। इसे सिद्धान्तों के प्रतिपादन में कहीं आप तर्क का अकाट्य प्रमाण पायेंगे कहीं कहानी का योग तो कहीं दृष्टांत का समावेश। मुझे हाल ही का दिया गया एक तर्क स्मरण हो आया—

'एक भौतिक-विज्ञान-विशारद कहने लगे कि हमें तो भिन्न २ धर्मों के दर्शन वाद केवल अपनी संप्रदाय की भिन्न ख्याति के लिये चलाये गये आचार्यों के गपोड़े मात्र मालूम होते हैं। एक भी वाद दृष्टि से प्रमाणित नहीं होता है। आत्मवाद भी एक ऐसा ही ढकोसला मात्र है।

विशारदजी से पूछागया—'क्यों साहब ! इस वृक्ष के पत्ते हिल क्यों रहे है ! साहब ने उत्तर बड़े मजे में हसकर दिया—'हवासे। यह कोई बड़ी बात पूछी आपने बच्चे भी जानते हैं इसे। विशारदजी के सामने फिर प्रश्न था—'क्या आपने हवा को देखा है ? विशारदजी सकपका गये। सब समझ गये और नत हो गये। पूज्य श्री ने कहा-जैसे तुमने पत्तों के हिलने से यह मालूम किया कि ये हवा से हिल रहे हैं। हवा दिखाई नहीं देती। उसका आभास पत्तों के हिलने से मालूम होता है। उसी तरह आत्मा अरूपी है। उसका आभास शरीर के हिलने चलने से मालूम होता है। उसके छोड़ चले जाने पर शरीर के मृतप्रायः हो अचेत गिर जान से मालूम होता है।

पुष्पे गन्ध तिले तैलं काष्ठे वह्निः पय घृतं।
इक्षौ गुड़ं तथा देहे पश्यात्मानं विवेकतः ॥

ये तो कुछ हुई व्याख्यान की बातें। हां अगर असम्बद्ध न होतो यहां यह भी मालूम करना जरूरी है। जब व्याख्यान की सभा लगती है-श्रोतागण भावावेश में ओतप्रोत हो जाते हैं तब समय का लाभ लेते हुए पूज्य श्री श्रोताओं को उसी लहर में त्याग प्रत्याख्यान भी करवा देते हैं। बात की बात में सैकड़ों मनुष्य त्याग कर लेते है और इस तरह बिना अलग प्रयत्न किये बहुत कुछ लाभ होजाता है।

यहीं पर दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादन में श्री दिवाकरजी का कहानी योग कैसा प्रभावजनक होता है यह भी देख लेना जरूरी है। श्रोताओं को भार भी नहीं मालूम होता है। मनोरंजन के साथ विषय का प्रतिपादन बहुत ही सरस हो जाता है। यह एक महत्पुरुषों की मानी हुई बात है कि मनुष्य का मुख्य मुख्य में एक सी भावना रखनी चाहिये। वाक्य कह देना सरल है पर जन साधारण के गले उतार देना साधारण नहीं। इस विषय के प्रतिपादन में श्री दिवाकरजी कथित कहानी देखिये।

'अकबर और बीरबल बैठे हैं। आम खाते हुए अकबर की अंगुली चाकू से कट जाती है। बीरबल के मुख से निकलता है 'अच्छा हुआ'—सुख दुःख में एक जैसे रहने की जो आदत पड़ी थी। अकबर ने जब अपनी अंगुली कटने पर ये शब्द सुने तो क्रोधित हो बीरबल को पदच्युत कर दिया। बीरबल के मुख से फिर शब्द यह निकलता है कि 'बहुत अच्छा हुआ'।

बसंत का समय है। अकबर प्राकृतिक शोभा में भूले हुए शिकार की खोज में झपटे में एक निर्जन वन में जा मार्ग भूल गये। पास ही एक होम हो रहा था। बस आप किन्तु सर्वांगपूर्ण समझ जाकर बलि के लिये पकड़े गये। बलि के समय अंगुली कटी हुई देखी जाकर व छोड़ दिये जाते हैं। आनन्द के साथ बीरबल की उक्ति हृदय में घर कर जाती है। प्रसन्न हो अकबर फिर बीरबल का अभिनन्दन करते हैं और पूछते हैं कि भाई 'अच्छा हुआ' यह तो समझ गया पर 'बहुत अच्छा हुआ' यह समझ में नहीं आया। बीरबल कहने लगे—आपका परम मित्र होने के नाते शिकार में मैं साथ होता ही और अगर साथ होता तो मेरी बलि होती ही, क्योंकि मेरे अंग पूर्ण थे। अतः उस समय मेरा पदच्युत होना बहुत अच्छा हुआ'।

मनुष्य भी इस कहानी से यह सीख सकता है कि दुःख में व्यर्थ चिंतित नहीं रहना चाहिए। इससे दुःख बढ़ेगा ही और यह बिना भोगे टलेगा तो नहीं। सुख में मर्यादा-उल्लंघन भी इसी तरह दुःखदायी होता है।

इस उदाहरण से पाठक समझ गये होंगे कि इतना क्लिष्ट सिद्धान्त भी कैसा सरल होगया। यह आपकी एक अपनी मौलिक सूझ है।

दिवाकर जी को अगर आप मुख-वस्त्रिका और श्वेत वस्त्रों के कारण जैन न माना जाय तो वैष्णव इसाई और मुसलमानों में उन्हें अपना बनाने के लिए कहीं लाठियां चल पड़ें। कारण यह है कि आपके व्याख्यान में साम्प्रदायिकता ढूंढे भी नहीं मिलती। उनके मुख में महाभारत गीता बाइबिल और कुरान के उद्धरण सदा समय निकलते रहते हैं। यही कारण है कि अभिन्न भाव होने से आपने जितना उपकार जैनों का किया होगा शायद नहीं इससे अधिक अजैनों का किया होगा।

वैसे दिवाकरजी का अध्ययन संस्कृत हिन्दी आदि का अच्छा है पर अधिकतर जन साधारण के लिए आपने मालवी मराठी और गुजराती बोली के मिश्रण को अपनाया है।

तात्पर्य यह है कि श्री दिवाकरजी ने अपने लम्बे संयमी जीवन में जगत् को बहुत कुछ दिया है। इनका जीवन ही एक सुन्दर उपदेश है और फिर भाषणों का प्रभाव भी कम नहीं है। महाराज श्री शतायु हों। जगत् का उपकार करते रहें यही हार्दिक कामना है।

जैन दिवाकरजी का अहिंसा प्रचार

लेखक-श्री चम्पालाल कर्णावट B A O T विशारद, सम्पादक 'जिनवाणी'
भूपालगढ़

अहिंसा जैन धर्म का प्राण है। अहिंसा मानवता की परिभाषा है पहचान है और पहनाव है। जो मनुष्य अहिंसक नहीं हिंसक है वह मनुष्य कहलाने के योग्य नहीं। मानव देह में दानव है। अहिंसा धर्म की आत्मा है। और मनुष्य का सर्व श्रेष्ठ गुण है।

जिस समय यह पुण्यभूमि ब्राह्मणों के नृशंस अत्याचारों से रक्त-मयी होरही थी उस समय त्रिशलानन्द महात्मा महावीर ने इस धर्म नाम से की जाने वाली हिंसा को हेय बताकर जनता को दया का करुणा का पाठ पढ़ाया और जनता में समायी हुए राक्षस भावनाओं को हटाकर उन्हें मानव बनाया।

उन्हीं भगवान महावीर के वंशज आज भी उसी आदर्श अहिंसा का पाठ जगत को सिखा रहे हैं। मैं यह अवश्य मानता हूं कि अधिकांश जैनी केवल दिखाऊ अहिंसक हैं। उनका हृदय एकदम अपवित्र दूषित एवं रागद्वेष का शिकार बना हुआ है। फिर भी हमारे मुनिजन अपने त्याग एवं आचरण द्वारा उसी प्राचीन आदर्श को कायम रक्खे हुए हैं। यद्यपि इनमें भी आज विकृतियां घुसने लगी हैं। ये दिखावे के फेर में पड़ गये हैं। फिर भी संसार के सामने महत्वपूर्ण वस्तु अपने आचरण के रूप में रख रहे हैं।

यों तो प्रत्येक जैन मुनि अहिंसक होने के नाते अहिंसा का प्रचार करता ही है। फिर भी कुछ मुनियों ने हिंसा वृत्ति रोकने में अपना बहुत श्रम किया है और कर रहे हैं। उन्होंने हजारों मांस भक्षियों को निरामिष भोजी बनाया है। और उनके आचरण को सुधार कर उन्हें दया का मंत्र सिखाया है। मानव कल्याण के साथ२ जगह २ शिकार बन्द करवाकर व अगते रखवाकर लाखों मूक और असहाय प्राणियों को जीवन दान दिया है। इस पवित्र कार्य के लिये हम उनका जितना भी आभार मानें उनकी जितनी भी तारीफ करें कम है।

अहिंसा का इस तरह धुंआधार प्रचार करने वाले मुनियों में जैन दिवाकर प्रसिद्धवक्ता श्रीचौथमलजी महाराज का स्थान सर्वोपरी है। मुझे इस लेख में दिवाकरजी के अन्य कार्यों का विवेचन न कर केवल उनके अहिंसा प्रचार सम्बन्ध में ही लिखना है।

दिवाकरजी दीक्षित होने पर शीघ्र ही व्याख्यान देने लगे। और इस ओर इनकी प्रगति दिनों दिन [illegible] स्वर नामकर्म के उदय से इनकी वाणी जनप्रिय बनगई

इन्हें राजपूतों की व अन्य मांसाहारी प्राणियों की अज्ञानता पर बड़ा तरस आया। और इसीलिये इस भोली अशिक्षित धर्मान्ध जनता को सच्चा ज्ञान कराने के लिये आपने मांस मदिरा आदि के निषेध पर अत्याधिक ज़ोर दिया।

यह बात तो स्पष्ट है कि खान-पान का चरित्र पर बहुत बड़ा असर होता है। जितना ही तामसी आहार होता है वृत्तियां भी उतनी ही तामसिक हो जायगी। इसीलिये महापुरुषों ने सात्विक और सादे भोजन पर अत्याधिक ज़ोर दिया है। दिवाकरजी महाराज ने सबसे पहले अपना ध्यान खान-पान की ओर दिया। जहां कहीं भी गये इनके उपदेशों में मांस मदिरा का निषेध सर्व प्रथम था। हज़ारों अछूतों एवं मांसाहारी मनुष्यों ने आपके सदुपदेश के प्रभाव से प्रभावित हो मांस भक्षण का त्याग किया। आपके उपदेशों से मानव जाति का कल्याण तो हुआ ही साथ ही देश की बहुत बड़ी भलाई भी हुई। लाखों रुपये शराब के विदेशों में जाने से बचे। देश की माली हालत में भी इससे सुधार ही हुआ।

जहां भी आप पधारे सार्वजनिक व्याख्यानों की धूम मच गई। आपके व्याख्यानों में जैनेतर जनता ने अधिक भाग लिया। और कई व्याख्यान तो अजैनों की प्रार्थना पर ही हुए।

इन सार्वजनिक व्याख्यानों का विषय मुख्य रूपसे अहिंसा और मानव कल्याण ही रहा है। आपके उपदेश के प्रभाव से कई वेश्याओं ने अपनी कलुषित वृत्तियां छोड़दी और जैन दीक्षा ग्रहण की। जोधपुर में स्वयं मैंने अपनी आंखों से देखा कि वश्याएं नियमित रूप से आपके व्याख्यान को श्रवण करने आती थीं। और सामायिक आदि धार्मिक-क्रियाएं कर अपने पूर्व कृत पापों का प्रायश्चित करती थीं। व अन्य भी कई अजैनों ने जैन धर्म स्वीकार किया। यहां मुझे एक सच्ची घटना याद आगई है। जिसे यहां का लाभ मैं संवरण नहीं कर सकता।

हमारे गांव के एक सोनी की लड़की की सगाई एक जोधपुर के सोनी के लड़के से हुई। जोधपुर में कई सोनियों के घर दिवाकरजी के उपदेश से जैन बन चुके थे। यह सोनी भी जैन था। इसने जोधपुर से धार्मिक पुस्तक जिसमें सामायिक पच्चीस बोल मेरी भावना आदि है भेजी और कहलाया कि लड़की को यह पुस्तक सिखाई जाय। गांव के सुनार ने मुझे यह पुस्तक बताई और पूछा कि क्या आपकी कन्याशाला में यह पुस्तक पढ़ाई जायगी? लड़की के ससुराल वालों का तकाजा है। मुझ आश्चर्य हुआ और साथ में दुख भी। आश्चर्य तो हुआ जोधपुर के सोनी की जैन धर्म में प्रीति होने के कारण और दुख हुआ मुझे अपनी समाज की धार्मिक अरुचि पर। मैंने यह तो केवल एक घटना आपके सामने रक्खी है। ऐसी घटनाएं तो बहुत हैं अगर मैं उनको बताने का प्रयास करूं तो एक स्वतंत्र पुस्तक लिखी जासकती है। जोधपुर का ही एक जूता बनाने वाला मोची जो आपके उपदेश से जैनी बना था एक बरात में यहां आया था। पूज्य श्री

हस्तीमलजी महाराज उस समय यहाँ (भूपालगढ़) विराजमान थे। मोची व्याख्यान सुनने नियमित रूप से आता था। इससे तो मैं प्रभावित न हुआ। पर जब देखा कि संध्या को प्रतिक्रमण करने आया है तो मुझे उस पर श्रद्धा उत्पन्न होगई। इसलिये नहीं कि वह प्रतिक्रमण करने आया था और जैन था बल्कि इसलिये कि वह अपने व्रत नियमों में कितना दृढ़ है। एक बरात में आया हुआ मोची अपनी मंडली से अलग इस तरह धर्म किया करता पाया जाय, मेरे लिये तो आदर्श ही है। और मेरे लिये क्या सारी जैन समाज के लिये अनुकरणीय है। अस्तु। "

इस तरह अनेक अजैनों ने आपके उपदेशों से प्रभावित हो मांसाहार मदिरापान आदि अमानुषिक कुरियां त्याग दी हैं। एवं जैनी बन गये हैं। चूंकि मैं जोधपुर का रहने वाला हूँ। इसलिये मैंने यहां घटी घटनाओं का ही जिक्र किया है। और ऐसी घटनाएं तो प्रत्येक स्थान में जहां पर दिवाकरजी का शुभागमन हुआ है घटी हैं।

यह तो साधारण जनता पर किये गये उपकारों का बयान हुआ। अब जरा राजा महाराजा की ओर चलिये। ये लोग अधिकतर राजपूत हैं। और मांसाहारी हैं। जैन दिवाकरजी ने अपना ध्यान इन्हें सुधारने की ओर भी दिया है। आप जहां कहीं भी पधारे श्रावक लोग राजा महाराजाओं व अन्य बड़े २ अजैन आफिसरों को आपके व्याख्यान में लाने लगे। महाराज श्री भी समयानुकूल व्याख्यान देकर इन राजा महाराजाओं का मन आकर्षित करने लगे। राजा महाराजाओं को मुनिश्री के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई। मुनिश्री के उपदेश से बहुत से राजाओं ने शिकार करने के त्याग कर लिये। और कई राजाओं ने कुछ पर्व दिनों पर हमेशा के लिये सारे राज्य में शिकार खेलना बन्द करवा दिया। और इसी प्रकार नाना रूप में अहिंसा का आराधन करने लगे। उदयपुर के महाराणा कई बार दिवाकरजी को अपने महलों में ले गये और वहां पर आपका सार्वजनिक व्याख्यान करवाया। महारानियों ने व अन्य रनवास की महिलाओं ने भी व्याख्यान का पूरा लाभ लिया। इवाल बनेड़ा काशीथल बदनोर आदि मेवाड़ और मालवा के कई नगरों में जीव हिंसाएँ बन्द होने लगीं।

आपके सम्मान के हेतु जिस दिन आपका आगमन एवं विहार होता है। कई नगरों में एवं गांवों में अगता पाला जाता है और अब दिनों दिन इसका रूप विकसित हो रहा है। अगर मैं यह कहूं कि इन्होंने अन्य जैन साधुओं के लिए अहिंसा का मार्ग खोला तो भी अनुचित नहीं है। जैन साधुओं का जो महत्व इन अजैनों के दिल पर बैठ सका उसका बहुत अधिक श्रेय आपको ही है।

यहां इतना अवश्य कहूंगा कि जहां जैन आपका हुक्मनामें मिले हैं। और जिसमें आपके आगमन और विहार के दिन अगता पालने की धारणा है यह सब जैन मुनियों के लिए होना आवश्यक था महाराज श्री का इसके लिए विशेष रूप

से प्रयास करना चाहिए था, ताकि लोगों को यह कहने अवसर नहीं मिलता कि महाराज भी अपने ही सम्मान का ख्याल रखते हैं।

इस रूप में जो भी अहिंसा प्रचार दिवाकरजी महाराज ने किया है वह स्तुत्य है और अनुकरणीय है। इसी आशा के साथ कि दिवाकरजी महाराज घर २ प्रचार करेंगे और मानव समुदाय का कल्याण करेंगे। मैं अब अपने लेख को विश्राम देता हूं।

गुरुदेव का उपकार

लेο मंगारोतजी नवनिधि कुमारी मारग्वेड़ी

न दिवाकरजी के गुण का वर्णन करना मानव शक्ति से परे की बात है। मेरी क्या हिम्मत कि मैं आपके गुणों का बखान कर सकूं। वाणी में वह वह ओज वह आकर्षण और वह माधुर्य है कि श्रोता के दिलपर जादू का असर करता है। आप जैनदिवा कर ही नहीं विश्व दिवाकर हैं। भला ऐसा कौन अभागा होगा कि अखण्ड ज्योती विश्व विख्यात जगद्वल्लभ प्रसिद्ध वक्ता जगतगुरु का अभिनन्दन नहीं करेगा।

गुरुदेव ! मैं कहां तक आपका गुणगान करूं ! आप पारस से भी बढ़कर हैं। शरणागत को आत्मवत बनाने वाले एवं भव भ्रमण से छुटकारा कर परमपद मोक्षधाम पहुंचाने वाले हैं। विश्व वन्दनीय देव ! जब तक विश्व रहेगा आपका नाम दिवाकर की भांति देदिप्यमान होता रहेगा।

प्रभो ! मुझ पर आपने महान् उपकार किया है। मुझे अंधकार से निकाल कर प्रकाश में रक्खी है। मुझ कुपथगामिनी को सत्पथ पर लगा दिया है। जन्म-जन्मान्तर तक आपके ऋण से उऋण नहीं हो सकती।

अहिंसा के पुजारी ! आपने दुनिया को अहिंसक बना दिया, मानव जाति को घोर नर्क में गिरने से बचा दिया उद्धार कर दिया और धर्म का स्वरूप बतला दिया है।

देव ! 'निग्रन्थ प्रवचन ग्रन्थ का अनुवाद करके आपने जनता के लिये ज्ञान का भंडार खोल दिया। नवतत्वों का सार कर्म बन्धन से छुटकारा और मोक्ष प्राप्ति आदि का ऐसा सुन्दर विवेचन अन्यत्र नहीं मिलेगा। हे देव ! पतितों को पावन बनाने के लिये अमोघ साधन यह ग्रन्थ मानव जाति को आपकी अमर देन है।

गुरुदेव ! जगहित के लिये जुग २ जीवो ! मैं आपका हार्दिक अभिनन्दन करती हूँ।

पद्य–खंड

एवं

शुभ सन्देश

जैनाचार्य्य जैनधर्म दिवाकर पूज्यश्री घासीलालजी महाराज विरचितम्
प्रसिद्धवाग्मि जगद्वल्लभ पण्डितप्रवर जैनधर्म दिवाकर मुनि
श्री चोथमल्लजी महाराजाष्टकम्

(१)

श्रद्धाभित्ति-सुभावना दृढतर स्तम्भ मणीते शुभे
 शीलाच्छ समिति मभक्षनपथे गुप्त्याम्य्यसच्छादने ।
आसीनं सुविवेकदीप लसिते चारित्रगेहे सदा
 वन्दे जैन दिवाकरं मुनिवर 'श्रीचोथमल्ल' मुदा ॥

सम्यक्त्व भीत पचीस सुन्दर भावना सुस्तम्भ हैं,
शुचि कोमल भवन है गुप्ती धवितानारम्भ है ।
विवेक दीपक समिति-खिड़की संयमालय में बसे
पूज्य मुनिवर चोथमल्ल पदाम्बुजों में नति लसे ॥

(२)

पापौघं विनिहन्ति यच्छ्रति शुभं यद्दर्शनं भूतले
 सम्यक्त्वादिगुणं परं हितकरं पुष्णाति यद्देशना ।
यन्नाम श्रवणेन हृष्यति मनो लोकस्य तं भास्वर-
 वन्दे जैन दिवाकरं मुनिवरं 'श्रीचोथमल्ल' मुदा ॥

दरस जिनका पापनाशक शुभ विधायक है तथा
सम्यक्त्वगुण-शिवदायिनी है देशना सुरतरु यथा ।
नाम जिनका चित्तहर्षक सुमरते उद्भवन बसे
पूज्य मुनिवर चोथमल्ल पदाम्बुजों में नति लसे ॥

(३)

एतस्यद्भुतनरस्य शुभ्रमहिमा लोकेषु संगीयते
 मत्येऽत्र मनिमग्न निर्मलधिया ध्यात्वा तदीय गुणम् ।
योऽपि उत्तम सम्पदाद्य इह मोक्षमते तं यतं-
 वन्दे जैन दिवाकरं मुनिवर 'श्रीचोथमल्ल' मुदा ॥

इन पूज्यवर की शुभ महिमा लोग सब हैं गा रहे
हरएक पद में स्वच्छमति से १गुणरत्नोदधि में बहे ।
जो २चर-सुरद्रुम भासते हैं तप कसौटी पर कसे
पूज्य मुनिवर चोथमल पदाम्बुजों में मति लसे ॥

(४)

मोक्षैश्वर्यसमर्पकं हितकरं धर्मं भुवि स्थापयन्
भव्याम्भोजचयं सदा मधुरया वाचा समुल्लासयन् ।
धर्मध्यान परायणो मुनिपतिर्यः शोभते च हृदा
वन्दे जैन दिवाकरं मुनिवरं 'श्रीचोथमल्लं' मुदा ॥

मोक्ष और विभूति दाता—धर्म संस्थापक यमी
मधुर वाणी से जनों को हृष्ट करते हैं तभी ।
धर्म चिन्तन में परायण हृदय में सबके बसे
पूज्य मुनिवर चोथमल पदाम्बुजों में मति लसे ॥

(५)

तत्त्वातत्त्व विवेक हंस निपुणो निर्वाण कामस्पृहः
स्वानन्दं जनयत्यमन्दमसकृद्भव्याय नित्यं नवम् ।
अर्हच्छासनकञ्जभानुरिह वै व्याख्यान वाचस्पतिं
वन्दे जैन दिवाकरं मुनिवरं 'श्रीचोथमल्लं' मुदा ॥

अतत्त्व-तत्त्व स्वरूप नीर—क्षीर विलगन हंस हैं
मुक्तिकामी भविजनों के मन ३विभाविवतंस हैं ।
जैनशासन-कमलरवि व्याख्यान में सुरगुरु जसे
पूज्य मुनिवर चोथमल पदाम्बुजों में मति लसे ॥

(६)

भव्यानां भवकोटिसञ्चितमघं सर्वं क्षणात्संहरन्
कारुण्याम्बुधि वीतराग भगवद्धर्मोपदेशं दिशन् ।
तेषां मोक्षपथ प्रबोधकतया योराजते यं सदा
वन्दे जैन दिवाकरं मुनिवरं 'श्रीचोथमल्लं' मुदा ॥

---

१ समुद्र २ कल्पवृक्ष ३ शिरोभूषण ।

भव्यजन के कोटि अनिष्ट पाप क्षण में नाशते
वीतराग दयामहोदधि वीरधर्म प्रकाशते ।
मोक्ष मार्ग उन्हें दिखाने के लिए हैं कटि कसे
पूज्य मुनिवर चौथमल पदाम्बुजों में मति लसे ॥

(७)

यत्स्वान्त विमलं दयार्द्रमृदुलं कर्पूरपुञ्जोज्ज्वलं-
यद्भाषा मधुरा सदा शुभकरा पीयूषधारापरा ।
यद्देहः सुरशाखिनश्च समतां धत्ते हि स सर्वदा
वन्दे जैन दिवाकर मुनिवर 'श्रीचौथमल्ल' मुदा ॥

जिनका हृदय अतिशय दया से आर्द्र कोमल धवल है
वाणी सुधा से भी मधुर शुभकारिणी नित विमल है ।
देह सुरतरु तुल्य दर्शक के निरखते भव भरे
पूज्य मुनिवर चौथमल पदाम्बुजों में मति लसे ॥

(८)

ग्रामग्रामनेकदेशमतुलं क्षेमाय वर्त्तं चरन्
श्मारं स्मारमसारतां च जगतो नन्दन् परं स्वात्मनि ।
हारंहारमपारमोह मनिशं यो भासते स मुद-
वन्दे जैन दिवाकर मुनिवरं 'श्रीचौथमल्ल' मुदा ॥

जनता कुशल के हेतु देशों में पधार सुसार को
उपदेश करते आत्म में रमने समझ संसार को ।
अपार मोह [1]अन्धकार को हैं दूर करते [2]प्रमल से
पूज्य मुनिवर चौथमल पदाम्बुजों में मति लसे ॥

(९)

स्तोत्रं विविधममल कथिराधारम
यद्यासिलालमुनिना रचितं विशुद्धम् ।
भक्त्या पठेदनुदिनं किल मानवो यः
स विमलव लभते परमार्थसिद्धिम् ॥

१ तिमिर २ प्रकाश ।

यतिप्रिय चाँदीलाल ने सुन्दर अमल स्तव है रचा
अनुराग से पढ़ते उसे आनन्द रहता है मचा।
भवसिन्धु से जो चाहते हैं पार होना तुरत ही
हरएक दिन इसको पढ़ें वे मुक्त होंगे सहज ही॥

॥ इति श्रीचौथमलजी महाराजाष्टक सम्पूर्ण ॥

श्री महाराज चौथमलजी

स्नेहीजी–कानपुर

(१)

जिन राग-भक्ति और
निज आत्म-शक्ति द्वारा
मोक्ष की समस्या है,
सहज ही में हल की।
नगर — नगर में
अहिंसा का प्रचार कर,
सब को ऊँचाई है
महत्ता तप—बल की।
शास्त्र के मनन और,
दिव्य आचरण से है
दिवाकर — छवि
मुनि राज में है झलकी।
गाई जन — जन ने
सुहाई कीर्ति चारों ओर।
कहाँ तक कीजिए,
बड़ाई चौथमल की॥

(२)

बरस पचास
जप—तप में बिताये और
मोक्ष के कठिन प्रश्न
किये बैठे हल हैं।
प्रण बालपन ही से,
तप का है ठान लिया
आज तक उस पे
अटल — अविचल हैं।
त्याग का महत्व
और उपकार—तत्व ज्ञान
जीवन का सत्य
और सारे आत्म पक्ष हैं।
मुनिराज कोई
कोई कहता दिवाकर है
ज्ञानी सिरताज
महाराज चौथमल हैं॥

(३)

छोड़े पुरजन और कुटुम्बी—
छोड़ अपना घर छोड़ा
किन्तु—मुनि पथ पर,
चलने का कभी नहीं अवसर छोड़ा

लोक हितार्थ सैकड़ों योजन
नंगे पैरों चलते हैं
कभी ठिठुरते हैं पाले में,
कभी धूप से जलते हैं।
मुख-वस्त्रिका सुशोभित मुख पर,
और सुबुध "ओघा" कर में
अपने शिष्यों सहित,
भ्रमण करते फिरते भारत भर में।
दिन हो या रात ज्ञान की
चर्चा हरदम रहती है।
या फिर जिनवर के चरणों में
चित्त-वृत्ति रम रहती है।

यों ही आधी सदी बिताई,
कहते धर्म-कथाओं को
और दूर करने में लगते
हिंसक निंद्य प्रथाओं को।
पण्डित प्रवर और मुनि ज्ञानी,
सचमुच जैन दिवाकर हैं
जप तप नियम और,
संयम शमदम के भी यह आकर हैं।
हो शतायु क्या सहस्रायु
हों, घर घर ज्ञान प्रकाश भरें।
मोक्ष मार्ग सबको दिखलावें
और मोह—तम नाश करें॥

—o—o—

अन्तर-लालसा

लेखक—नवरत्न पण्डित गिरिधर शर्मा, झालरापाटन

जो अति निर्मल परम ज्योति है मुक्ति मार्ग का नेता है
अनुपम अनन्त शक्तिशाली है कर्म मात्र का भेत्ता है।
जो है विश्वतत्त्व का ज्ञाता जगवाणी जिसकी वाणी
उसको उसके गुण पाने को नमकर मैं कोई प्राणी ॥ १ ॥

सद्गुरु ही हैं मेरे तो प्रभु तीर्थ देव आदर्श सभी
उनका अनुगामी होने में मैं रक्खूं न प्रमाद कभी।
है समस्त गुण उनके उनको सब प्रकार उर धारूँ मैं
एक यथार्थवादिता पर ही सर्वस्व अपना वारूँ मैं ॥ २ ॥

सुखमय सत्पथ में पाऊँ, सच कहूँ, हिंसा न करूँ
दूर रहूँ सब विष वाणी से मोह परिग्रह का न धरूँ।
क्षमा-शील बन जाऊँ उर में स्थान क्रोध को कभी न दूँ
तेरी मेरी में न पड़ूँ त्यों ममता निज हिय से मारूँ ॥ ३ ॥

चलना-फिरना पड़े मुझे तो सावधान हो चलूँ फिरूँ
जाऊँ जहाँ अहोरात कुछ भी जीवों का उपकार करूँ।
नहिं तो निज आसन पर स्थिर हो मन में दृढ़ विचार भरूँ
आत्म भाव में लीन रहूँ त्यों परभावों का भार हरूँ ॥ ४ ॥

हमारा जैन-धर्म

सत्यप्रेमी पं. सूरजचन्द डाँगी बड़ी सादड़ी (मेवाड़)

हमारा जैन धर्म गुण धाम !
परम अहिंसा का प्रतिपादक, सुखका सत्य विधान !
हमारा जैन-धर्म गुण धाम ॥ ध्रुव ॥

सम्यग् दर्शन-ज्ञान-आचरण कहा मुक्तिका द्वार।
संयम तप सेवा बतलाया विश्व शांतिका सार ॥

श्रमण संस्कृति को दे आधार,।
कर्म-काण्डों में किया सुधार।
क्रूरता का करके संहार
सिखाया सब प्राणों पर प्यार ॥

कर्म-चेतनामें समझाया सरल भेद-विज्ञान ॥
हमारा जैन-धर्म गुण-धाम ॥ १ ॥

त्याग और वैराग्य-भावमें समझ जगत का त्राण।
वीतरागता ध्येय बनाया जीवन का कल्याण ॥

शरण्य उत्कृष्ट सिद्ध भगवन्त
हमारे व्यक्ति देव अर्हन्त।
सु-गुरु निर्ग्रंथ उपशम संत
दयामय धर्म—पंथ सुखवन्त ॥

परमाधार चतुर्मंगल हैं शिवमय मोक्ष-निधान ॥
हमारा जैन-धर्म गुण-धाम ॥ २ ॥

निर्गुण-सगुण-जिनेश्वर-पाठक और साधु-सरदार।
जगमें व्याप्त समस्त सत जन परम इष्ट सुखकार ॥

हमारा महा-मंत्र सुख-धाम
अनवरत अवलम्बन अभिराम।
किया करते हम नित्य प्रणाम,
हृदय पाता विशुद्ध विश्राम ॥

विघ्न-विनाशक-सब मंगलमय पंच नमस्कार ध्यान ॥
हमारा जैन धर्म गुण-धाम ॥ ३ ॥

राग द्वेषकी ग्रंथि भेदकर दूर किया दुर्भाव।
छोड़ा जब मिथ्यात्व दुराग्रह मिला सत्य-सद्भाव ॥

सीख कर प्रथम धर्म सागार,
लिए फिर पंच महाव्रत धार।
हटाए सब प्रमाद—व्यवहार,
पूर्ण संयमका पाया सार॥
निर्विकार बन दूर हटाया क्रोध-लोभ-छलमान॥
हमारा जैन धर्म गुणखान॥४॥

विविध नयोंका द्वन्द्व देखकर, बना मनुज दिग्भ्रान्त।
सनिरपेक्ष स्याद्वाद् सिखाकर दूर किया एकान्त॥
द्रव्य-पद व्याप्त सदा स्वायेक
किन्तु पर्याय अनेकानेक।
मिटाई शुभ-अशुभ की टेक
कहा पाखंड सदा अतिरेक॥
शुद्ध समन्वय-शक्ति बताई सद् विवेक पहिचान॥
हमारा जैन धर्म गुण-खान॥५॥

वर्ण व्यवस्था, या जन नाम पर फैले अत्याचार।
आत्म शुद्धि के निर्मल बलसे उन पर किया प्रहार॥
युद्ध भी रहा दया का अंग
कभी हो सका न संयम भंग।
पड़े आकर जब कठिन प्रसंग
बताया उचित धर्म का ढंग॥
सप्त भंगियों का विश्लेषण सत्य उदार महान॥
हमारा जैन धर्म गुण-खान॥६॥

सभी धर्म जग में महान् हैं प्रेम सभीका प्राण।
सबने समय-समय पर आकर किया लोक कल्याण॥
किन्तु हम बने रूढ़ि के दास
हृदयमें हुआ दम्भका वास।
द्वेष-अवसाद-मोह-उच्छ्वास,
हमारे पास अन्ध-विश्वास॥
सत्य प्रेमके 'सूर्य्य-चन्द्र' की ज्योत्स्ना हो फि विहान॥
हमारा जैन-धर्म गुण-खान॥७॥

गुरुदेव के प्रति, श्रद्धाञ्जलि

लेखिका—श्री मायावती जैन, प्रभाकर, लाहौर (पंजाब)

जय जय गुरुवर ! जय जय महान् !!

वैभव सारा त्यागा तुमने,
बाधाओं की परवाह न की
किया पंच महाव्रत को धारण
ऐहिक सुख की कुछ चाह न की
तुम हो शांति के प्राण त्राण।
जय जय गुरुवर ! जय जय महान् !!

अनुराग का दीपक कर में ले
अहिंसा की अलख जगाई
ओ श्वेताम्बर ! तेरे पथ में
श्वेत पताका लहराई
है कीर्ति तपीके महापान।
जय जय गुरुवर ! जयजय महान् !!

सुनकर के तेरा सिंहनाद
नृप राजों ने हिंसा-त्यागी
दुर्गम चट्टानों का अन्तर
पाषाणों में करुणा जागी,
हे माता के अभिमान-गान।
जय जय गुरुवर ! जय जय महान् !!

श्री जिनवाणी रस को तुमने
है प्रेम—नीर बरसाया है
शाखायें पल्लव-युक्त बना,
सुमनों से उन्हें सजाया है
हे तेजस्वी ! हे प्रभावान् !
जय जय गुरुवर ! जय जय महान् !!

वसुधा के भाग्य विधाता रे !
तेरा मुनि जीवन धन्य धन्य
पर दुःख हरण को ही सदैव
करता है तव मानस चिन्तन
अतिशय अनन्त हे शीलवान् !
जय जय गुरुवर ! जय जय महान् !!

ओ महावीर के अग्रदूत !
तूने भ्रम-तिमिर हटाया है
ओ दुर्गम पथ के पथिक महा
जग का पथ सुगम बनाया है,
हे पूज्य पाद ! हे दयावान !
जय जय गुरुवर ! जय जय महान् !!

शान्ति का रविका चिर भावी हो
जगती को दे आलोक दान
तेरे हजार हीरक-उत्सव
आयें गायें तव गुण महान्
हे समदृष्टि ! हे धैर्यधाम।
जय जय गुरुवर ! जय जय महान् !!

卐

जैन के दिवाकर

लेखक-सोहन मुनि

ए जैन के दिवाकर रोशन है नाम तेरा।
देखा है हर बशर के लब पे है नाम तेरा ॥
है धन्यवाद उसको तुझ-सा पिसर है जन्मा।
खुशियाँ हुई निहायत करके दीदार तेरा ॥ १ ॥
कर गर्जना बबरसी देता है जब तू भाषण।
कसरत प्रभाव होते सुनकर कलाम तेरा ॥ २ ॥
गर्दे गिर्द करते जबतक शम्सो कमर जगत का।
तबतक रहे अटल यह सुयश कलाम तेरा ॥ ३ ॥
तारीफ क्या करें हम ताकत नहीं जबाँ में।
खिदमत करे फरिश्ता बनकर गुलाम तेरा ॥ ४ ॥
हो महरबाँ भँवर से किश्ती को पार करदे।
हो दस्त बस्त सोहन करता सलाम तेरा ॥ ५ ॥

जय श्री जैन दिवाकर

दुग्धनारायण शास्त्री, जैन गुरुकुल ब्यावर

धर्म-गगन के पूर्णचन्द्र ओ! प्रेम-सिन्धु करुणाकर।
सुना रही तव यशोगान वाणी वीणा पर गाकर ॥
दान किया जिज्ञासु जनों को सूक्ति-सुधा बरसाकर।
धन्य हुई है जैन जाति तुम जैसा गुरुवर पाकर ॥
मारवाड़ मेवाड़ मालवा युक्तप्रान्त भी जाकर।
महाराष्ट्र गुजरात काठियावाड़ भूमि सरसाकर
मुग्ध किया है जनता को गुण वीर प्रभू के गाकर।
बने मार्ग दर्शक सुजनों के धार्मिक ज्योति जगाकर ॥
भारतीय भूपालों को अनुपम उपदेश सुनाकर।
पृथक किया हिंसादिक पापों को अवगुण समझाकर ॥
सम्प्रदाय के कर्णधार मुनियों के पुण्य-प्रभाकर।
दिव्य-दीप साहित्यकला के गुणरत्नों के आकर ॥
अभिनन्दन मुनिराज आपका करते हैं हर्षाकर।
जय जय जय श्री चौथमलजी जय श्री जैन दिवाकर ॥

जैन दिवाकर है

पावस में फूल खिले कानन सुवासन के
'विमल' कमल पाय सुरभित सर हैं
मन्द-मन्द चन्द चारु चमकै गगन माँहि
अति ही अगम अम घन तारा वर हैं
आयो है सिसिर फिर जड़ और चेतन थिर
मन मोद भरे सुखी चारों ओर नर हैं
माघ मास माँही मानों भावक सरोज वन,
मौज भर मौज रवि जैन दिवाकर हैं।

जुग-जुग जीवो जैन दिवाकर

पुण्य प्रताप सदा प्रसरे-तप ज्ञान—
कथा को कहे दुनियाँ भर
लोकन में अरु लोकन में
थिर होवे महीतल में सुचराचर
होत रहे उजियारो सदा अति
प्यारो हमारो रहे निशि वासर,
कर जोरि विनती करैं प्रभु सों
जुग-जुग जीवो सदा श्री जैन दिवाकर।

जयन्ति दिवाकर की

चमकै 'प्रियचन्द्र' की चन्द्रिका री
सुषमा सरसानी मनो सर की
छवि देखत ही जु बने री भली
चहुँ ओर की भी घर बाहर की
अवलोकि के लोकन रूप-छटा
उर की गति ये धरकी—धरकी
मनभाई सुहाई सुभाइ भरी
सजनी सुजयन्ति दिवाकर की।

तीर्थ धनि आयो है

धन्यो मुनि सुनी-सुनी गुनी दुनी-प्राणियों ने
अमित आनन्द मन अति सुख पायो है,
ज्ञान जोत को प्रकाश होत मादि मण्डल में
'विमल' चन्द्रिका समान जाको जस छायो है
सुष्टि-अहलाद प्रिय प्रजा को परम पद
सद्ज्ञान को प्रदीप निज मग में लायो है
भव-पार तारन को पाप भार मारन को
कलि में गुरु चौथमल तीर्थ धनि आयो है।

श्री विमल मुनिजी

तीर्थ धनि आयो है

धन्यो मुनि सतयुग में भक्त भगवान को
जाहि धनधाम भाम त्यागा धर्म गायो है
'चन्दन' कहैं कि पुनि त्रेता में धन्या है ज्ञानी
धर्म शास्त्र नीति सों समाज यों लगायो है
द्वापर में धन्यो मग्न-सुरसदार मदन का
सग सदुपदेश को अमरित फल लायो है
ज्ञान गुण सागर, गुनागर उजागर
कलि में गुरु चौथमल तीर्थ धनि आयो है।

जैन दिवाकर है

पापियों के पाप आततायी-अभिशाप सब
दूर करने को लेते जन्म प्रभुवर हैं
गिरि-गण मदने को वज्र इन्द्र का है और,
नदी-गण भाता हित अनेकानेक सागर हैं,
ग्रीष्म के ताप तप्त जग का शीतलकारी
'चंदन' चंद्रमा है जो छवि-सुखकारी है
अज्ञान अन्धकार-तम नष्ट करने के काज
आज-कल सूर्य सम जैन दिवाकर हैं।

श्री चन्दन मुनि जैन विशारद कृत

नूतन-उपहार

लेखक :—मुनि श्री जेठमलजी महाराज "अशोक" साहित्यरत्न

अनुपम यह नूतन उपहार
जैन धर्म के अंग अंग में करते नव जीवन संचार

जीवन के इस काल रूप का
पूर्ण विकास न होपाया
माँ की आत्म प्रेरणा ने यह,
सिखलाया तज दो माया
है यह अस्थिर जग संसार।
अनुपम यह नूतन उपहार ॥१॥

रत्न जवाहिर की सुषमा विच
ज्योति पुंज गुरु हीरालाल
उनके बीच सुशोभित होते
पुण्य पुंज श्री केशर-लाल
माँ का सफल हुआ मृदु भार।
अनुपम यह नूतन उपहार ॥२॥

अपनी प्यारी निधिको माँ ने
सौंप दिया गुरुको सोल्लास
गुरुने उन्नति की आशा से
रखे संघ में दिया सु-वास
सफल है सीमों का व्यवहार।
अनुपम यह नूतन उपहार ॥३॥

जैन जगत के काव्य कोष में
मिथ्या तम का छाया राज
'जैन दिवाकर' बनकर मुनिने
आलोकित किया जैन समाज
दूर हुआ तमका विस्तार।
अनुपम यह नूतन उपहार ॥४॥

सेवा से प्रेरित हो हम सब
गूंथ रहे आशाओं के तार
तुच्छ भेंट यह अर्पित करते
हो कर कमलों में स्वीकार,
बने 'अशोक' जैन संसार।
अनुपम यह नूतन उपहार ॥५॥

-अभिनन्दन-

हो जिन शासन के ताज गुरु महाराज बड़े उपकारी मैं बार २ बलिहारी प्रभुवर॥

घरबार से नाता तोड़ दिया
पत्नि तक को भी छोड़ दिया।
भर यौवन में दुनिया को ठोकर मारी॥
जिस ओर भी गुरुवर जाते हैं
कलि काल में सतयुग लाते हैं।
दर्शन को आते कोड़ २ नरनारी॥

लाखों में एकही साधू हैं
वाणी में अद्भुत जादू है।
कर दिये सैकड़ों धर्म अहिंसाधारी॥
"केशर' कहाँ तक गुणगान करूं,
जितना थोड़ा अभिमान करूं।
अभिनन्दन है जय होवे देव तुम्हारी॥

दिवाकर-स्तुति

लेखक—सा० र० मोक्षचन्द्र जैन 'चन्द्र' न्यायतीर्थ

धर्म धुरन्धर धर्मशील हे पूज्य दिवाकर ।
अमित तेज हे पंचमहाव्रत गुण रत्नाकर ॥
कष्ट अनेकों सहे सदा परहित साधन में ।
जीवन अर्पित किया धर्म के आराधन में ॥

हे धीर वीर ! हे क्षमासिन्धु ! विघ्न अनेक आते रहे ।
किन्तु दृढ़ता धीरता से विजय सदा करते रहे ॥

कर गृहस्थी का त्याग दृढ़ संन्यास लिया है ।
हो मध्यभाव से मुक्त ममत्व का त्याग किया है ॥
जीव चराचर प्राणि मात्र को है अपनाया ।
धर त्याग अभिमान छोड़ बंधुत्व सिखाया ॥

हे त्यागवीर ! दृढ़ त्याग का मार्ग हमें दिखलाइए ।
हे धर्म वीर ! सद्धर्म का मार्ग हमें बतलाइए ॥

स्याद्वाद का भेद बता मत भेद मिटाया ।
प्राणिमात्र को तुल्य बता अन्याय मिटाया ॥
आमिषाहारी लोगों को सद्मार्ग बताया ।
हिंसक वृत्ति त्याग करा मनुजत्व सिखाया ॥

हे वीतराग ! हे गुणधर ! महिमा अमित अपार है ।
अर्पित तुम्हारे चरण पे यह दीन बारंबार है ॥

वर वाणी से प्रेम स्रोत है सदा बहाया ।
प्रेम शक्ति से जीत हृदय को है हरषाया ॥
करुणा का कर भाव सदा अमृत बरसाया ।
भक्तजनों के शुष्क हृदय को सरस बनाया ॥

हे पूज्य मुनि ! युग युग जियो जिससे जग का त्राण हो ।
'चन्द्र' करे शुभ कामना सदा जग कल्याण हो ॥

गुरु महिमा !

गौरीलाल गुप्ता, कोटा

गुरुवर ! गूढ़ ज्ञान के ज्ञानी
समझ चुके संघर्ष जगत का, अचल एकता जानी।
भेद भरी तम प्रबल अविद्या सदा पिया पहिचानी ॥
मुनिवर ! गूढ़ ज्ञान के ज्ञानी !
जीव जगत में तीन गुणों की महिमा अकथ कहानी।
पुनर्जन्म की तरतमता को करती पानी पानी ॥
गुरुवर ! गूढ़ ज्ञान के ज्ञानी !
वाणी सिद्ध प्रभावित जगको, करदेती मस्तानी।
देश धर्म भू काल दिशायें मारुत व्योम गुँजानी ॥
मुनिवर ! गूढ़ ज्ञान के ज्ञानी !
जैन जगत के प्रखर दिवाकर चौथमल गुरु ज्ञानी।
जीवन मुक्त महान आत्मा अमित ज्ञान के दानी ॥
गुरुवर ! गूढ़ ज्ञान के ज्ञानी !

शुभ कामना

मंगल मूल अमंगल नाशक शान्तिनाथ स्वामी सुखमूल।
देव ! रहो अनुकूल हमारे दूर करो हिंसा अघ-शूल।
पूज्याश्रम चित्तौड़ अथक हो जीव जीव सम भोगे भोग।
जाति पाँति मत पंथ बिसार सभी जैन मिल दें सहयोग ॥
दानी ज्ञानी बनें सहायक कर कुबेर मद चकनाचूर।
आश्रम वृक्ष जैन का होवे ज्ञान द्रव्य से अति भरपूर ॥
शुद्ध वायु जल रवि प्रकाश पा फूले फले ज्ञान विज्ञान।
हो प्रचार सात्विक विद्या का पैदा करे परम विद्वान् ॥
अंग उपांग शास्त्र जिनवाणी ललित काव्य साहित्योत्थान।
शुभ शृंगार करे वाणी माँ रचित ग्रंथागार महान ॥
राग द्वेष से रहित आश्रमी सत्यवान् प्रिय धर्म प्रधान।
मृदु भाषी अरु परम साहसी आत्माऽन्वेषी सदय सुजान ॥
नीति विशारद पर हितकारी चलें न किंचित टेढ़ी चाल।
लड़ें न तनिक अनिश्चित सम सब हिलमेल से रहें सम्हाल ॥
पूज्याश्रम में धर्मोन्नति हो दीखपड़े सतयुग सा काम।
जैन ध्वजा ऊँची हो लहरो कलियुग की न गले फिर दाल ॥

अहिंसा

मचा संग्राम है जग में अहिंसा और हिंसा का।
बजेगा जीत का डंका अहिंसा का न हिंसा का ॥ १ ॥

हजारों वार होते हों चलेंगे पथ फैलाये।
उड़ायेंगे जगत भर में विमल झंडा अहिंसा का ॥ २ ॥

डरें क्या अस्त्र-शस्त्रों से झुकें क्या अस्त्र-शस्त्रों को।
हमारा राष्ट्र ही अब है स्वयंसेवक अहिंसा का ॥ ३ ॥

बिना जीते महारण के न जीते जी टलेंगे हम।
तजेंगे क्यों न तिलभर को कभी रस्ता अहिंसा का ॥ ४ ॥

भले पालेमियाँ चल-चल हमें कोई भुलाये हैं।
भुलावों में न आयेंगे सिखा विक्रम अहिंसा का ॥ ५ ॥

न हम नापाक खूं से रे रंगेंगे पाक हाथों को।
हमारा खून होता हो सुयश होगा अहिंसा का ॥ ६ ॥

कभी भी जंग न छेड़ेंगे जहाँ में शान्ति भर देंगे।
सिखादेंगे सबक सबको अहिंसा का न हिंसा का ॥ ७ ॥

हमारे दुश्मने जानी भी होंगे दोस्त बस आ के।
कहेंगे सर झुका के यों बतादो गुर अहिंसा का ॥ ८ ॥

समझा है न दुनिया में निशां भी हो गुलामी का।
सभी आज़ाद हों जो में बजे डंका अहिंसा का ॥ ९ ॥

श्री जैनदिवाकराष्टकम्

लेखक—नन्दलालजी मारू, इन्दौर

यस्मिन्कृती दुष्करमस्ति त्यागो स्त्रियश्च प्रेमास्पदयोश्च पितृणाम् ।
मुमुक्षुणा चौथमलेन सर्वाः वैराग्य भावेन मुदेन त्यक्ताः ॥ १ ॥

अहिंसातपो ब्रह्मचर्यादियुक्तं गुरुप्रसादाच्च निशम्य धर्मम् ।
मत्वा जगज्जालकजालयुक्तमात्मोदयाय बभूव साधुः ॥ २ ॥

'मुंडे भविता' कृताऽथोपसेवा गुरोर्वचोभिर्मनसा च कायया ।
तुष्टो गुरुस्त्वाशिषमाददौ यत्प्रसरोऽतु कीर्तिस्तव दिग्दिगन्तरे ॥ ३ ॥

पाथेयमाशीर्वचनं गुरूणाम् स गृह्णमानो विचचार देशाम् ।
समरावतांश्च राज्ञः कियन्तान् धर्मोपदेशेन वशीचकार ॥ ४ ॥

धर्माभिमुखमूलनताधिपास्ते गुरुत्वशिष्यायां समर्पांश्च वेविरे ।
धर्मस्य पर्वेषु दिनेषु, हिंसानिवृत्तिलेखाः धत्तिमिषिवद्धाः ॥ ५ ॥

वयःस्थविरता मुनिना तु प्राप्ता हीरकजयंतिः समयोऽस्य जाता ।
दीक्षा शताब्दपर्यन्तपालिता स्वर्णोत्सवो यस्य विधीयते च ॥ ६ ॥

विरलाः अमरत्वमभीप्स्यन्ति विरलाः गृहीत्वा परिपालयन्ति ।
विरलाः निजानीह महोत्सवानि हीरकसुवर्णानि विलोकयन्ति ॥ ७ ॥

उपाध्यायः जैन दिवाकरश्च प्रसिद्धवक्ता जनवल्लभश्च ।
सार्थाः प्रवृत्ता जनतासमूहैस्तस्मै वयं चाभिनन्दामहे च ॥ ८ ॥

श्रीचौथमलगुरोर्दीक्षे स्वर्णजयन्त्युत्सवे ।
नन्दलालमारुणाऽर्पितं दिवाकराष्टकम् ॥

सन्देश

मुनि श्री जैन दिवाकरजी म सा की शासन प्रभावना और सघ सेवा को देखकर दिल फूल उठता है। हृदय में प्रमोद की भावनाएँ तरगित हुआ करती हैं। सचमुच हमारे साधुमार्गीय समाज का सौभाग्य है कि ऐसे प्रभावशाली मुनि रत्न मौजूद हैं। 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' सरीखे ग्रन्थ का सम्पादन करके मुनिराज श्री ने जैनेतर बन्धुओं पर भी बड़ा भारी उपकार किया है।

पूज्य श्री आनन्द ऋषिजी महाराज

जैन दिवाकरजी के प्रति श्रद्धा

मैं श्री महात्मा चौथमलजी महाराज का अनन्य भक्त हूँ। और महात्माजी की मुझ पर असीम कृपा है। मैं क्षत्रिय जागीरदार हूँ। धर्म ग्रन्थों का तो मैं ज्ञाता नहीं हूँ। पर धर्म के प्रति मेरी जो रुचि एवं भावना है उस सबका श्रेय महात्माजी को ही है।

आपका अनन्य भक्त—
राव जगन्नाथसिंह झाला
ठिकाना रायपुर (होल्कर स्टेट)

स्थानकवासी सम्प्रदाय के महान् आचार्य श्रीमान् चौथमलजी महाराज के साथ मेरा परिचय हुआ है। हम लोगों ने किसी–किसी समय साथ में भी व्याख्यान दिये हैं। दिल के उदार, समय को पहचानने वाले, विद्वान् और अच्छे वक्ता, ऐसे श्री चौथमलजी महाराज की हस्ती जैन धर्म और जैन समाज के लिए भूषण रूप है। उनको "अभिनन्दन ग्रन्थ" अर्पण करने का जिन महानुभावों ने आयोजन किया है वे सचमुच धन्य वाद के पात्र हैं। विद्वानों के समाज में उनकी योग्य कद्र करना यह विद्वत्-प्रेमियों का कर्त्तव्य है। मैं इस आयोजन के लिए फिर से धन्यवाद देता हूँ और इस कार्य की सफलता चाहता हूँ।

शिवपुरी (ग्वालियर) मुनि श्री विद्याविजयजी महा

अभिनन्दन गुरुदेव तुम्हारा !

गुरुदेव के करकमलों में अभिनन्दन ग्रन्थ अर्पित करने की योजना से अपार प्रसन्नता हुई । गुरुदेव के जैन जाति पर किये गये उपकार स्थानकवासी जैन समाज के इतिहास में अमर रहेंगे । दर्शन, ज्ञान, एव चारित्र्य की प्रतिमूर्ति ! आप का यश दिग्दिगन्त में लहरे तथा आपके द्वारा समस्त जैन जाति का कल्याण हो । आप शतायु हों एव हमारे हृदयों को आपकी मधुर वाणी सदैव शीतल करती रहे ।

अकिंचन
चांदमल मारू
स्वागत मंत्री
श्री स्वर्ण जयन्ति महोत्सव, चित्तौड़गढ़

जैन जाति के नेता जय हो !

स्वर्ण जयन्ती मनाते हुए अभिनन्दन ग्रन्थ रूपी साहित्यिक अनमोल निधि गुरुदेव के कर कमलों में अर्पण करना वास्तव में वन्दनीय प्रयत्न है । इस प्रयत्न के मूल में समाज द्वारा गुरुदेव के प्रति प्रकट किये गये सम्मान की प्रतिष्ठा एवं ऐतिहासिक अनमोल सामग्री का निर्माण है । ऐसे ग्रन्थ रत्न का महत्व स्थानकवासी समाज में अनुकरणीय होगा । हृदय की शतशत आकांक्षाओं के साथ मेरी शुभ कामनाऐं हैं कि यह ग्रन्थ–रत्न विद्वत् समाज में आदर की वस्तु हो, एव गुरुदेव के यश रूपी आलोक को दिवाकरवत् उद्भासित करे ।

विनीत
सौभाग्यमल कोचेटा, जावरा